हरिऔध और उनका साहित्य

[हरिऔध जी के जीवन और उनके संपूर्ण साहित्य का आलोचनात्मक विवेचन]

ग्रन्थकार

श्री मुकुन्ददेव शर्मा, एम० ए०, एम० एड०,

आचार्य

खेतान कॉलेज, लक्ष्मीगंज, देवरिया



प्रकाशक

हिन्दी-साहित्य-कुटीर

बनारस-१

(वाराणसी)

प्रथम संस्करण } शिवरात्रि, संवत्, २०१३ { मूल्य ७)

प्रकाशक
हिन्दी-साहित्य-कुटीर
बनारस – १
(वाराणसी)

मूल्य ७)

मुद्रक
के० कृ० पांवगी,
हितचिन्तक प्रेस,
रामघाट, वाराणसी-१.

समर्पण

अपने जीवनादर्श, भरत सदृश

भ्रातृ-निष्ठ 'हरिऔध'-अनुज

पूज्य पितामह

श्री गुरुसेवक उपाध्याय जी

को

उनकी असीतम वर्ष-ग्रंथि के

अवसर पर

सादर समर्पित

कवि अनूठे कलाम के बल से
हैं बड़ा ही कमाल कर देते।
बेधने के लिए कलेजे को
हैं कलेजा निकाल धर देते ॥

—'हरिऔध'

'काव्य'—'रसात्मक वाक्य' है, या 'अदोष शब्दार्थ' है, या 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' है—इसमें संदेह है। पर 'कवि' श्री 'हरिऔध' जी हैं—इसमें संदेह नहीं।

—महामहोपाध्याय डाक्टर सर गंगानाथ झा

प्रस्तावना

(१) "हरिऔध"

जीवन में स्वप्न भी है, संकल्प भी है और सकल्प के साथ सक्रियता भी। तीनों के मेल से महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य सम्पन्न होता है।

मेरे पूज्य भाई, स्वर्गीय हरिऔध जी, की प्रसक्ति और अध्यवसाय सर्वोपरि प्रशंसनीय थे। उन्होंने ऐसी एकाग्रता प्राप्त कर ली थी, विशेष कर साहित्यिक कार्य के सपादन मे, कि उनकी तल्लीनता को कोलाहल उच्चाट नहीं सकता था। राग, द्वेष और इधर उधर की बातों में वह नही पड़ते थे, अतः उनके समय का अपव्यय कदाचित् ही होता था। मैं उनके साथ ही आजमगढ़ में रहता था, जब वहाँ वह कानूनगो थे और मैं मिशन हाई स्कूल का विद्यार्थी। प्रायः आधी रात तक वह स्वाध्याय में लगे रहते थे। जब स्थानातरित होकर वह देहात में रहने लगे तब कुछ अधिक समय सरस्वती की सेवा के लिये उनको मिलने लगा। फिर भी वातावरण तो असाहित्यिक ही रहा। साहित्य का सर्जन उनकी तपस्या का फल था।

एक बात और। उनकी, बाल्यकाल में, शिक्षा मातृ भाषा के माध्यम से हुई थी। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ अपनी "जीवन-स्मृति" मे लिखते हैं कि मातृभाषा के द्वारा उनकी शिक्षा होने से उनके समस्त मन का परिचालन संभव हुआ था। यही बात हरिऔध जी के संबध में भी कही जा सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल उसके स्वभाव में होता है। स्वभाव के आधार पर ही उसके पूर्ण सत्य का मंदिर स्थायी रूप से बनाया जा सकता है। स्वभावानुकूल कर्म ही में अपनी सुंदर अभिव्यक्ति हो सकती है। काव्य-रचना हरिऔध जी के स्वभावानुकूल थी।

आधुनिक समय में अपने को अच्छी तरह जानने की आवश्यकता बहुत बढ़ गई है। किंतु परिस्थितियाँ और अनुपयोगी शिक्षा अपने स्वभाव को जानने और उसकी उन्नति मे बाधक हो सकती है। अपने स्वभाव का समझना दूसरों के स्वभाव के समझने मे सहायक होता है, तब दूसरों के प्रति अपने अनुदार विचार की तीव्रता कम हो जाती है। हम अपने जितने ही कठोर आलोचक होंगे उतने ही दूसरों के प्रति सहिष्णु होंगे। हरिऔध जी मे सहिष्णुता और गभीरता पाई जाती थी। धन-लोलुप न होने से वह अपने आत्माभिमान की रक्षा में सदा सफल रहे।

वह सच्चरित्र, विनम्र और व्यवहार-कुशल थे। जहाँ रहते थे वहीं वह लोकप्रिय हो जाते थे। लड़कपन में अच्छे वातावरण में पले। माता-पिता और विद्वान पितृव्य से पूरा प्रेम और सद्-आचरण का पाठ मिला। सीधा-सादा, शुद्ध जीवन बिताया। कभी खान पान में विदेशी वस्तुओं का, अथवा उत्तेजक द्रव्यों का प्रयोग नहीं करते थे। धर्माचरण में कट्टरपना नहीं थी। निजामाबाद में सिख-धर्म का प्रभाव उसका एक कारण था। घर में न धन की प्रचुरता थी न अल्पता। पर वह इतना काफी था कि उन्हे अगरेजी शिक्षा के लिये काशी भेजा जा सका। भारत में "लक्ष्मी का वाहन उल्लू" यह कहावत अधिकाश मे चरितार्थ होती है।

उनके जीवन ने एक विशेष मोड़ लिया, जब उनकी प्रिय पत्नी का देहात हो गया। उस समय वह चालीस वर्ष के थे। फिर तो केवल काव्य को उन्होंने अपना हृदय दे दिया। व्यवस्थित और रचनात्मक जीवन से प्राप्त होने वाली तुष्टि उनकी सगिनी रही। कभी कभी वह चितित देखे गये, पर प्रायः वह प्रफुल्ल रहते थे। काव्य-रस और नियमित जीवन उनकी दीर्घायु के दो विशेष कारण हुये।

जीवन अपने विकास द्वारा अपने को मुक्त करता है। उसका कार्य-

क्षेत्र जितना ही विस्तृत होगा उतना ही वह सबल होगा। हरिऔध जी का कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत न था, पर जितना था उतना पूर्ण रूप से गृहीत था। वह महाभारत के इस श्लोक को बड़े चाव से पढ़ते थे "मनुष्य लोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर" अर्थात् इसी मनुष्य-लोक मे जो कल्याण है उसे मैं श्रेष्ठ समझता हूँ। पर मनुष्य-लोक को उन्होंने हिन्दूजाति तक सीमित कर रखा था। आज स्वतत्रता प्राप्त होने पर भी लाखों हिन्दू, मुसलमान आदि उसी विचार के हैं अर्थात् अपनी जाति को ही मनुष्य-लोक मानते हैं; यद्यपि सारा ससार, और कम से कम एक देश के सभी निवासी, एक दूसरे पर अपने कल्याण के लिये निर्भर करते हैं। और राष्ट्र तो एक देश के प्रायः सभी निवासियों के सहयोग विना बन नही सकता है। और न कोई एक जाति या वर्ग बिना इस सहयोग के पूरी उन्नति कर सकता है।

हरिऔध जी के कुछ अंतिम वर्ष सुख से नही बीते। मैं चाहता था कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण कर वह मेरे साथ हजारीबाग़ (रामगढ़ राज्य) में रहे। मुझे उनके सत्संग मे बहुत आनंद आता था। किंतु परिवार की ममता उन्हे अपनी ओर आजमगढ खींच ले गई। मृत्यु-भय से वह कुछ भयभीत भी रहने लगे थे।

संसार का विश्वव्यापी अति विपुल भार जीवन मृत्यु के हरण भरण में अपने को सहज ही नियमित करके चलता रहता है, किसी को कुचल नही डालता है। किंतु अपनी ममता अपने को नचाती रहती है। इसी लिये "वानप्रस्थ" आश्रम का नियम किया गया। आधुनिक युग मे वन में जाकर रहने की आवश्यकता नहीं है, किंतु अपनी और परिवार की ममता से ऊपर उठकर निष्काम कर्म द्वारा समाज, देश और विश्व की सेवा में लग जाने से आसक्ति एवं मृत्यु का भय चला जा सकता है। ईश्वर में और पुनर्जन्म में दृढ़ विश्वास संसार से मुक्ति का सहायक होता है।

(२) "हरिऔध और उनका साहित्य"

यह एक अच्छी पुस्तक है। इसमे "हरिऔध" जी के जीवन से संबधी सच्ची सच्ची बाते और उनके साहित्य की आलोचना विस्तार के साथ और अच्छे ढंग से लिखी गई हैं। "प्रियप्रवास" की सुन्दर आलोचना, विशेष रूप से, लेखक की काव्य-मर्मज्ञता का परिचायक है। श्री मुकुन्द-देव अभ्यस्त और पुरस्कृत लेखकों में से हैं।

बोल चाल की मुहावरेदार भाषा मे लिखी गई उनकी तीन प्रमुख पुस्तके 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' हैं। कुछ आलोचकों की राय उनके बारे में बहुत अच्छी न हो, किंतु अधिकतर, और दिन दिन बढ़ती संख्या में, विद्वानों की राय उनके अनुकूल है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का यह वाक्य देखिये—"द्विकलात्मक कला उपाध्याय जी की बड़ी विशेषता है" सारगर्भित है। (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६०९)। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, हिंदी उर्दू के प्रसिद्ध लेखक, लिखते हैं—"आपके 'चोखे चौपदे' का रस चखकर हमने रोना-हँसना सीखा, 'चुभते-चौपदे' हमारे अंतरतम में चुभकर हमे जागरूक बना लाये और तब अपनी राष्ट्र भाषा की ओर हमारी आँखे लगीं ......आपके चौपदों के चोंचले, कलाम के करिश्मे, भावों की जिंदादिली, कल्पना की रंगीनी, छदों की लहरी, शब्दों की मीनाकारी, हिंदी-ससार में निराली ही नही, अनूठी भी है।...... दरिद्र नारायण की सेवा का व्रत लेकर आज आप कवि सम्राट ही नहीं, हृदय सम्राट भी हैं।" (हरिऔध अभिनन्दनोत्सव ग्रंथ)।

"न्यायमूर्ति सर सुलेमान चौपदों को सुन कर बाग बाग हो गये और स्वीकार किया कि हरिऔध जी ने वास्तव मे हिन्दी की इस प्रकार महान सेवा की है" (हरिऔध और उनका साहित्य, पृष्ठ २८४)।

श्रीधर पाठक जी हरिऔध जी को "आशुकवि", और विद्वद्वर महावीरप्रसाद द्विवेदी जी 'महाकवि' कहते थे।

श्री मुकुन्ददेव का इस ग्रथ के ३६२ वे पृष्ठ पर यह लिखना कि इसने (चौपदोंके लिखने कीधुन ने) उनकी (हरिऔध जी की) शक्तिका, उनकी प्रतिभा का बड़ा अपव्यय किया', उनकी अतिशयोक्ति का नमूना है, जो वह कभी कभी कर जाते हैं। आगे के पृष्ठों पर जो उन्होंने 'चौपदों' की स्तुति में लिखा है उससे इस टीका का मेल नही खाता है। यथा, "चोखे चौपदे" और "बोलचाल" की गणना स्थायी साहित्य के रूप मे की जा सकती है" (पृष्ठ ३६७), "इन चौपदों मे चमत्कारों की भरमार है" (पृष्ठ ३६८) इत्यादि।

ऐसा प्रतीत होता है कि उर्दू न जानने वालों को चौपदे खटकते हैं। चौपदे वे फूल हैं जो हिंदी उर्दू को एक माला मे गूँथ देते हैं। "कभी कभी तो हरिऔध जी इन चौपदो को "प्रियप्रवास" से भी अधिक महत्व देते थे" (हरिऔध और उनका साहित्य, पृष्ठ ३८४)

(३) हिन्दू समाज

वर्ण-आश्रम धर्म हिन्दू-समाज का प्रमुख अंग है। वह सार्वभौम ईश्वरीय नियमों पर आधृत है और मानव मात्र को लागू है। उसके सैद्धांतिक तत्वों की अवहेलना से, विशेषतः, हिन्दू समाज मे बिलगाव और उसका पतन हुआ। उसका पुनरुद्धार हमारा धर्म होना चाहिये।

वेद में कहा गया है कि चारो वर्ण एक ही शरीर के भिन्न भिन्न अंग हैं। यदि अग एक दूसरे से सहयोग न करें तो शरीर बेकाम हो जायगा। हिन्दू समाज-शरीर अपने भिन्न भिन्न अगों (जातियों) में सहयोग न होने से बेकाम हो गया है। एक भी वर्ण के पतित होने से सब समाज बिना गिरे रह नही सकता। वह तो 'लोकाना तु विवृद्धयर्थम्'—

सभी की वृद्धि के लिये है। साथ ही साथ वृद्धि या साथ ही साथ ह्रास।

बिलगाव इतना बढ़ गया है कि एक ही जाति के अतर्गत उप जातियों मे भी मेल नही है। जाति जाति में अनुचित भेद करते करते वह घर मे घुस आया है। ईश्वरीय नियम तो सार्वभौम होते हैं।

हिन्दुओं के उद्बोधन के लिए केवल कविता लिखने या सघ बनाने से उसमें मेल और सघटन होता हुआ दिखाई नही देता है। "धर्म" तो अधर्म के रूप में परिवर्तित हो गया है। स्वामी शंकराचार्य कहते ही रह गये कि "यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देश कालनिमित्तान्तरेषु अधर्मो भवति"—जिस देश काल और निमित्त के विचार से धर्म का अनुष्ठान किया जाता है उस देश काल और निमित्त के बदलने पर वही धर्म, अधर्म हो जाता है। फिर हमको जगाने के लिये मुसलमान और अगरेज आये। करोड़ों हिन्दुओं ने उनके धर्मों को स्वीकार कर लिया। फिर इन "नव मुसलिमों" ने गतिहीन हिन्दू-धर्म पर प्रहार आरंभ किया। हम अँगड़ाइयाँ लेते हुए जगे, पर रोष के साथ। इसलिए अपने समाजगत दोषों और उनके सामाजिक गुणों को न देख सके। ऐसी मोटी बात भी समझ मे न आ सकी कि हिन्दू राजे आपस ही मे एक दूसरे से लड़कर अपने शत्रुओं को इस देश पर आसानी से आधिपत्य प्राप्त करने के लिये अवसर दे रहे हैं ("पृथ्वीराज जयचन्द कलह करि यवन बुलायो")। राष्ट्राभिमान, देशाभिमान था ही नहीं। यदि हम दूसरों के दोष देखने की आदत छोड़ दे तो हमें अपने दोष दिखाई देने लगेंगे, और हम अपना सुधार कर सकेंगे।

जिस युग में जातिप्रथा स्थापित की गई उसकी आवश्यकता थी और उसने समाज को स्थायित्व प्रदान किया। किन्तु गतिशीलता न होने से उसमें सड़न आ गई है। वह बँधे हुए पोखरे की भाँति हो गया है, प्रवहमान नद नहीं रह गया है। अब 'भूमैव सुखं नाल्पं सुखमस्ति'—

संकुचित समाज-बंधनों और छोटे छोटे कर्मक्षेत्रों में सुख नही मिल सकता है। "विशाल भारत" की विशाल परिधि के अंतर्गत विशाल हृदय के आवाहन की आवश्यकता है। भारतीय संस्कृति की जो हिन्दू, अहिन्दू दोनों की संस्कृतियों का संगम है, एक अपनी विशेषता है। वह विभिन्न जीवन प्रणालियों मे एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करती है। अपना ख्याल रखते हुये दूसरों का भी ख्याल रखना संस्कृति का मूल है। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्"—यह सामाजिकता और मानवता का मूल मत्र है। दृढ़ संकल्प और विशाल हृदय से ही भारत मे नये मानव का जन्म होगा। आत्मसात् करने की शक्ति भी उसी से उत्पन्न हो सकती है, यदि उसे कोई चाहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि आज सारा ससार एक हो गया है, वहाँ से स्वच्छ जल-स्रोत बँधे हिन्दू समाज के लिये मिल सकता है। मुस्लिम और ईसाई समाज तो अतर्राष्ट्रीय है, हिंदू-समाज की तरह बँधा हुआ नही है। यदि हम नये कर्तव्यों को न अपनायेंगे, तो समाज असतुलित रह कर और छिन्न भिन्न होता जायगा। सभी भारतवासियों के सहयोग से ही राष्ट्र का कल्याण होगा और हम शक्तिशाली हो सकेंगे। हिन्दुओं की प्रादेशिकता भी दूर हो सकेगी।

सृष्टि मे स्वाभाविक वृद्धि और विकास का एक आतरिक सिद्धात है। जिसके कारण संवेग और इच्छा एक विशेष दिशा मे, बाधा न होने पर, प्रेरित होती है, जैसे उगता वृक्ष प्रकाश की ओर प्रेरित होता है। सामाजिक वातावरण, पारस्परिक विश्वास और अनुराग, क्रिया के लिये सुयोग या कुयोग, वृद्धि के सहायक या बाधक होते हैं। ऐसी संस्थाये. जो किसी वर्ग या जाति विशेष को औरों की अपेक्षा अधिक सुयोग देती हैं, अब न्याय्य नही मानी जाती हैं, चाहे अतीत काल में उन सुयोगों को दूसरे वर्ग या जाति वाले बुरा न समझते रहे हों। जब तक

कि वे उनको स्वेच्छा से स्वीकार करते थे समाज सुसंबद्ध था, किंतु अब प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास के लिये स्वतंत्रता और न्याय चाहता है। इसलिये वैसी पुरानी संस्थायें अब समाज में संघर्ष पैदा करती हैं, अतः उनमे परिवर्तन आवश्यक ही है। आठ सौ वर्ष की दासता से हम लोगों मे दुर्बलता आ गई है, और दुर्बलता की अनुगामिनी अनीति है।

कोरे न्याय से भो बिना संवेदना समाज का काम अच्छी तरह नही चल सकता है। इसलिये सहानुभूति, उदारता और आपस में प्रेमभाव को विशेष रूप से जगाना चाहिये। जो समाज अन्याय पर प्रतिष्ठित है उसमे शिक्षा का नैतिक पहलू भी जैसा उसे होना चाहिये वैसा कभी नही हो सकता। तब ब्राह्मण के बच्चे से लेकर हरिजन के बच्चे तक पर उसका कुप्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है।

कभी कभी यह कह कि "अधिकारि भेदात् धर्म भेदः" स्त्रियो, शूद्रों आदि को अनेक प्रकार की विद्या और कर्म से हम वंचित रखते रहे हैं। वह सिद्धात तो पूर्णतः यथार्थ है, किंतु जब उसके भावार्थ का अनर्थ किया जाता है तब वह अयथार्थ हो जाता है। कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय जो असंस्कृत या मूर्ख है (और आज अधिकतर ऐसे ही हैं) वह उतना ही अनधिकारी है जितना कि एक असंस्कृत या मूर्ख शूद्र। जिन शूद्रों, स्त्रियों को सुशिक्षा दी गई वे अधिकारी सिद्ध हुये। स्वामी रामानंद आदि संतोंने ऐसा कर दिखलाया। और आज राष्ट्र सरकार ऐसा करके दिखला दे रही है। "यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः"—गुण की पूजा होनी चाहिये, उसकी पूजा न करके किसी जाति विशेष की पूजा करने से वह जाति गुणहीन हो जाती है।

थोड़े से शहरी मुसलमानों के साम्प्रदायिक, हिंदू-एवं-भारत-विरोधी, आंदोलनों से खीजकर कुछ हिन्दू विद्वान लेखक और संघी सज्जन "यूनिटी" (पृष्ठ ३८७) के विरुद्ध आवाज उठाते हैं—यह तो उनके आंदोलन को

सफल बनाने में मदद देना है। वे भूल जाते हैं कि गावों मे रहने वाले मुसलमान और शहर के कुछ मुस्लिम जन साधारण (सम्प्रदायवादी नहीं) के रस्म-रवाज, रहन-सहन और विश्वास अधिकतर वे ही हैं जो पड़ोसी हिन्दुओं के। वे हिन्दू समाज से ही गये हुए हैं। उनमे जातिप्रथा भी अब तक बहुत कुछ मौजूद है। हिन्दू मुसलमान दोनों दरगाह पूजते हैं, मिन्नते मानते हैं, चढ़ौआ चढ़ाते हैं, चेचक से बचने के लिये शीतला माता की पूजा करते हैं, ओझा सोखा फकीर के पास दौड़ते हैं, इत्यादि। उनमे ऐसा मेल है, मानो एक ही समाज के अंग हों, कि जब तक दोनों का साथ साथ सुधार न होगा हिंदू जनता सुधर न सकेगी। महात्मा गाधी ने इन सब बातों को खूब समझा था, और सब को एक राष्ट्र का अंग मानकर साथ लिया था।

शिवपुर (वाराणसी)
१०-२-५७

गुरुसेवक उपाध्याय



विषय-सूची

प्रथम खंड

(व्यक्तित्व)

द्वितीय खंड

(साहित्यिक जीवन)

तृतीय खंड

(खड़ी बोली का आदि प्रबंध काव्य)

चतुर्थ खंड

(काव्य-संबंधी नूतन प्रयोग)

पंचम खंड

(विवेचनात्मक गद्य)

षष्ठ खंड

(आदर्श, खड़ी बोली का प्रबंध काव्य)

सप्तम खंड

(त्रिवेणी)

परिशिष्ट

(लोकमत)

प्रथम खण्ड

(व्यक्ति और व्यक्तित्व)

भूमिका

(हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् भारत-स्थित रूसी सांस्कृतिक सचिव श्री प्योत्र बारान्निकोव द्वारा लिखित)

भारतीय साहित्य की परम्परायें विश्व साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। भारतीय साहित्य में हिन्दी भाषा के साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक तथा विशाल है।

पिछली ९–१० शताब्दियों की अवधि में हिन्दी साहित्य को भारत के महान कवियों को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। इनमें गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, कबीर, जायसी, बिहारी, निःसंदेह समूचे भारतीय साहित्याकाश के उज्ज्वलतम नक्षत्र हैं।

१९ वीं शताब्दी तक अन्य भाषाओं के समान हिन्दी साहित्य में भी अभिव्यक्ति का मुख्य रूप पद्यात्मक रहा है। यह रूप काव्य सौंदर्य और भाव गरिमा की दृष्टि से उच्चतम शिखर तक विकसित हुआ है। परन्तु सामाजिक विकास की ऐतिहासिक परिस्थितियों का आग्रह था कि हिन्दी साहित्य अपनी अभिव्यक्ति के रूप-माध्यम का विकास करे। इसके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य में गद्य धारा विकसित हुई, और उपन्यास, कहानी, नाटक, रेखाचित्र, गद्य गीत, आदि अभिव्यक्ति के माध्यम बने। इसके साथ ही साथ आलोचना साहित्य का विकास हुआ, जिसके अन्तर्गत हिन्दी साहित्य का इतिहास, इतिहास का काल निरूपण तथा कवियों और लेखकों के कृतित्व का अन्वेषण निरंतर प्रगति करता रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी साहित्य में खड़ी बोली के प्रथम सामर्थ्यवान कवि तथा गद्यकार स्वर्गीय पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध" के जीवन और कृतित्व के व्यापक तथा गहरे अध्ययन-मनन का परिणाम है।

इस पुस्तक के पहले भाग मे लेखक ने "हरिऔध" जी की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं तथा तथ्यों को रोचक तथा विद्वत्तापूर्ण ढंग से सग्रहीत किया है, जिसमे उनके बाल्यकाल से लेकर अतिम क्षणों तक के जीवन को भली भाँति पिरोया गया है। इस भाग में "हरिऔध" जी के साहित्यिक सम्बन्धों, सामाजिक गतिविधियों तथा उनके जीवन की मुख्य विशेषता, अपनी रचनाओं द्वारा जन सेवा की जागरूक भावना को विशेष रूप से उभार कर रखा गया है।

पुस्तक के अन्य भागों मे ऐतिहासिक परिस्थितियों और भारतीय साहित्य, विशेषतः हिन्दी साहित्य की गतिविधि के अध्ययन के आधार पर "हरिऔध" जी की कृतियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

लेखक ने साहित्य और जन जीवन के घनिष्ठ सम्पर्क को सिद्ध करते हुए बताया है कि "हरिऔध" जी के सामने दो मार्ग थे, एक प्राचीन धारा के बहाव में बहते जाना और दूसरा था ऐतिहासिक आवश्यकताओं के आधार पर नवीन मार्ग अपनाना। स्पष्ट है कि "हरिऔध" जी ने दूसरा मार्ग चुना, और इस प्रकार वे नव साहित्य स्रष्टा के रूप मे साहित्य जगत मे अवतरित हुए। उन्होंने न केवल विषय वस्तु के क्षेत्र मे बल्कि भाषा के क्षेत्र मे भी नये युग का पथ-प्रदर्शन किया। उनका यह जागरूक प्रयास उनकी दो गद्य रचनाओं—"ठेठ हिन्दी का ठाट" और "अधखिला फूल" मे प्रकट होता है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि साहित्यिक रचनायें जन साधारण की भाषा में लिखी जा सकती हैं, और आगे भी लिखी जानी हैं। "हरिऔध" जी ने यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी विषय पर लिखी जाने वाली पुस्तक की भाषा मे केवल तत्सम अथवा तद्भव शब्दावली न तो अनिवार्य है और नही सर्वदा उपयुक्त ही। दूसरी भाषाओं के शब्द अपनाने से जहाँ अपनी भाषा समृद्ध होती है, वहाँ उसकी अभिव्यक्ति में भी प्रखरता तथा व्यापकता आती है।

"हरिऔध" जी न केवल भावुक साहित्यकार बल्कि एक वैज्ञानिक

साहित्यकार भी थे। उन्होंने परम्परागत साहित्य तथा साहित्यिक भाषा का गहन अध्ययन किया था। इसी के फलस्वरूप वे पद्य में ब्रज और खड़ी बोली मे समर्थ रचनाएँ कर सके, और सजीव गद्य रचना की परम्परा के निर्माताओं में विशेष स्थान पा सके। उन्होंने ही सबसे पहले बच्चों की पुस्तक लिख कर आज के हिन्दी बाल साहित्य का पथ निर्माण किया था। "हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास" नामक ग्रथ उनकी विद्वत्ता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है।

"हरिऔध" जी की पद्य रचनाओं मे "रसकलस" का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसमे उन्होंने भारतीय काव्य शास्त्र में निरूपित समस्त रसों के आधार पर अपनी कवित्व प्रतिभा तथा गहरी शास्त्रीय पैठ का व्यापक परिचय दिया है। इसमे ब्रज की रीतिकालीन रूढियों का परित्याग कर उसके समृद्ध साहित्य की स्वस्थ परम्परा का निर्वाह किया गया है।

उनका सबसे प्रसिद्ध महाकाव्य "प्रियप्रवास" है, जो खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है। इसमें परम्परागत साहित्य सौदर्य का सफलतापूर्वक निर्वाह किया गया है। इसकी सबसे बड़ी भाषा गत विशेषता यह है कि इसमे अत्यत उपयुक्त सरस मुहावरों का प्रयोग किया गया है।

"प्रियप्रवास" वैसे तो परम्परागत राधा कृष्ण के जीवन वृत्त पर आधारित है। परन्तु लेखक की जागरूकता ने इसे आधुनिकता की दिशा में नया मोड़ दिया है, जैसे मातृभूमि के प्रति प्रेम और देश-सेवा की भावना।

"हरिऔध" जी पर प्रस्तुत पुस्तक लिखने वाला साहसी लेखक, उनके जीवन और कृतियों से भली भाँति परिचित है, और उसने उनका गहरा अध्ययन तथा विश्लेषण किया है। शायद इसीलिये वह "हरिऔध" जी की कृतियों, उनकी भाषा और शैली की विशेषताओं को विस्तार के साथ प्रस्तुत कर सका है।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता मुझे यह लगी कि लेखक ने "हरिऔध" जी के जीवन, उनकी जीवन कालीन परिस्थितियों तथा

कृतियों को इस प्रकार गूँथा है, कि पुस्तक अत्यन्त उपयोगी होने के साथ साथ रोचक भी हो गई है। यह विशेषता आलोचना साहित्य में प्रायः कम ही दिखाई देती है।

दूसरी विशेषता मुझे यह लगी कि लेखक ने साहित्य की समाज के प्रति उपादेयता और सोद्देश्यता पर विशेष जोर दिया है। बहुत सभव है कुछ बधु मेरी इस पसन्द को मेरे दृष्टिकोण की सकीर्णता समझे।

मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक पाठकों के सामने "हरिऔध" जी के जीवन तथा उनके कृतित्व को अधिकृत रूप मे पेश कर सकेगी, और उन्हे "हरिऔध" जी के साहित्य के अध्ययन में सहायक सिद्ध होगी।

अन्त में मैं प्रस्तुत पुस्तक के लेखक के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करने के कर्तव्य को पूरा करना चाहूँगा। क्योंकि उन्होंने मुझ जैसे साधारण व्यक्ति से भूमिका लिखने का आग्रह किया, जो भारत-प्रेमी और हिन्दी-उर्दू का साधारण विद्यार्थी होते हुए भी एक विदेशी है। यह उनका सौजन्य ही है कि यह भूमिका लिखकर मैं अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहा हूँ।

मैं अपने लिए इस सुअवसर को भारत तथा सोवियत सघ के घनिष्ठ सास्कृतिक सबधों तथा निर्लेप शाश्वत मैत्री की प्रतिच्छाया मानता हूँ। मुझे विश्वास है कि हमारे दोनों देशों के बीच यह घनिष्ठ सास्कृतिक सबध अधिक गहरे और व्यापक बनेंगे, और उनके आधार पर भारतीय तथा सोवियत जनता की प्रगाढ़ मैत्री विश्व के लिए एक आदर्श सिद्ध होगी।

रूसी दूतावास
नयी दिल्ली
१६।६।५६

प्योत्र बारान्निकोव

॥ श्री हनुमते नम' ॥

****

पूर्व पुरुष

पंडित काशीनाथ सम्राट् जहाॅगीर के दरबार में जिलेदार थे और दिल्ली के रहने वाले थे। पंडित काशीनाथ की बड़ी प्रतिष्ठा थी और वे बड़े सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। सम्राट् जहाँगीर के मीर बक्शी कोई कायस्थ सज्जन थे जो पंडित जी के पड़ोसी थे। पंडित जी तथा मुंशी जी में बड़ी घनिष्ठता तथा मैत्री थी। दुर्भाग्यवश किसी कारण से सम्राट् जहाँगीर रुष्ट हो गये और उन्होंने मुंशी जी के सम्पूर्ण परिवार को मौत के घाट उतार देने का दण्ड दिया। मुगल शासकों के मुख से निकले शब्द ही राजनियम थे। मुंशी जी की क्षमायाचना के सब प्रयत्न विफल हुए।

मुशी जी को अपने मरने का उतना कष्ट नही था जितना अपने वंश के चिह्न समाप्त हो जाने का दुःख था। उन्होंने अपने पड़ोसी पंडित काशीनाथ से यह प्रार्थना की कि वे उनके परिवार की दो गर्भवती स्त्रियों और दो छोटे छोटे बच्चों को अपने यहाँ गुप्त रूप से प्रश्रय दे कर उनके वंश के नाम को जीवित रखने में सहायता दें। पंडित काशीनाथ अपने घनिष्ट मित्र तथा पड़ोसी की प्रार्थना को अनसुनी न कर सके। उनका

हृदय दया से उमड़ आया और उन्होंने मुंशी जी के परिवार के चार सदस्यों को अपने यहाँ आश्रय प्रदान किया। मुंशी जी ने काशीनाथ जी के चरणों में मस्तक रखते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपनी उत्कट कृतज्ञता व्यक्त की।

मुंशीजी का सम्पूर्ण परिवार सम्राट् की आज्ञा से मौत के घाट उतार दिया गया। उनकी दोनों संतानें तथा उनके परिवार की दोनों स्त्रियाँ शांतिपूर्वक काशीनाथ जी के यहाँ परिवार के सदस्यों की भाँति जीवन-यापन करने लगीं; परंतु काशीनाथ जी का जीवन शांति से न बीत सका। उस समय साम्राज्य भर में गुप्तचरों का जाल बिछा हुआ था। घर में काम करनेवाली महरी से यह बात फूट गयी और दूसरे ही दिन सेना ने आकर काशीनाथ के निवासस्थान को घेर लिया। काशीनाथ जी बड़े असमंजस में पड़े। वे बड़े ही दृढ़प्रतिज्ञ तथा आन के आदमी थे। सिपहसालार के पूछने पर उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ कह दिया कि हमारे यहाँ बाग़ी मुंशी जी के परिवार का कोई सदस्य नहीं रहता। साथ ही उन्होंने सिपहसालार से यह भी कहा कि आपको अपने कथन पर विश्वास दिलाने के लिए मैं कुछ भी कर सकता हूँ।

सिपहसालार ने काशीनाथ से कहा कि मुझे तब यह विश्वास होगा कि संदिग्ध स्त्रियाँ और बच्चे आपके हैं जब आप उन स्त्रियों के हाथ की बनी रसोई उन बच्चों के साथ बैठ कर खा लें। वह युग बड़ी संकीर्णता और भेद-भाव का था। जात-पाँत के बंधन बड़े कठोर थे। ब्राह्मण, ब्राह्मण के साथ बैठकर भोजन नहीं करता था, दूसरी जाति के साथ बैठकर भोजन करने की बात तो कल्पना के परे थी।

काशीनाथ ने सिपहसालार की बातों को स्वीकार किया। उन्होंने कहा—'वे तथाकथित संदिग्ध स्त्रियाँ मेरे परिवार की हैं अतः उनके हाथ का भोजन करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। आप कल प्रातःकाल आयें और आपके समक्ष ही मैं उन बच्चों के साथ बैठकर उन स्त्रियों के हाथ का बना भोजन करूंगा। मैं आपको हर प्रकार से आश्वस्त कर देना चाहता हूँ।' सिपहसालार ने काशीनाथ की बात मान ली।

पुराने जमाने मे रसोई घर बड़े संकीर्ण होते थे। रसोई घर को पृथक् रखने के लिए एक रेखा खीच दी जाती थी या पाटा बना रहता था। उस रेखा के बाहर कोई भी आ जा सकता था। काशीनाथ ने अपने परिवार की स्त्रियों से रसोई बनाने के लिए कहा और मुंशी जी की स्त्रियों को पाटे के बाहर बैठकर रोटी बेलने तथा अन्य सहायता देने का आदेश दिया। रसोई के निर्माण में उन स्त्रियों ने इस प्रकार सहायता दी। छोटे बच्चो को साथ बैठाकर खाने में काशीनाथ को किसी प्रकार की हिचकिचाहट न हुई। उन्होंने परिवार के सदस्यों से कहा कि ये बच्चे तो बाल भगवान हैं। इनके साथ अभी जाति अथवा वर्ण का क्या बंधन है! मुझे इन्हें साथ बैठाकर खिलाने में कोई आपत्ति नही।

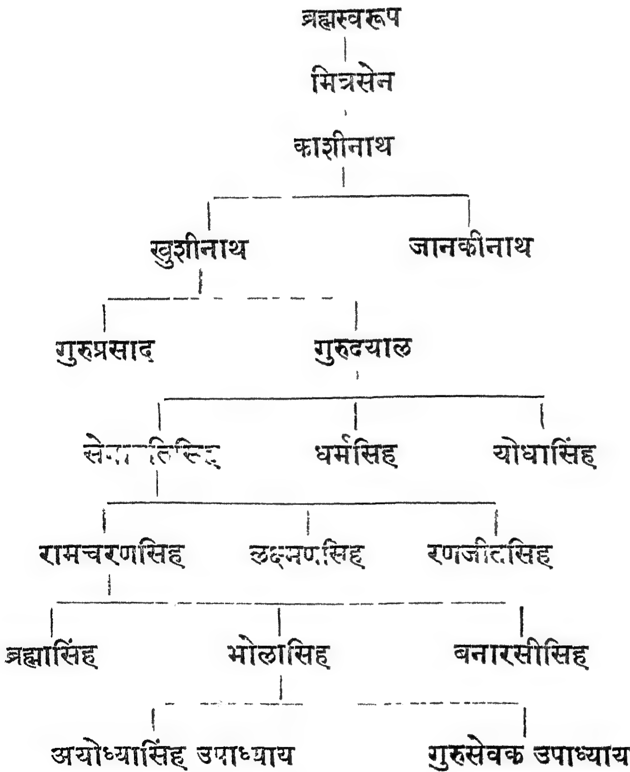
दूसरे दिन प्रातःकाल सिपहसालार काशीनाथ के निवास-स्थान पर पहुँचा। सिपहसालार को ऐसे स्थान पर बैठाया गया जहाँ से वह रसोई घर देख सके। तीन आसन बिछाये गये और काशीनाथ उन बच्चों के साथ भोजन करने बैठे। इस प्रकार काशीनाथ ने उन बच्चो के साथ भोजन किया। सिपहसालार को संदेह के लिए कोई स्थान न रह गया। उसे यह पूर्ण विश्वास हो गया कि ये स्त्रियाँ और बच्चे काशीनाथ के ही परिवार के हैं।

सिपहसालार ने सम्राट् को यह सूचना दे दी कि संदिग्ध स्त्रियाँ और बच्चे मुंशी के नहीं वरन् काशीनाथ के ही परिवार के हैं। काशीनाथ जी को कुछ समय के लिए शांति मिली। परंतु संदेह का वातावरण दूर नहीं हुआ था। भेदिये लगे हुए थे। कुछ दिनों के बाद तूफान पुनः उठ खड़ा हुआ। यह बात फैल गयी कि काशीनाथ ने धोखा दिया है और उन्होंने उन स्त्रियों के हाथ की रसोई नहीं खाई है। पाटे के बाहर बैठकर तो कोई भी रसोई बनाने में सहायता प्रदान कर सकता है। राज्य के कुछ भेदियों से काशीनाथ को भी इसकी सूचना मिल गयी कि उनका जीवन संकटमय है और संभव है सम्राट् का कोपभाजन होने पर सारा परिवार ही समाप्त हो जाय। काशीनाथ भावी आशंका से सिहर उठे। उन्होंने चुपके से दिल्ली छोड़ देने का निश्चय किया।

काशीनाथ अपनी दिल्ली की सारी सम्पत्ति और जीविका छोड़कर बदायूँ चले आये और वहीं कुछ दिनों तक गुप्त रूप से जीवन व्यतीत करते रहे। परंतु बदायूँ में भी वे बहुत दिनों तक चैन से न रह सके। वहाँ भी गुप्तचरों ने उनका पीछा किया। इसलिए वे वहाँ से भागकर आजमगढ़ से आठ मील दक्षिण पश्चिम ओर तमसा के तट पर स्थित निजामाबाद नामक ग्राम में आकर बसे। पंडित काशीनाथ त्रिप्रवर अगस्त गोत्र शुक्ल-यजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पितामह ब्रह्मस्वरूप तथा पिता मित्रसेन भी मुग़ल दरबार में कार्य करते रहे। काशीनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे।

आजमगढ़ में उन दिनों एक क्षत्रिय राजा थे। इन क्षत्रिय राजा ने काशीनाथ की जब कथा सुनी तब वे बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने काशीनाथ के जीवन-निर्वाह के लिए चार गाँव दान

स्वरूप भेंट किये। काशीनाथ उन गाँवों की आय तथा पौरोहित्य की सहायता से जीवन यापन करने लगे। उनके साथ मुंशी जी के परिवार के जो सदस्य आये वे भी निजामाबाद में बस गये। उन दो स्त्रियों तथा बच्चों के वंशज अनेक परिवार में विभक्त हो वहाँ रहने लगे। काशीनाथ के पूर्वजों तथा वंशजों का निम्नलिखित वंशवृक्ष है :—



काशीनाथ के वंशजों में सेनापति सिह और योधा सिह का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। सेनापतिसिह बड़े ही वीर और कर्मठ पुरुष थे। सुनते हैं सन १८५७ के पूर्व देशव्यापी गोसंहार हुआ था। उसका प्रभाव प्रत्येक नगर पर पड़ा था। निजामाबाद के निकट ही 'रानी की सराय' नामक एक छोटी सी बाजार है। उसी मार्ग से कुछ कसाई सैकड़ों गायें लेकर आजमगढ़ जा रहे थे। इसकी सूचना सेनापति सिह को मिली। सेनापति सिंह की अवस्था उस समय ९० वर्ष की थी। गाँव के दो चार अहीरो को लेकर वे 'रानी की सराय' पहुँचे। उन्होने उन गायों को मूल्य देकर मुक्त कराना चाहा, परंतु कसाई किसी प्रकार गायों को छोड़ने के लिए राजी न हुए। तब दोनों पक्षों में जम कर युद्ध हुआ। सेनापति सिह ने इस वीरता के साथ युद्ध किया कि उन कसाइयों के छक्के छूट गये। गायों को मुक्त करा कर वे अपने गाँव की ओर चले। पुनः उन बचे हुए कसाइयों ने उनका पीछा किया। पीछे से एक कसाई ने उनके सिर पर लाठी मारी, ब्रह्मांड फट गया और वे धराशायो हो गये। योधा सिह सेना मे थे और हैदराबाद के किसी युद्ध में उनकी मृत्यु हुई।

काशीनाथ के पौत्र गुरुदयाल के बहुत दिनों तक संतान न हुई। उनका जीवन बड़ा दुखमय था। इन्ही दिनों निजामाबाद मे एक उदासी साधु आया। यह साधु बड़ा ही पहुँचा हुआ साधक था। गुरुदयाल उसके सत्संग मे रहने लगे। उनका जीवन धार्मिक कृत्यो में अधिक व्यतीत होने लगा। उस साधु के आशीर्वाद से प्रौढ़ावस्था में उन्हें तीन पुत्र हुए। साधु की आज्ञा से गुरुदयाल स्वतः तथा उनके वंशजों ने सिख धर्म स्वीकार किया। इस घटना के बाद सिख धर्म की परम्परा कुछ दिनों

तक चलती रही। गुरुदयाल गाँव में अत्यधिक प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनकी आज्ञा के फलस्वरूप कस्बे के सब कायस्थ तथा अन्य जाति के लोग भी सिख हो गये।

सेनापति सिह के पुत्र रामचरण जी का जीवन पौरोहित्य में ही बीता। वे बड़े शांत स्वभाव के व्यक्ति थे। अपनी जमींदारी और यजमानी का कार्य ही उनके जीवन का प्रमुख कार्य था। रामचरण जी के तीन पुत्र हुए, ब्रह्मासिह, भोलासिह और बनारसीसिंह। ब्रह्मासिह का जीवन वास्तव मे ब्राह्मणों का जीवन था। वे बड़े ही धर्मनिष्ठ और विद्यानिष्ठ व्यक्ति थे। संस्कृत साहित्य तथा धार्मिक ग्रंथों का उन्होंने बड़ा गहन अध्ययन किया था। ज्योतिप उनका प्रिय विपय था। जीवन भर वे पठन-पाठन ही करते रहे। कुछ विद्यार्थी तथा शिक्षार्थी उनके आश्रय में नित्य पड़े रहते थे। उनमें बड़ी दयालुता थी। गाँव वाले कभी कभी उनकी दयालुता से चिढ़ते थे। किसी लकड़हारे को मूल्य से दो चार पैसे अधिक दे देना, किसी वृद्ध या वृद्धा, साग-भाजी बेचने वाली को दो पैसे अधिक देकर उसका आशीर्वाद प्राप्त कर लेना उनके जीवन का कार्यक्रम था। पास-पड़ोस के लोग कहते थे कि पंडित जी वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देते है। ब्रह्मासिंह सबकी बात सुनते और हँस कर टाल देते। इसके विपरीत पंडित भोलासिंह बड़े ही कुशल प्रशासक और दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति थे। यदि ब्रह्मासिह जी पूर्णरूपेण सात्विक वृत्ति के पुरुष थे तो भोलासिह जी राजसी वृत्ति के प्रतीक थे। वे बड़े ही अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे और परिवार में साधारण अनुशासनहीनता को भी सहन नहीं करते थे।

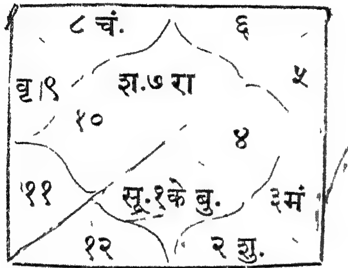
पंडित ब्रह्मासिह निःसंतान व्यक्ति थे। उनका जीवन बड़ा ही नियमित था। प्रातःकाल और रात्रि में श्रीमद्भागवत का गद्गद कंठ से पाठ करना और उसमें ही रसलीन हो जाना उनके जीवन के सुखद क्षण थे। ब्रह्मासिह बड़े ही सफल अध्यापक थे। आस पास के क्षेत्रों में उनके ज्योतिष के ज्ञान का बड़ा प्रभाव था।

भोलासिह जी का विवाह गाजीपुर के प्रतिष्ठित ज्योतिर्विद् श्री चंद्रशेखर पांडेय की कन्या से हुआ था। उनकी कन्या श्रीमती रुक्मिणी देवी धर्मनिष्ठ विदुषी थी। उन पर अपने पिता का संस्कार पड़ा था। जीवन मे कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं कि श्रीमती रुक्मिणी देवी का जीवन बड़ा ही निराशावादी तथा करुणापूर्ण हो गया। इस निराशा और करुणा ने उनके जीवन को अत्यंत धार्मिक बना डाला था। गृहस्थी के झंझटों से मुक्त होने पर वे नियमतः रामायण और सुखसागर का पाठ किया करती थीं। विशेषतः सुखसागर उनका प्रिय ग्रंथ था। इस ग्रंथ को वे बड़ी ही भावुकता से पढ़ती और रोती रहती थीं। उनके करुणापूर्ण जीवन का प्रभाव उनकी संतानों पर भी पड़ा।

भोलासिह जी को विवाह के बहुत दिनों बाद पहली संतान हुई। उनके प्रथम पुत्र का जन्म वैशाख कृष्ण तृतीया संवत् १९२२ में हुआ। उस पुत्र का निम्नांकित जन्मलग्न है:—

श्री संवत् १९२२ शाके १७८८ वैशाख कृष्ण चतुर्थ्याम् मंदे दण्ड २०।३८ परे पंचम्याम् ज्येष्ठा नक्षत्रे ५९।१८ वरियान योगे ४०।४९ कौलव कर्णे दिनमान ३१।३४ मेषार्क गतांशा ५ सूर्योदया-दिष्टम् ३५।१५ तत्समये तुलोदये श्रीमान् पंडित प्रवर भोलासिंह

उपाध्याय गृहे पुत्रो भूयात् ज्येष्ठाभे तृतीय चरणे जन्म भूयात् भयात्। ३६।५० भभोग ६२।८ लग्न ६।८।१०



पंडित भोलासिंह के इस ज्येष्ठ पुत्र का नाम अयोध्यासिंह रखा गया। भोलासिंह जी के दो पुत्र और एक पुत्री थी। द्वितीय पुत्र का नाम गुरुसेवकसिंह उपाध्याय तथा पुत्री का नाम आनंदी देवी था।

****

संस्कारों की पृष्ठ भूमि

पंडित भोलासिंह के पास इतना समय न था कि वे अपने बच्चों के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा की ओर ध्यान देते। उन्होने कपड़े की दूकान भी खोल रखी थी। दूकान और जमींदारी के ताने-बाने मे ही वे उलझे रहते थे। इसके विपरीत पंडित ब्रह्मासिंह संध्या समय संगत मे जाया करते थे और वहाँ के सत्संग में बड़े उत्साह के साथ योग देते थे। यतः ब्रह्मासिंह जी के कोई संतान न थी अतः उनका सम्पूर्ण स्नेह अयोध्यासिंह जी पर ही केन्द्रित हो गया। वे शिशु को सदा अपने साथ रखते। अयोध्यासिंह जी के पितृव्य विचित्र विद्या बुद्धि के पुरुष थे। वे केवल प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् ही न थे वरन् सर्व शास्त्र-पारंगत चरित्रवान विद्वान थे। वे इन पर पितृवत् कृपा रखते थे और अपना अधिक समय इनके लालन-पालन और सत् शिक्षा प्रदान करने में व्यय करते थे।

पाँच वर्ष की अवस्था में शास्त्र-मर्यादानुसार अयोध्यासिंह जी का विद्यारंभ कराया गया। दो वर्ष तक अर्थात् ७ वर्ष की अवस्था तक उनके पितृव्य उन्हें घर पर ही संस्कृत और हिन्दी

भाषा की शिक्षा देते रहे। सात वर्ष की अवस्था में वे निजामाबाद के तहसोली विद्यालय में भर्ती किये गये। जिन दिनों वे तहसीली स्कूल में पढ़ते थे उन्हीं दिनों उनकी माता भी अवकाश के समय उन्हें अपने पास बुलाकर बैठाती थीं और रामायण तथा सुखसागर का पाठ कराया करती थीं। करुणा के उद्रेक के कारण जब उनकी माता की आँखें अश्रु की धारा प्रवाहित करती थीं तब ये बड़े ध्यान से अपनी माता के हृद्गत पीड़ा को समझने का यत्न करते थे। माता के कारुण्यमय जीवन का अव्यक्त रूप से उन पर प्रभाव पड़ रहा था। यही नहीं, माता उन्हें समय समय पर सत् पथ पर चलने की भी शिक्षा देती रहती थीं।

एक दिन महरी का बच्चा अयोध्यासिह जी को मिठाई खाते देखकर रोने लगा। अयोध्यासिह उस बच्चे को रोते न देख सके। वे उस बच्चे के पास गये और उसे अपनी मिठाई का एक भाग दे दिया। माता का हृदय आनन्द से विभोर हो गया। उन्होंने कहा—'बेटा ! जीवन में इसी प्रकार बाँट कर दूसरो को देकर खाना चाहिए', और उन्हे एक मिठाई और दी। कुछ दिनों बाद इस घटना की पुनरावृत्ति हुई। अयोध्यासिह ने उस बच्चे को पुनः मिठाई दी। इस बार माता ने अयोध्यासिह को बुलाया और प्यार से मुख चूम कर कहा—'बेटा ! मैं तुझे दूसरी मिठाई आज न दूँगी नहीं तो तू लालच के लिए ही काम करेगा। तुझे अपना कर्तव्य समझ कर काम करना चाहिए।' इस घटना का उनके जीवन और चरित्र पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।

ब्रह्मासिह जी नित्य प्रति अयोध्यासिह जी को विद्यालय पहुँचाने जाते और अपराह्न में उन्हें वहाँ से घर लाते थे। वे सदा इस बात पर दृष्टि रखते थे कि कहीं उनका बच्चा बुरी संगत में न पड़

जाय। संध्या समय उन्हे खेलने के लिए साथ ले जाते और जब तक वे खेलते रहते तब तक वे वहीं बैठे रहते। वे सदा यह बतलाते रहते कि किसकी संगत करनी चाहिये और किसकी छाया से दूर रहना चाहिए।

निजामाबाद के तहसीली स्कूल से चौदह वर्ष की अवस्था में सन् १८७९ में अयोध्यासिंह ने हिन्दी मिडिल की परीक्षा पास की। वे प्रान्त में प्रथम आये थे अतः उन्हें अपनी उच्च शिक्षा जारी रखने के लिए तीन रूपये छात्रवृत्ति मिली। उन्हे आज्ञा हुई कि वे जाकर क्वीन्स कालेज बनारस में अंग्रेजी का अध्ययन करें। वे उसी वर्ष अपने अभिभावकों की इच्छा के विरुद्ध अंग्रेजी पढ़ने के लिए काशी आये।

युक्तप्रान्त में क्वीन्स कालेज का एक विशिष्ट स्थान रहा है। इस विद्यालय के आचार्य अंग्रेजी के अनेक विद्वान रह चुके हैं। डाक्टर वेनिस महोदय उन दिनों प्रिन्सिपल थे जिन दिनो वे पढ़ने के लिए काशी आये थे। डाक्टर वेनिस को बाग़-बगीचों का बड़ा शौक था। वे बड़ी संस्कृत रुचि के विद्वान् थे। कालेज के सम्मुख उद्यान में उन्होंने बड़े ही सुन्दर अनेक वर्ण के गुलाब के पौधो को लगवाया था। बहुत दिनों तक क्वीन्स कालेज इन फूलों के लिए भी प्रसिद्ध रहा है।

छात्र अयोध्यासिंह गाँव से शहर में आये थे। कभी परिजन और पुरजनों से पृथक् नहीं हुए थे। अन्यमनस्क भाव से वे कालेज के बगीचे मे उन गुलाबो के पास ही घूम रहे थे। डालो पर खिले गुलाब झूम-झूम कर थिरक रहे थे। वे धीरे-धीरे उनके पास गये और एक फूल तोड़ लिया। वेनिस अपने कार्यालय की खिड़की से देख रहे थे। वे चुपचाप इनके पास आकर खड़े हो

गये और उन्होने पीठ थपथपाते हुए पूछा—'ऐ बच्चे! तूने यह फूल क्यो तोड़ा? क्या यह तेरे हाथ में डाल से अधिक सुन्दर लग रहा है?' अयोध्यासिह डर से सहम गये। डाक्टर वेनिस ने बड़े प्यार से कहा—'देखो बेटे, भविष्य मे अब कभी फूल मत तोड़ना। डाल मे रह कर वह अनेक का मन आकर्षित करेगा। तुम्हारे हाथ में तो वह दो क्षणो के बाद समाप्त हो जायगा।'

वेनिस की बात ने अयोध्यासिह के मन मे घर कर लिया। उसने उनके जीवन की दिशा को बदल दिया। उस ऐतिहासिक घटना को अयोध्यासिह ने आगे चलकर निम्नलिखित पंक्तियों मे अमर कर दिया :—

देख फूला एक फूल गुलाब का,
तोड़ उसको एक लडके ने लिया
इस सितम को देख बोला फूल यो,
यह अरे बेपीर तूने क्या किया?
क्या समझ सकता नही यह बात तू,
धूल मे मेरी मिली चाहें सभी।
आज तूने छीन जो मुझसे लिया,
पा सकूँगा मै न, अब उसको कभी।
हँस न पाया था कि रोने की पड़ी
कुछ न देखा और आँखें बंद की।
आह! तेरे ही किये सब पंखड़ी,
खिल न पाई थी कि कुम्हलाने लगी।

* * *

क्या हरी निज पत्तियो ने मै तुझे,
छवि दिखाता था न, या भाता न था।

क्या वही से ही महक मेरी भली,
तू सहारे वायु के पाता न था।

* * *

जो कि होना था हुआ मै इस लिए,
अब नहीं कुछ और कहना चाहता।
पर तुझे यह बात बतलाये बिना,
है नही मन भी हमारा मानता।
जी बिना मै हूँ नही, जड़ मै न हूँ,
दुख दरद से भी बचा हूँ मै नही।
तोड़ लेना इसलिए यों ही मुझे,
है बहुत से पाप से बढ़ कर कही।

अयोध्यासिंह पर इस घटना का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसके बाद उन्होंने जीवन भर कभी फूल तोड़ने के लिए हाथ नहीं बढ़ाया। यही नहीं, उनके हृदय मे डाक्टर वेनिस की बातों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे किसी को भी मन, वचन अथवा कर्म से पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहते थे। भले ही अप्रत्यक्ष रूप से उनके कार्यों से किसी की हानि हो गयी हो परंतु प्रत्यक्ष रूप से वे दूसरों को किसी भी प्रकार पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहते थे।

अयोध्यासिह के जीवन में उपर्युक्त घटना का बड़ा महत्व है और उसने उनके व्यक्तित्व के निर्माण में बड़ा योग दिया। वे काशी पढ़ने चले तो आये परंतु उन्हें अपने ही हाथ से भोजन आदि बनाना पड़ता था। आलस्य के कारण भोजन नहीं भी बनाते थे और बाज़ार की वस्तुएँ लेकर खा लिया करते थे। इसके कारण दिन पर दिन स्वास्थ्य गिरता गया। उनके प्रत्यावर्तन का एक यह कारण था, परंतु इस कारण से भी भयंकर एक और कारण

हुआ जिसने उनके जीवन में भय का संचार किया और इस भय ने उनके व्यक्तित्व के विकास में बड़ी बाधा पहुँचाई।

अयोध्यासिंह बड़े पुत्र तो थे ही, बड़े लाड़िले पुत्र भी थे। यदि उन्हें कहीं खरोंच भी लग जाती थी तो माता की आँखें भर आती थीं। उन्हें हर प्रकार की आपदाओं और विघ्नों से दूर रखने के तो अनेक प्रयत्न होते ही थे साथ ही उन्हें ऐसी वस्तुओं से भी दूर रखा जाता था जिससे उनके हृदय में विषाद उत्पन्न हो या जिसके कारण उन्हें दुख हो। जब तक वे घर अथवा गाँव की चहारदीवारी में थे इस प्रकार की सतर्कता संभव थी परंतु बाहर आने पर इस प्रकार की व्यवस्था असंभव हो गयी।

अयोध्यासिंह ऐसे स्थान पर रहते थे जहाँ से दिन भर में अनेक शव श्मशान घाट जाया करते थे। क्वीन्स कालेज के पास ही एक कोठरी लेकर वे रहा करते थे। उनके साथ एक छात्र और भी रहा करता था। वह भी हृदय का दुर्बल था। "राम नाम सत्य है", "राम नाम सत्य है" की अनवरत ध्वनि तथा अवकाश के समय इस वाक्य की पुनरावृत्ति उनके हृदय में भय का संचार करने लगी। चौदह वर्ष की अवस्था थी। पहले पहल जीवन में नित्य प्रति अनेक शवों की यात्रा देखने के कारण उनके हृदय पर मृत्यु का आतंक जम गया। वे चलदल की भाँति काँप उठे। साथी ने यदि कुछ ढाढ़स बँधाया होता तो संभव है भय की भावना इतनी उत्कट न होती, परंतु वह स्वतः बड़ा भीरु था। उसने इन्हें और भी अधिक आतंकित किया। इस आतंक का ऐसा भयंकर प्रभाव पड़ा कि वे रोगग्रस्त हो गये और उन्होंने खाट पकड़ ली। डर के मारे उन्होंने घर भी कुछ न लिखा। अंत में उनके पितृव्य को इनकी स्थिति ज्ञात हुई और

वे काशी आये। काशी में इनकी दयनीय दशा देख कर उन्हें मार्मिक कष्ट हुआ। वे उसी दिन अयोध्यासिंह को लेकर निजामाबाद चले गये। अयोध्यासिंह लगभग ६ महीने ही काशी रह कर अंग्रेजी पढ़ सके। इसके बाद स्वस्थ होने पर उन्हें किसी ने काशी जाकर पढ़ने की आज्ञा न दी। फलतः वे घर पर ही संस्कृत और फारसी का अध्ययन करने लगे।

अयोध्यासिंह जिन दिनों मिडिल में पढ़ते थे उन्हीं दिनों स्कूल के मौलवी जनाब इमाम अली साहब से फारसी भी पढ़ते रहे। उनके पितृव्य घर पर संस्कृत पढ़ाते रहे। काशी से लौटने के बाद संस्कृत और फारसी की शिक्षा की सुव्यवस्थित रूप से व्यवस्था हुई। संस्कृत में प्रधानतः उनके पितृव्य ने उन्हें ज्योतिष की शिक्षा दी, परंतु ज्योतिष के साथ ही व्याकरण और साहित्य का भी उन्होंने अध्ययन किया। व्याकरण में सारस्वत और चन्द्रिका, स्मृति ग्रंथों में मनु और याज्ञवल्क्य, पुराण ग्रंथों में भागवत और विष्णु पुराण और काव्य-ग्रंथों मे रामायण तथा महाभारत का इन्होंने गहन अध्ययन किया।

निजामाबाद मे मुंशी राम प्रहलाद नामक एक सज्जन थे जो फारसी के बड़े अच्छे विद्वान थे। मुंशी राम प्रहलाद से अयोध्यासिंह ने फारसी पढ़नी प्रारंभ की। फारसी में इन्होंने क़वायद की किताबों, सिकन्दरनामा, बहारदानिश और रुक्कात की पुस्तकों के अतिरिक्त दीवाने ग़नी और दीवाने हाफिज़ का अध्ययन किया। संस्कृत और फारसी की यह शिक्षा लगभग पाँच वर्षों तक चलती रही। इन भाषाओं की शिक्षा के साथ ही अयोध्यासिंह ने गुरुमुखी तथा कई अन्य भाषाओं के काव्य तथा पिंगल संबंधी ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। गुरुमुखी की शिक्षा उन्हें अपने पितृव्य से ही प्राप्त हुई।

****

साहित्यिक जीवन का सूत्रपात

बाबा सुमेरसिह सुकवि और विद्वान पुरुष थे। निजामाबाद उनकी जन्मभूमि थी। उन्होंने भाषा मे लगभग पचीस-तीस ग्रंथों की रचना की थी। बाबा जी सिख सम्प्रदाय के गुरु थे और जीवन के अन्तिम दिनों में पटना स्थित हरिमंदिर जी नामक संगत के महंत हो गये थे। निजामाबाद स्थित गुरुद्वारे के वे प्रधान व्यवस्थापक थे। बड़े ही रसिक और सहृदय व्यक्ति थे। नित्य प्रति संध्या समय उनकी देख रेख में गुरुद्वारा में साहित्य गोष्ठी और विचार गोष्ठियों का आयोजन होता था। इन गोष्ठियों मे अधिकतर धार्मिक और सांस्कृतिक विषयों पर विचार विनिमय होता था। कस्बे के सभी प्रतिष्ठित पढ़े लिखे लोग इन सभाओं में सम्मिलित होते थे।

सन् १८७९ मे अयोध्यासिह ने मिडिल की परीक्षा पास की। उसी वर्ष की बात है एक दिन बाबा जी के यहाॅ सांध्य गोष्ठी का आयोजन था। अयोध्यासिह भी अपने पितृव्य के साथ उस गोष्ठी में सम्मिलित होने के लिए गये। आज की सभा में काव्य चर्चा की विशेषता थी। रामायण की कितनी चौपाइयाँ पढ़ी गयीं

और उनके विलक्षण अर्थ कहे गये। बिहारी के दोहों पर नाना प्रकार के वाक्-विलास हुए। इसी बीच भाई भगवानसिंह नामक एक सिख ने सिखों के आदि ग्रंथ साहब का निम्न-लिखित पद्य पढ़ा :—

'कह कबीर खोजो असमान।
राम समान न देखो आन॥'

और सभा में उपस्थित सज्जनों से प्रश्न किया कि प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त हुए 'असमान' शब्द का क्या अर्थ और भाव है?'

सभा में उपस्थित एक सज्जन ने कहा 'असमान' शब्द का अर्थ आकाश है, और भाव यह है कि कबीर साहब कहते हैं कि मैंने खोजने में अत्यधिक परिश्रम किया, परन्तु राम के समान मुझको कोई दूसरा नहीं दीख पड़ा। यह बोल चाल की बात है कि जिस वस्तु के खोजने में बहुत परिश्रम किया जाता है उसके लिए कहा जाता है कि 'आकाश पाताल छान डाले गये', और लोगों ने भी अपने अपने हृदय के भावों को इसी प्रकार व्यक्त किया।

अयोध्यासिंह लोगों की विवेचना सुनते रहे। उन्होंने अपने पितृव्य से कहा—'मैं भी इस संबंध मे कुछ कहना चाहता हूँ।' पितृव्य ने उन्हें अपने विचार व्यक्त करने की आज्ञा दे दी। बाबा जी ने भी बड़े ध्यान से अयोध्यासिह की बातें सुननी प्रारंभ की। अयोध्यासिह ने कहा—'असमान' का अर्थ आकाश तो ठीक है परन्तु जो भाव बतलाया गया है उसके अतिरिक्त मेरे विचार में एक भाव और आता है। समस्त स्वर्ग आकाश मे है। बैकुण्ठ भी आकाश में है। इसलिए जितने बड़े-बड़े देवता हैं उन सब लोगों के निवास का स्थान आकाश ही है। इस लिए कबीर साहब के कहने का भाव यह है कि पृथिवी की कौन

कहे मैंने बड़े-बड़े देवतों के निवासस्थान आकाश को भी खोज डाला परन्तु वहाँ भी राम के समान कोई दूसरा नहीं दीख पड़ा। बाबा सुमेरसिंह उनकी बातों को सुनकर अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने उन्हें अपने पास बुलाकर बैठा लिया। उसी दिन से बाबा सुमेरसिंह ने अयोध्यासिंह को अपने पुस्तकालय की पुस्तकों के अवलोकन करने की आज्ञा प्रदान की।

बाबा सुमेरसिंह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अभिन्न मित्रों में से थे। भारतेन्दु जी द्वारा प्रकाशित 'कवि वचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' नामक पत्रिकाएँ नियमपूर्वक बाबा जी के पुस्तकालय में आती थी। भारतेन्दु जी के समस्त ग्रंथ भी उनके पुस्तकालय मे थे। अयोध्यासिंह ने पुस्तकालय की पुस्तको और पत्रिकाओं का बड़े चाव से अध्ययन प्रारंभ किया। इन पत्र पत्रिकाओं के अध्ययन के फलस्वरूप अयोध्यासिंह हिन्दी भाषा की ओर आकर्षित हुए। शिक्षालय से जब वे मिडिल की शिक्षा समाप्त कर चुके उसके उपरान्त पाँच वर्षों तक संस्कृत और फारसी भाषा के अध्ययन के साथ ही वे बाबा जी के पुस्तकालय की पुस्तकों का गहन अध्ययन करते रहे। उस पुस्तकालय मे उन्हें बहुत विचित्र ग्रन्थों के देखने का अवसर प्राप्त हुआ।

करुणा की मूर्ति माता के संस्कारों की छाप तो उन पर पड़ ही रही थी। अयोध्यासिंह जब सात-आठ वर्ष के हो गये और पढ़ने लिखने लगे तो वे अवकाश के क्षणों में उन्हें अपने पास बैठातीं और रामायण तथा सुखसागर का पाठ कराती थीं। वे मार्मिक स्थलों को सुनकर प्रेम विह्वल होकर रुदन करने लगती थीं। अयोध्यासिंह पर अपनी माता की कारुण्य मूर्ति का चिरस्थायी प्रभाव पड़ा।

उनके पितृव्य भगवत भक्त थे। उन्हें श्रीमद्भागवत से बड़ा प्रेम था। वे प्रायः श्रीमद्भागवत के श्लोकों को पढ़ते-पढ़ते प्रेम-विह्वल हो जाते और गद्गद चित्त से उन श्लोकों का अर्थ अयोध्यासिंह को सुनाया करते थे। एक ओर उन्हें बाबू हरिश्चन्द्र के काव्य सरोज-मकरंद का पान करने का अवसर मिला दूसरी ओर संस्कारों की अमिट छाप ने उनके हृदय को कृष्ण की अपूर्व भक्ति से प्लावित कर दिया। अतः कोई आश्चर्य नहीं जो उनके अंतर में भगवान कृष्ण का अनुराग अंकुरित हुआ।

कृष्ण के प्रति उत्कट अनुराग के फलस्वरूप सन् १८८२ में अयोध्यासिंह की प्रथम कविता पुस्तक 'कृष्ण-शतक' प्रकाशित हुई। कृष्ण की आराधना मे ही उन्होंने दो नाटकों—श्री रुक्मिणी परिणय और प्रद्युम्न विजय व्यायोग—की रचना की। ये दोनों नाटक क्रमशः १५ अप्रैल सन् १८८५ और ३० जुलाई सन् १८८६ में प्रकाशित हुए।

बाबा सुमेरसिंह के सत्संग का अयोध्यासिंह पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे उनके साथ कई बार बाबू हरिश्चन्द्र का दर्शन करने के लिए काशी भी आये। उन्हें भारतेन्दु जी के कवि दरबार में सम्मिलित होने के कई अवसर प्राप्त हुए। एक बार कवि दरबार में बेनी कवि की कविता पर मुग्ध होकर जब भारतेन्दु जी ने उन्हें अपना बहुमूल्य दुशाला ओढ़ा दिया था तब उनकी कविता से आह्लादित होकर बाबाजी ने अपनी उँगली से अँगूठी निकालकर उन्हें पहना दी थी।

बाबा सुमेरसिंह ने ही अयोध्यासिंह को काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त किया। उन दिनों काशी में कवि मंडल और कवि-समाज नामक संस्थाएँ थीं। वे इन संस्थाओं के सदस्य रहे। ये

गोष्ठियाँ समस्याएँ देती थीं और उन समस्याओं की पूर्ति कर कविगण भेजा करते थे। अयोध्यासिंह भी नियमतः समस्याओं की पूर्ति कर भेजा करते थे।

बाबा सुमेरसिंह और बेनी कवि में बड़ी घनिष्ठता थी। वे जब कभी काशी आते या जब कभी बेनी कवि निजामाबाद आते तब काव्यचर्चा का रस-स्रोत उमड़ पड़ता था। बेनी कवि बड़े ही सुकंठ थे और बड़े हाव भाव के साथ अपनी रचनाओं का पाठ करते थे। बाबा सुमेरसिंह का उपनाम 'सुमेर हरि' था। उन्हीं की देखादेखी और उनकी सम्मति से अयोध्यासिंह ने भी अपना नाम 'हरिऔध' रखा था। ब्रज भाषा की कविताओं में वे 'औधहरि' भी लिखा करते थे। 'हरिऔध' नाम की सार्थकता निम्न प्रकार से है:—अयोध्या = औध + सिंह = हरि। बाबाजी जब तक निजामाबाद में रहे वे बड़े प्रेम से अयोध्यासिंह को प्रोत्साहन देते रहे।

बाबाजी बड़े ही रसिक व्यक्ति थे। उनमें बड़ी शौकीनी थी। वृद्धावस्था में जब उनका स्वास्थ्य अत्यधिक गिर गया तब वे पटना से पुनः निजामाबाद आ गये। जीवन के अन्तिम क्षणों को वे अपनी जन्मभूमि में ही व्यतीत करना चाहते थे। जीवन के संध्या काल में वे निजामाबाद आये और कुछ दिनों के बाद ही वे स्वर्गवासी हुए। उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर बेनी कवि भी निजामाबाद पहुँचे और जिस समय गुरुद्वारे के सम्मुख उनका शव अन्तिम दर्शनों के लिए रखा गया उस समय बेनी कवि का हृदय भर आया और अवरुद्ध कण्ठ से उन्होने पढ़ा:—

'राग कीने, रंग कीने तरुनी प्रसंग कीने,
हाथ कीने चीकने सुगंध लाय चोली में।

देह कीने गेह कीने सुंदर सनेह कीने,
बासर वितीत कीने नाहक ठठोली में ॥
बेनी कवि कहै परमारथ न कीने मूढ़,
दिना चार स्वाँग सो दिखाय चले होली में।
बोलत न डोलत न खोलत पलक हाय,
काठ से पड़े है आज काठ की खटोली में ॥'

बड़ा कारुणिक दृश्य उपस्थित हो गया। सबकी आँखें निर्झर के समान प्रवाहित हो उठीं। निजामाबाद यदि भौतिक शरीर था तो बाबा सुमेरसिंह आत्मा थे। उनके प्रयाण ने कस्बे को बड़ा धक्का पहुँचाया। साहित्य-गोष्ठियों की परम्परा सदा के लिए समाप्त हो गयी। उनका अद्वितीय पुस्तकालय कुछ दिनों तक वर्तमान रहा परंतु धीरे धीरे वह भी नष्ट हो गया।

अयोध्यासिंह के जीवन पर तीन व्यक्तित्वों का प्रभाव पड़ा था। माता, पितृव्य और बाबा सुमेरसिंह। यदि उनकी माता ने कवित्वमय जीवन का बीज डाला तो उस बीज को पल्लवित करने में उनके पितृव्य ने योग दिया और बाबा सुमेरसिंह ने चतुर माली के समान उस कवित्व शक्ति को पुष्पित होते देखा।

****

जीवन यज्ञ की भूमिका

श्री विष्णुदत्त मिश्र बलिया स्थित सिकन्दरपुर नामक कस्बे के निवासी थे। सत्रह वर्ष की अवस्था में अयोध्यासिंह का विवाह उनकी पुत्री श्रीमती अनन्तकुमारी से हुआ। विवाह के दो वर्ष उपरान्त १९ वर्ष की अवस्था में इनका द्विरागमन हुआ। जब वधू घर में आ गयी तब इनके अभिभावकों, विशेषतः पिता को इनकी जीविका की चिन्ता हुई। श्री भोलासिंह बड़े ही महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे। वे चाहते थे कि उनके पुत्र को आजमगढ़ में कचहरी में कोई अच्छा कार्य मिल जाये। उन्होंने बड़ी दौड़-धूप की, परंतु परिश्रम सफल नहीं हुआ। तहसीली स्कूल के प्रधान अध्यापक पंडित रामवर्ण उपाध्याय अयोध्यासिंह को बड़े स्नेह की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने उद्योग कर और उनके पिता की अनुमति लेकर तहसीली स्कूल में ही अतिरिक्त अध्यापक के पद पर उनकी नियुक्ति करा दी। १६ जून १८८४ से उन्होंने अध्यापकी का कार्य प्रारंभ किया। पंडित रामवर्ण जी इन्हें भी पढ़ा चुके थे अतः वे अपने शिष्य की सुविधा का हर प्रकार से ध्यान रखते थे। रामवर्ण जी योग्य अध्यापक तो थे ही, उन्हें प्रशासन का भी

अच्छा अनुभव था। अयोध्यासिंह ने उनसे ज्ञानार्जन तो किया ही साथ ही शासन-संबंधी भी अनेक बातें सीखीं। अध्यापन का कार्य प्रारंभ करने के फलस्वरूप अयोध्यासिंह के स्वाध्याय में व्याघात पहुँचा। फिर भी वे ६ वर्षों तक इसी स्कूल में अध्यापकी करते रहे। सन् १८८७ में उन्होंने नार्मल परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

श्याम मनोहर दास उन दिनों विद्यालयों के उपनिरीक्षक थे। वे बड़े ही भाषानुरागी सज्जन थे। पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र के सम्पादकत्व में काशी से 'काशी पत्रिका' प्रकाशित होती थी। इस पत्रिका में उर्दू में 'वेनिस का बाँका' और 'रिपवान विकल' नामक दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। बाबू श्याम मनोहर दास की यह बड़ी इच्छा थी कि इन दोनों उपन्यासो का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो। उनकी यह भी आकांक्षा थी कि समय समय पर इस पत्रिका में प्रकाशित होने वाले लेखों का भी हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकाशित हो। अयोध्यासिंह को उन्होंने इस कार्य के लिए चुना। पहले अयोध्यासिंह यह न समझ सके कि उर्दू से हिन्दी अनुवाद का क्या अर्थ होता है। परन्तु उनके विशेष आग्रह पर इन्होने उक्त उपन्यासो का हिन्दी अनुवाद किया। बाबू साहब की आज्ञानुसार अयोध्यासिंह ने कुछ निबंधों का भी हिन्दी भाषा में अनुवाद किया जो नीति निबंध के नाम से ५ दिसम्बर सन् १८८८ में प्रकाशित हुआ। उनके उपर्युक्त दोनों उपन्यास भी सन् १८८८ में ही प्रकाशित हुए।

बाबू श्याम मनोहर दास ने प्रसन्न होकर पूछा—'आप इन कार्यों के लिए क्या पुरस्कार चाहते हैं?' अयोध्यासिंह के हृदय में भी सरकारी नौकरी की आकांक्षा थी। उन्होंने अपनी इच्छा

व्यक्त की। श्याम मनोहर दास जी का उन दिनों सरकारी क्षेत्र में पर्याप्त प्रभाव था। उन्होंने आजमगढ़ के कलक्टर के नाम एक पत्र लिखकर अयोध्यासिंह को दिया और कहा कि आप शनिवार के दिन उनसे जाकर अवश्य मिलिए।

निजामाबाद के कायस्थ परिवार के एक मुंशी जी कलक्टर साहब के पेशकार थे। अयोध्यासिह उन्हें चाचा कहा करते थे। श्याम मनोहर दास का पत्र जब उन्हें प्राप्त हो गया तब वे मुंशी जी के पास गये और कहा कि चाचा अब यदि आप थोड़ी सी सहायता कर दे तो मुझे भी सरकारी नौकरी प्राप्त हो जाय। मुंशी जी बिगड़ खड़े हुए और उन्होंने बड़े ही उपहासात्मक रूप से कहा—'अरे पंडित, नौकरी तो कायस्थों का जन्मसिद्ध अधिकार है। तुम तो ब्राह्मण हो। पूजा पाठ करो, यही तुम्हारे लिए सर्वोत्तम है। नौकरी के पचड़े में मत पड़ो। मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता।'

अयोध्यासिह, मुंशी जी की बातें सुन कर बड़े दुखी हुए परंतु उन्होंने कलक्टर से मिलने का निश्चय कर ही लिया। शनिवार के दिन वे कलक्टर के बंगले पर पहुँचे। दुर्भाग्यवश मुंशी जी वहीं थे। वे तड़प उठे—'अयोध्यासिह, यहाँ से भाग जाओ। तुम्हें सरकारी नौकरी कदापि नहीं मिल सकती।'

अयोध्यासिंह वहाँ से खिसक गये और साहब के आने की बाट जोहने लगे। थोड़ी देर बाद वह अंग्रेज बाहर आया और ये छूटे तीर की भाँति उसके पास पहुँचे और श्याम मनोहर दास जी का पत्र उसके हाथ में दे दिया। साहब ने उस पत्र को पढ़ा और अयोध्यासिह की ओर देखकर कहा 'अच्छा तुम सोमवार के दिन प्रातःकाल हमारे बंगले पर आना। मैं तुम्हें सहायता

देने का प्रयत्न करूँगा।' अयोध्यासिह अत्यंत कृतज्ञ भाव से वहाँ से विदा हुए।

मुंशी जी कलक्टर साहब की बातें सुनते रहे। अयोध्यासिह के जाते ही वे उनके पास पहुँचे और कहा—'हुजूर, यह ब्राह्मण फारसी जानता ही नही। यह कचहरी के काम के लिए पूर्णतः अनुपयुक्त है। मैं इसे भली भाँति जानता हूँ। यह हमारे गाँव का रहनेवाला है, और हमारा पड़ोसी है।

कलक्टर साहब मुंशी जी की बातें सुनते रहे। उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। सोमवार के दिन प्रातःकाल अयोध्यासिह कलक्टर साहब के बंगले पर पहुँचे। मुंशी जी बरामदे में ही चक्कर लगा रहे थे। उन्हें देखते ही आँखें तरेरकर कहा—'अच्छा, तुम आ गये। मैं देखता हूँ तुम्हें कैसे सरकारी नौकरी मिलती है।' अयोध्यासिह ने कहा—'चाचा, आप तो व्यर्थ में रुष्ट हो रहे हैं। मैंने आपका क्या बिगाड़ा है। मैं तो आपका बच्चा हूँ।'

मुंशी जी कुछ न पसीजे। वे तने ही रहे। साहब ने अयोध्यासिंह को कमरे में बुलाया और कहा—'पंडित, तुम फारसी नहीं जानते अतः तुम्हें सरकारी नौकरी नहीं दी जा सकती। बिना फारसी के सरकारी काम-काज तुम कैसे कर सकोगे। मुझे दुख है कि मैं तुम्हारी सहायता नही कर सकता।'

अयोध्यासिह ने कहा—'हुजूर, कौन कहता है कि मैं फारसी नहीं जानता। मैं भली भाँति फारसी जानता हूँ। सामने खड़े मुंशी जी की ओर संकेत करते हुए उन्होंने पुनः कहा—'आप हमारे चाचा हैं इन्हीं से कह दें मुझे फारसी में इमला बोलें। यदि मैं उत्तीर्ण हो जाऊँ तो मुझे जगह दें।'

कलक्टर साहब क्रोध से लाल हो गये। उन्होंने बड़े तीव्र

स्वर में कहा—'अच्छा पंडित, तुम फारसी जानते हो। हमारा यह मुंशी तो कहता था कि तुमको फारसी नहीं आती। यह बड़ा झूठा है।'

मुंशी जी को काटो तो खून नहीं। वे हक्के बक्के हो गये। वे कुछ बोल न सके।

कलक्टर साहब ने कहा—'मुंशी, तुम पंडित को इमला बोलो। मैं यह देखना चाहता हूँ कि तथ्य क्या है।'

मुंशी जी ने फारसी के क्लिष्ट वाक्यों का उच्चारण प्रारंभ किया। अयोध्यासिंह शान्त भाव से लिखते रहे। उनकी हस्तलिपि बड़ी ही सुन्दर थी। उन्होंने मुंशी जी के द्वारा बोले गये वाक्यों को बड़े ही शुद्ध रूप में लिखा। कलक्टर ने जब कापी देखी तो बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने उनकी पीठ ठोंकी। कलक्टर साहब ने उन्हें सन् १८८९ में कानूनगोई की परीक्षा में सम्मिलित होने की अनुमति प्रदान कर दी। वे परीक्षा में बैठे और बड़ी ही सफलता के साथ उत्तीर्ण हुए।

संयोग की बात श्री धनपति लाल सदर कानूनगो थे। मुंशी जी विद्यानुरागी व्यक्ति थे। उन्हें हिन्दी भाषा से बड़ा प्रेम था। पंडित प्रतापनारायण मिश्र का 'ब्राह्मण' नामक मासिक पत्र बड़े धूमधाम से प्रकाशित होता था। इस पत्र में उन्होंने 'वेनिस का बाँका' की बड़ी सुन्दर आलोचना प्रकाशित की। धनपति लाल जी उस आलोचना को पढ़कर अयोध्यासिंह की ओर आकर्षित हुए। उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि अयोध्यासिंह ने कानूनगोई की परीक्षा पास कर ली है तब उन्हें बुलाया और कुछ समय के लिए रिक्त होने वाले कानूनगोई पद के लिए आवेदन-पत्र देने के लिए कहा। अयोध्यासिंह हर्ष से फूल उठे। कलक्टर साहब के

द्वारा ही नियुक्ति होने वाली थी। वे इनसे प्रभावित थे ही। धनपति लाल जी की संस्तुति देख कर उन्होंने अयोध्यासिंह को नवम्बर सन् १८८९ में अस्थायी कानूनगोई के पद पर नियुक्त कर दिया। वे इस पद पर मार्च १८९० तक कार्य करते रहे। यतः पद अस्थायी था अतः उन्हें अप्रैल १८९० में पुनः अपने अध्यापकी कार्य के लिए आना पड़ा। अध्यापक के रूप में अधिक दिनों तक वे कार्य न कर सके। जुलाई १८९० में पुनः वे अस्थायी नायब सदर कानूनगो नियुक्त हुए। इसके बाद वे सदा के लिए निजामाबाद से पृथक हो गये। जनवरी सन् १८९१ में वे स्थायी रूप से रजिस्ट्रार कानूनगो नियुक्त हुए और आजमगढ़ स्थित सगड़ी तहसील में उनकी नियुक्ति हुई। इस प्रकार जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव देखने के उपरान्त अयोध्यासिह ने जीवन के कर्मक्षेत्र में प्रवेश किया।



****

साहित्यिक जीवन में प्रगति

पंडित अयोध्यासिंह जी की भगिनी श्रीमती आनन्दी देवी का विवाह आजमगढ़ शहर में हुआ था। उनके पति पंडित जगन्नाथ प्रसाद तिवारी आजमगढ़ के एक प्रतिष्ठित व्यवहार-कुशल और स्नेही व्यक्ति थे। हरिऔध जी की भगिनी का अपने भाई पर अगाध स्नेह था। वे उनसे ६ वर्ष छोटी थीं। हरिऔध जी जब आजमगढ़ में नायब सदर कानूनगो नियुक्त हुए तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। सन् १८९१ में वे इस पद पर नियुक्त हुए और लगभग ३ वर्षों तक कार्य करते रहे। श्रीमती आनन्दी देवी के विशेष आग्रह के कारण हरिऔध जी अपने बहनोई के निवासस्थान पर रहने लगे। यतः उनकी भगिनी अपने भाई के स्वभाव से पूर्णतः परिचित थीं अतः हरिऔध जी के लिए उनके यहाँ सुख सुविधा की पूर्ण रूप से व्यवस्था हो गयी।

पंडित जगन्नाथ प्रसाद जी तिवारी का निवासस्थान आजमगढ़ के सदावर्ती मुहल्ले में स्थित है। वहीं पड़ोस में, उन दिनों बाबू तारणी चरण मित्र मुस्तफा नाम के एक बंगाली सज्जन रहते थे। मुस्तफ़ा साहब डाकखाने में तार बाबू थे। उन्हें बँगला

का बड़ा अच्छा अभ्यास था। साहित्यिक रुचि भी पायी थी। हरिऔध जी की ज्ञान पिपासा अत्यंत जागरित थी। मुस्तफ़ा साहब जाति के कायस्थ थे। वे बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ हरिऔध जी का चरण स्पर्श करते थे। बड़ी दीनता और विनम्रता के साथ सम्मुख आते और स्पर्शास्पर्श से दूर भागते। हरिऔध जी उन्हे कितना ही समझाते कि मैं इतना छुआछूत नहीं मानता फिर भी वे अपने को दूर रखते। वे कहा करते थे कि बंगाल मे हम लोग शूद्र समझे जाते हैं और हमारे साथ शूद्र के समान ही व्यवहार किया जाता है।

हरिऔध जी मुस्तफा साहब की बातें न मानते और उन्हें अपने पास पकड़कर बैठा लिया करते थे। इन मुस्तफ़ा साहब के अनुग्रह से उन्होंने बॅगला का अध्ययन प्रारंभ किया। बॅगला भाषा सीखने में हरिऔध जी को दो तीन महीने ही लगे। धीरे धीरे उनका अभ्यास बढ़ता गया और वे बॅगला साहित्य पढ़ने में तल्लीन होने लगे। मुस्तफ़ा साहब के पास भी बॅँगला-साहित्य का सुन्दर संग्रह था। इन्हीं दिनों हरिऔध जी ने बॅँगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिम बाबू के उपन्यासों का अध्ययन किया। उनके अपूर्व और लोकोत्तर उपन्यासों का उनके हृदय पर विचित्र प्रभाव पड़ा। इन उपन्यासों ने तथा बॅगला-साहित्य ने उनके जीवन का नवीन अध्याय प्रारंभ किया।

पंडित प्रताप नारायण मिश्र जी के सुप्रसिद्ध 'ब्राह्मण' पत्र मे हरिऔध जी के लेख प्रकाशित हुआ करते थे। उन लेखों को देखकर तथा बाबा सुमेरसिंह से परिचय प्राप्त कर खड्गविलास प्रेस के स्वामी बाबू रामदीनसिंह जी ने हरिऔध जी से पत्र-व्यवहार प्रारंभ किया। जिन दिनों वे अध्यापक थे उन्हीं दिनों

उन्होंने फारसी के 'गुलज़ार दबिस्ताँ' का 'विनोद वाटिका' और 'अष्टम बाब गुलिस्ताँ' का 'उपदेश कुसुम' नाम से अनुवाद किया। हरिऔध जी ने 'फिसाना अजायब' का भी पद्यबद्ध अनुवाद किया। ये ग्रन्थ क्रमशः १६ मई १८९९, ११ जुलाई १९०१ में प्रकाशित हुए।

बाबू रामदीनसिह बड़े ही उदार और साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे। हरिऔध जी से पत्राचार नियमतः होता रहा। दोनों में बड़ी घनिष्ठता हो गयी। बाबू रामदीनसिह ने हरिऔध जी के साथ अपना मैत्री-संबंध जीवन भर निबाहा। उन्हीं के आग्रह से हरिऔध जी ने अपने अध्यापकी जीवन के समय अंकगणित की पुस्तक लिखी जो बहुत दिनों तक बिहार प्रान्त में प्रचलित रही। ठाकुर साहब के आग्रह पर उन्होंने बँगला के 'कृष्ण-कान्तेर उदूंल' नामक उपन्यास का हिन्दी में अनुवाद किया। यह उपन्यास 'कृष्णकान्त का दानपत्र' नाम से खड्गविलास प्रेस से ही छपा। इस उपन्यास का प्रथम संस्करण ३१ अगस्त १८९८ में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास के उपरान्त हरिऔध जी ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की 'चरितावली' का हिन्दी मे अनुवाद किया। यह पुस्तक भी 'चरितावली' नाम से ३० अगस्त १८९९ को प्रकाशित हुई। इसी वर्ष ठाकुर साहब के ही प्रेस से 'रिपवान विकल' भी प्रकाशित हुआ।

इन ग्रन्थों के प्रकाशन के बाद एक दिन बाबू रामदीनसिह का हरिऔध जी को एक वृहत् पत्र प्राप्त हुआ। इस पत्र में बाबू साहब ने डाक्टर ग्रियर्सन की इच्छानुसार ठेठ हिन्दी में एक पुस्तक लिखने का आग्रह किया था। डाक्टर ग्रियर्सन की यह इच्छा थी कि ठेठ हिन्दी में ऐसी पुस्तक का निर्माण हो जिसमें

हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा के शब्दों का प्रयोग न किया गया हो।

डाक्टर ग्रियर्सन की इच्छानुसार तथा रामदीनसिंह जी के आग्रहानुसार हरिऔध जी ने ३० मार्च सन १८९९ में ठेठ हिन्दी में एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक का नाम 'ठेठ हिन्दी का ठाट' है। यह पुस्तक इसी वर्ष प्रकाशित हुई। बाबू रामदीन-सिंह तो इस पुस्तक से प्रभावित हुए ही, डाक्टर ग्रियर्सन भी बड़े ही प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रयत्न कर इस पुस्तक को 'इंडियन सिविल सर्विस' के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करा दिया। डाक्टर ग्रियर्सन भी हरिऔध जी के प्रशंसकों में हो गये। वे भी इनकी प्रतिभा से प्रभावित हुए। डाक्टर ग्रियर्सन और हरिऔध जी का पत्राचार प्रारंभ हुआ। डाक्टर ग्रियर्सन ने हरिऔध जी के कार्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए ठेठ हिन्दी में एक बड़ी पुस्तक लिखने का अनुरोध किया। बाबू रामदीनसिंह की भी इच्छा हुई कि ठेठ हिन्दी मे एक और बड़ी पुस्तक तैयार हो जाय।

डाक्टर ग्रियर्सन की इच्छानुसार हरिऔध जी ने ५ अक्तूबर १९०५ में ठेठ हिन्दी में, 'अधखिला फूल' नामक एक उपन्यास लिखा। यह उपन्यास १९०५ मे खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ। १९०५ मे ही एक दुखद घटना हुई। जिन दिनों हरिऔध जी का 'अधखिला फूल' खड्गविलास प्रेस में छप रहा था उन्हीं दिनों बाबू रामदीनसिह बहुत भयंकर रूप से बीमार पड़े और स्वर्ग-वासी हुए। जिस समय बाबू साहब का स्वर्गवास हुआ उस समय हरिऔध जी भी पटने में ही थे। बाबू साहब ने बड़े ही कातर शब्दों में हरिऔध जी से मित्र का संबंध निभाने की प्रार्थना की और कहा कि वे उनके पुत्र रामरणविजयसिह को

अपने पुत्र के समान ही समझें और जीवन भर मार्ग-प्रदर्शन करते रहें।

बाबू साहब के पुत्र रायबहादुर बाबू रामरणविजयसिंह ने हरिऔध जी को सदा अपने पूज्य पिता के समान ही श्रद्धा की दृष्टि से देखा। वे हरिऔध जी को पिता-तुल्य ही समझते रहे। खड्गविलास प्रेस से हरिऔध जी का बड़ा घनिष्ठ संबंध रहा। इस संबंध में अर्थ ने कभी बाधा न डाली। हरिऔध जी ने पुस्तकों से कमाने की कभी इच्छा न रखी। खड्गविलास प्रेस के स्वामियों ने भी नियमतः उन्हें कभी पुस्तकों की रायल्टी नहीं प्रदान की। हरिऔध जी ने भी कभी इसका आग्रह नहीं किया। यह अवश्य था कि जब कभी वे पटना जाते थे तब उनका बड़ा आदर सत्कार होता था। चलते समय भव्य रूप से बिदाई हो जाती थी। इतना ही हरिऔध जी के हृदय को प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त था।

हरिऔध जी की ठेठ हिन्दी संबंधी पुस्तकों के प्रकाशन का उनकी वृत्ति पर बड़ा सुखद प्रभाव पड़ा। अधिकतर कलक्टर अंग्रेज ही होते थे। वे सब उनकी 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' नामक पुस्तकें पढ़कर भारत आते थे। जब वे आजमगढ़ पहुँचते थे तब वे हरिऔध जी से मिलने के लिए बड़े उत्सुक रहते थे। जो भी कलक्टर आता था वह सर्वप्रथम अयोध्यासिंह जी को अपने यहाँ बुलाता था और उनका बड़ी श्रद्धा से आवभगत करता था। हरिऔध जी कहा करते थे कि ये अंग्रेज अफसर उन दिनों किसी भी भारतीय अधिकारी को कुर्सी नहीं देते थे। परंतु जब कभी ये कलक्टरों से मिलने जाते थे तब उन्हें कुर्सी दी जाती थी और वे कलक्टर इनकी दुख-सुख की सब

बाते ध्यान से सुनते थे। आवश्यकता पड़ने पर इनकी सहायता भी करते थे।

बाबू रामदीनसिह के समय मे ही हरिऔध जी की और दो छोटी छोटी पुस्तिकाएँ खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित हुई। पहली पुस्तक 'प्रेम पुष्पोपहार' है। यह पुस्तक काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सभा-भवन के उद्घाटनोत्सव के अवसर पर लिखी गयी थी। यह पुस्तक १५ फरवरी १९०४ मे लिखी गयी थी और उसी वर्ष प्रकाशित हुई। दूसरी पुस्तक का नाम 'उद्बोधन' है। उद्बोधन धार्मिक भावनाओ को उत्तेजन देने के लिए लिखी गयी थी। इन निबंधो द्वारा सनातनधर्मियो को घोर निद्रा से जगाने का यत्न किया गया है।

हरिऔध जी समय समय पर जो कविताएँ करते रहे अथवा उनकी समस्यापूर्ति-सबधी कविताओ के कई सग्रह निर्मित हुए। इनमे प्रेमाम्बुवारिधि, प्रेमाम्बुप्रवाह, प्रेमाम्बुप्रस्रवण और प्रेमप्रपंच है। ये चारो सग्रह बम्बई स्थित श्री वेकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुए थे। इनका रचनाकाल सन् १८९९ है। उनकी कुछ कविताएँ 'काव्योपवन', षट्ऋतुदर्पण और शृगार सिन्दूर नाम की पुस्तको में सग्रहीत थी परतु ये पुस्तके कभी प्रकाशित नहीं हुई। बहुत दिनों बाद इन कविताओ का उपयोग 'रस कलस' में कर लिया गया। हरिऔध जी ने 'फूल जानी बेगम' और 'प्रद्युम्न पराक्रम' नामक दो उपन्यासों की रचना का भी विचार किया था। परंतु 'फूल जानी बेगम' का कोई चिह्न नही प्राप्त है। प्रद्युम्न पराक्रम के दो तीन अध्याय ही लिखे जा सके। वह भी अपूर्ण ही रह गया।

यतः हरिऔध जी की स्वतंत्र जीविका थी अतः उन्हे पुस्तको से धनार्जन की लिप्सा कभी नही हुई। अधिकतर वे अपने

मनोविनोद के लिए ही कविता की रचना करते रहे। यह वृत्ति साधना के रूप में बाद में परिणत हुई।

काशी के कवि-समाज और कवि-मंडल मे हरिऔध जी को उपस्थित होने का बहुत कम अवसर प्राप्त होता था। उनकी अनुपस्थिति में अधिकतर उनकी कविताओं का पाठ स्वर्गीय बाबू रामकृष्ण वर्मा किया करते थे। एक बार हरिऔध जी की कविताओं से प्रसन्न होकर कॉकरौली नरेश श्री गोस्वामी बालकृष्ण लाल जी ने उन्हे २०) रुपये पुरस्कार स्वरूप भेजे थे। हरिऔध जी को साहित्यिक जीवन में यह प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था।



****

परम्परा के प्रति विद्रोह और जीवन का नया दृष्टिकोण

हरिऔध की स्वाध्याय-साधना क्रमशः तपस्या के रूप में परिणत हो रही थी। सरकारी नौकरी और वह भी दौरे की उन्हें तनिक भी अवकाश प्रदान नहीं करती थी। ज्ञान की जिज्ञासा तीव्र से तीव्रतर होती जा रही थी। बँगला-साहित्य ने यदि उनकी आँखे खोल दीं तो श्री आत्माराम की अनीश्वरवाद पर लिखी पोथी ने उनके हृदय की ग्रंथियों को खोल दिया। संभवतः आत्माराम स्वतः अपनी पुस्तक से उतने प्रभावित न रहे होंगे जितने प्रभावित हरिऔध जी हुए। वे दिन भर कचहरी का कार्य करते और संध्या समय जब घर आते तब कुछ खा पीकर सो जाते। रात में अर्द्ध रात्रि के समय जग जाते और 'ध्यानावस्थित तद्गते मनसा' होकर स्वाध्याय में लीन हो जाते। सन् १९०५ तक, हरिऔध जी के कृष्ण, परम्परा से चले आते भगवान कृष्ण थे। उन्हें भगवान की संज्ञा प्राप्त थी और उनके प्रति रूढ़िवादी भक्ति की भावना थी। परंतु इसी वर्ष आत्माराम जी की पुस्तक ने हृदय में झंझावात् उत्पन्न किया और भगवान शब्द के प्रति

कुछ अनासक्ति उत्पन्न हो गयी। हरिऔध जी अनीश्वरवादी हो गये यह कहने का मैं दुस्साहस कैसे करूँ परंतु यह निश्चित है कि कृष्ण अथवा राम के प्रति जो भावना उनकी पहले रही वह समाप्त हो गयी और राम तथा कृष्ण के प्रति एक नवीन भावना का उदय हुआ।

ग़ालिब का एक शेर:—

'हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन,
दिल को खुश करने को ग़ालिब यह ख्याल अच्छा है।'

हरिऔध जी के हृदय की भावना को मूर्त रूप में व्यक्त करता है। उनकी स्वर्ग और नरक के संबंध में जो भी कल्पनाएँ रही हों वे सब ध्वस्त हो गयीं और उनके स्थान पर जीवन के नये दृष्टिकोण का निर्माण हुआ। उनके इस नवीन विश्वास ने हृदय में अडिग स्थान प्राप्त कर लिया था।

मन्दिरों और मसजिदों को वे देवालय समझते थे या नहीं इसमें संदेह है परंतु उन्हें लोक कल्याण के स्थान के रूप में वे अवश्य देखना चाहते थे। उनका विश्वास था कि इन देवालयों को ज्ञान और सेवा के केन्द्र होने चाहिये। हरिऔध जी के जीवन में भय की भावना का संचार हो चुका था। वे समाज की भावना का आदर करते थे। उन्हें सदा यह भय रहता था कि लोग उनकी भावना को ग़लत रूप में न समझ लें और उन्हें अन्यथा रूप में चित्रित न करने लगें, इसलिए वे अपनी वास्तविक भावना को बड़ी दबी जबान से कभी कभी बड़े ही अव्यक्त रूप से प्रकट करते थे।

ईश्वर के प्रति अविश्वास की भावना ने जन्म तो लिया परंतु इस भावना ने रचनात्मक जीवन को प्रोत्साहन दिया। उनके

विश्वासों में चारवाक् के विचारों के लिए कोई स्थान न था। वे समाज, जाति और व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक महत्व देने लगे। देश के प्रति सेवा की भावना का तो उनके समय मे अभी विकास ही नहीं हो सका था। देशभक्ति की तो प्रथमावस्था थी।

हरिऔध जी के जीवन मे सदाचार तथा सच्चरित्रता का ही विशेष स्थान था। वे जीवन में किसी को धोखा देना, किसी का अहित करना ही सबसे बड़ा दुष्कर्म समझते थे। हरिऔध जी से ईश्वर के संबंध में जब कोई प्रश्न करता था तब वे कभी नकारात्मक उत्तर न देते और न कभी अपना अविश्वास ही प्रकट करते थे। इस प्रश्न पर वे कभी विवाद करना ही नहीं चाहते थे। जब कभी ईश्वर का प्रश्न उठता था तब वे मौन हो जाते थे। उनका कहना था कि जिस वस्तु, जिस शक्ति के संबंध में हमारी अधिक पहुँच नहीं उसके संबंध में विवाद ही क्यों किया जाय। लोक-सेवा, दीन-हीन मनुष्यों को यथाशक्ति सहायता प्रदान करना उनके जीवन की सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक क्रिया थी।

साधारणतया द्वार पर जो कोई भी याचक के रूप में आता था उसे वे विमुख नहीं करते थे। परंतु उनका यह विचार था कि हट्टे कट्टे मनुष्यो की अपेक्षा अपंग तथा असमर्थ व्यक्तियो को ही दान दिया जाना चाहिये। वे स्वर्ग तथा नरक की अकल्पनीय उड़ानों में अपना समय नहीं नष्ट करते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि मृत्यु के बाद शरीर पंचत्व को प्राप्त हो जाता है। मनुष्य न तो स्वर्ग जाता है और न नरक। आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति है जो अनश्वर है। मृत्यु से वे अवश्य भयभीत रहते थे परंतु वे स्वर्ग-नरक-प्राप्ति की कल्पना

से चिन्तित नहीं रहते थे। उन्हें मृत्यु के अनुभव का अधिक भय रहता था।

साधु संन्यासियों के संबंध में उनकी विशिष्ट धारणा थी। उन साधुओं को वे पूर्णतः अकर्मण्य समझते थे जो बैठकर केवल माला जपते हैं और जो समाज के लिए किसी प्रकार हितकारी नहीं है। उनका विचार था कि ये साधु संन्यासी यदि चाहें तो समाज की उन्नति में अभूतपूर्व योग दे सकते है।

परम्परा और संस्कार से प्राप्त ईश्वरीय भावना तथा अलौकिक कार्यों को वे संदेह की दृष्टि से देखने लगे। वास्तव में उनके अंतर में एक विचित्र संघर्ष चल रहा था। वे मानव को सर्व गुणसम्पन्न देख रहे थे। उन्हें मानव में पूर्णता का अनुभव होने लगा था। इस द्वन्द्व का परिणाम उनके काव्यों के लिए बड़ा ही हितकर हुआ। साधारणतया श्री कृष्ण और श्री राम के कार्यों को हम अलौकिक और ईश्वरीय कहकर आँखे मूँद लेते है। उनके गुणों का हम इस लिए अनुकरण नहीं कर पाते क्योंकि वे अलौकिक लीला पुरुष थे। उनके दोषों की ओर हमारी दृष्टि जाने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि ये ईश्वरीय-शक्तियाँ दोष से परे हैं। यदि इनके चरित्र में सामाजिक दोष दीख भी पड़ता है तो वे इसलिए क्षम्य हो जाते हैं क्योंकि उन्होंने लीला के विस्तार के लिए तथा दुष्ट-दलन के लिए छल-कपट किये होंगे। इस प्रकार की धार्मिक और सामाजिक भावनाओं का ईश्वरीय शक्तियों में आरोप उन्हें कुछ जँचता न था।

उनका अपना यह व्यक्तिगत तथा दृढ़ विचार था कि यह संसार सार युक्त है और इस भूतल के प्राणी ही ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य अपने मे क्रमशः जितनी शक्ति बढ़ाता

जाता है, उसमें जितना वीतरागत्व और क्षमा, करुणा, प्रेम आदि का विकास होता जाता है वह उतना ही महान होता जाता है। भगवान कहीं वैकुण्ठ में निवास करते हैं, यह बात उन्हें कभी समझ में न आई और न उन्होंने कभी इसे समझने का यत्न ही किया।

माता और पितृव्य के साहचर्य से जो विचारधारा प्राप्त हुई थी वह धीरे धीरे छिन्न भिन्न होने लगी। परंतु एक बात है, वे राम और कृष्ण को पूर्ण मानव और लोकसंग्रही तथा सेवक के रूप मे देखने लगे। इस भावना ने उनके जीवन पर भी बड़ा गहरा प्रभाव डाला। वे स्वतः पूजा-पाठ, जप-तप के पचड़े में कभी नही पड़े। वे सद्विचार एव सत्कार्य को सबसे बड़ी पूजा और तपस्या समझते थे। किसी का रोआँ दुखाना उन्होने कभी सीखा ही न था। यहाँ तक कि अपने विरोधियों के प्रति भी उनकी दुर्भावना शीघ्र जागृत न होती थी। जहाँ तक अपनी शक्ति का प्रभाव था वे सब की—चाहे घर का हो चाहे बाहर का—सहायता करना चाहते थे। समष्टि रूप में हिन्दू जाति और व्यष्टि रूप में ब्राह्मण जाति के प्रति उनका स्नेह ममता की कोटि का था।

जब देवी देवताओं आदि में विश्वास न रहा तब तीर्थयात्रा अथवा तीर्थस्थानों के संबंध में भी उनका उदासीन भाव स्वाभाविक था। सांस्कृतिक रूप में भले ही वे किसी स्थान को महत्व दे दें परंतु धार्मिक दृष्टि से अथवा अमुक स्थान पर स्वर्गवासी होने से निश्चय ही स्वर्ग प्राप्त होगा आदि बातों में उनको तनिक भी आस्था न थी। काशी, प्रयाग को वे संस्कृति और विद्या के केन्द्र के रूप में अवश्य महत्व देते थे। महत्व ही नहीं देते थे वरन्

इन नगरों को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। परंतु जब उनसे कोई यह कहता था कि अब आपकी वृद्धावस्था है, अब आप काशी-वास करें तब वे हँसने लगते और कहते थे कि मैं स्थान को महत्व नहीं देता। यदि मैंने अच्छा कार्य किया है, किसी को कष्ट नहीं दिया है, पीड़ा नहीं पहुँचाई है, तो मेरा अवश्य कल्याण होगा। यदि मैंने जीवन भर सबका अहित किया है तो काशी-प्रयाग हमारा उद्धार नहीं कर सकते।

यही कारण था कि जीवन के अन्तिम दिनों में उनके अनुज श्री गुरुसेवक जी तथा पौत्र मुकुन्द जी ने अनेक बार उनसे काशी आकर रहने के लिए आग्रह किया परंतु वे अपने विचारों पर दृढ़ रहे। उनका यही कहना था कि मै अपनी जन्मभूमि मे ही जीवन के अन्तिम दिनों में शांतिपूर्वक रहकर जीवनलीला समाप्त करना चाहता हूँ।

यह बात भली भाँति समझ ली जानी चाहिये कि यह विचारधारा उनकी व्यक्तिगत थाती थी। परिवार के किसी सदस्य या समाज के किसी सदस्य को वे अपनी विचारधारा से न तो प्रभावित करना चाहते थे और न अपने विश्वासो का ढिंढोरा पीटकर मसीहा बनना चाहते थे। इसके विपरीत गृह मे अथवा समाज में जहाँ कहीं भी धार्मिक कृत्य होते अथवा पूजा-पाठ की व्यवस्था होती तो वे उसमें उत्साह से सम्मिलित होते और प्रारंभ से अन्त तक स्वयं उपस्थित रहते थे। कभी अपनी भावनाओं का किसी भी रूप में उन्होंने प्रचार नहीं किया।

मृत्यु के बाद शव को काशी आदि ले जाने के संबंध में भी उनके अपने विचार थे। उनका कहना था कि यह शरीर तो

पंचतत्व का है। जब प्राण विहीन हो गया तब उसमें सार ही क्या! जहाँ भी मनुष्य मरे वहीं उसका क्रिया-कर्म कर देना चाहिये। मिट्टी को इधर-उधर ले जाकर उसकी दुर्गति नहीं की जानी चाहिये। समाज के लोग इन बातों को बड़ा महत्व देते हैं परंतु जो पैसे इन सब कार्यों में व्यय होते हैं वे दीन दुखियों को दे दिये जायँ तो उनका कहीं अधिक भला हो।

हरिऔध जी के इन दृष्टिकोणों को समझने की बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि इन विचारधाराओं का उनकी रचनाओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इनके प्रकाश में जब उनकी रचनाओं का अध्ययन किया जायगा तब अनेक अस्पष्ट बातें स्पष्ट हो जायँगी। मुझे वह घटना भूली नहीं है जब कि श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' महाकवि 'हरिऔध' ग्रंथ की रचना कर रहे थे और काशी में ही हरिऔध जी के यहाँ ठहरे थे। यतः वे अधिक दिन तक काशी रहे अतः उन्हें 'हरिऔध' जी की भावनाओं का कुछ आभास प्राप्त हो गया था। एक स्थल पर कहीं उन्होंने यह लिख दिया था कि 'हरिऔध जी अनीश्वरवादी हैं।' जब हरिऔध जी को उन्होंने यह बात बतलायी तब उन्होंने इसका बड़ा विरोध किया और अपनी विचारधारा को प्रकारान्तर से समझाने का उपक्रम किया। यह सत्य है कि वे यह नहीं चाहते थे कि उन्हे कोई अनीश्वरवादी कहे। वे कहते—'मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता यह बात नहीं है। ईश्वर के रूप की जो पार्थिव कल्पनाएँ की जाती है उनसे मेरा विरोध है।' उन्हें सदा यह भय रहता था कि कहीं उन्हें लोग अनीश्वरवादी समझकर घृणा की दृष्टि से न देखने लगें। उन्हें समाज की सम्मति का बड़ा ध्यान रहता था।

****

गार्हस्थ्य जीवन और दिनचर्या

सरकारी नौकरी के कारण 'हरिऔध' जी अधिकतर आजमगढ़ में ही रहते थे। वे शनिवार की संध्या को निजामाबाद चले जाया करते थे और रविवार की संध्या अथवा सोमवार के दिन प्रातःकाल कचहरी के समय पुनः आजमगढ़ आ जाया करते थे। अधिकतर वे पालकी से घर आया-जाया करते थे। हरिऔध जी का पारिवारिक जीवन बड़ा ही सुखमय था। माता-पिता का पूर्ण स्नेह तो उन्हें प्राप्त ही था; पितृव्य के स्नेह-बंधन ने उनके जीवन को और भी अधिक सुखद कर दिया था। शिक्षा-दीक्षा का सारा श्रेय पितृव्य को ही था।

विवाह के बाद उनके जीवन का नया अध्याय प्रारंभ हुआ। श्रीमती अनन्तकुमारी बहुत पढ़ी-लिखी महिला न थीं परन्तु वे बड़ी ही व्यवहार-कुशल और दाम्पत्य जीवन के वास्तविक तत्वों को समझनेवाली विदुषी थीं। अपने पति को किस तरह सुखी रखा जा सकता है और उसके सुख-सुविधा की किस प्रकार व्यवस्था की जाती है ये गुण उनमें विशिष्टता के साथ वर्तमान थे। अपने व्यवहार से उन्होंने अपने गृह के सब सदस्यों को प्रसन्न

कर रखा था। हरिऔध जी उनके प्रेम-बंधन में दृढ़ता के साथ बँध गये। वास्तविक स्थिति तो यह थी कि वे उनसे अटूट प्रेम करते थे। उनके प्रति इनकी सच्ची प्रेमभावना थी। हरिऔध जी बचपन से ही बड़े चरित्रवान व्यक्ति थे अतः वे बड़ी निष्ठा के साथ अपना पारिवारिक जीवन व्यतीत कर रहे थे।

दुख यही था कि 'हरिऔध' जी को उनके साथ रहने का बहुत कम समय मिलता था। कचहरी की छुट्टियों के दिन ही वे घर आ पाते थे अतः उनका पारिवारिक जीवन अस्थायी रूप का था। १९ वर्ष की अवस्था होने पर उनका द्विरागमन हुआ था। इसके बाद लगभग २१ वर्षों तक उनका गार्हस्थ्य-जीवन सुखमय रहा। सन् १९०५ में उनकी धर्मपत्नी श्रीमती अनन्तकुमारी का देहान्त हुआ। श्रीमती अनन्तकुमारी को दस संतानें हुई। उनमें केवल एक पुत्र और एक पुत्री ही जीवित रहे। थोड़े दिन की रुग्णावस्था ने उनकी इहलीला समाप्त कर दी।

पत्नी के देहान्त का 'हरिऔध' जी पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। यतः पत्नी के प्रति उनका असीम प्रेम था अतः उनकी मृत्यु से उन्हे बड़ा गहरा धक्का लगा और इसी वर्ष वे बड़ी बुरी तरह बीमार पड़े। वात का बड़ा भयंकर प्रकोप हुआ और ऐसा प्रतीत हुआ कि इनकी भी इहलीला समाप्त हो जायगी। परन्तु भगवान की कृपा से इन्हें वियोग सहन की शक्ति मिली। धीरे धीरे विरह के घाव भरे और अयोध्यासिह जी स्वस्थ हुए।

'हरिऔध' जी की आठ सन्तानें मर चुकी थीं, जो दो बच्चे थे वे भी बड़े ही छोटे थे, अतः उनके श्वसुर पण्डित विष्णुदत्त जी मिश्र ने उनसे बड़ा आग्रह किया कि वें उनकी छोटी पुत्री से पुनः विवाह कर लें। उनका, मुहल्लेवालों और घरवालों का बड़ा

आग्रह हुआ परंतु 'हरिऔध' जी किसी भी स्थिति में विवाह करने को राजी न हुए और उन्होंने कहा—'जीवन में हल्दी एक ही बार चढ़ती है, दो बार नहीं।' उनकी इस दृढ़ता से उनके श्वसुर बड़े ही रुष्ट हुए और एक प्रकार से उन्होंने आना जाना भी बंद कर दिया।

हरिऔध जी के जीवन की यह बड़ी ही दुखद घटना थी। इस घटना ने उनके हृदय में छिपी करुणा की भावना को इतना उद्वेलित किया कि वह उनके हृदय से फूटकर बाहर निकल पड़ी। अपनी पत्नी के देहान्त के बाद वे काव्य की एकान्त साधना में ऐसे तल्लीन हुए कि संसार की सब सुध-बुध भूल गये। इस घटना ने उनके जीवन में और भी अनेक परिवर्तन किये।

वात-प्रकोप की भीषणता से हरिऔध जी का शरीर जर्जर हो गया। वे युवावस्था से ही अर्श के रोगी थे। इस अर्श के कारण वे दुर्बल थे ही, अब ओर भी अधिक दुर्बल हो गये। हरिऔध जी एक दुबले पतले, गेहुँए रंग और मध्यम डील के व्यक्ति थे। उनके मुखड़े पर सदैव एक प्रकार की चिन्ता का भाव परिलक्षित होता था। उनके मुख पर सदा उदासी छाई रहती थी।

पत्नी की मृत्यु के समय हरिऔध जी की अवस्था ४० वर्ष की थी। उनकी मृत्यु के उपरान्त इनके जीवन की साधना प्रारंभ होती है। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि उन्होंने अपने विधुर-जीवन का जितनी कठोरता से पालन किया उतनी कठोरता से कोई विधवा भी अपने वैधव्य-जीवन का भार वहन नहीं कर सकती। युवावस्था में और प्रौढ़ावस्था में भी 'हरिऔध' जी बहुत पान खाया करते थे। शौकीन तबीअत के आदमी थे। बहुत ही सुन्दर और अच्छे कपड़े पहनने और खाने-पीने का

शौक था, परन्तु अपनी पत्नी के देहान्त के बाद उन्होंने पान खाना पूर्णतः छोड़ दिया और उनकी हर प्रकार की शौक़ीनी समाप्त हो गयी। अधिकतर वे श्वेत वस्त्र या काले वस्त्र ही पहनने लगे। सबसे विचित्र बात यह है कि इसी दिन से उन्होंने तेल फुलेल लगाना एकदम बंद कर दिया। यहाँ तक कि मरते दम तक उन्होंने सिर में तेल नहीं लगाया।

वात-प्रकोप की बात मैं कह चुका हूँ। इस रोग के कारण उन्हें शीत से बड़ा भय लगता था। थोड़ी भी ठंढक उन्हें विचलित कर देती थी। इस भय के कारण उन्होंने नित्य प्रति का स्नान तो बंद कर दिया परन्तु गर्मियों के दिनों में तौलिये को पानी में भिगोकर वे अपने शरीर को खूब रगड़कर पोंछ डालते थे। जाड़े के दिनों में वे गर्म पानी में कपड़ा भिगोकर शरीर रगड़ते थे। इस प्रकार का ही स्नान वे करते थे। लोगों में यह भ्रम किसी प्रकार फैल गया है कि वे कभी स्नान आदि नहीं करते थे; परन्तु यह बात ग़लत है।

'हरिऔध' जी ने आहार-विहार में भी बड़ा नियन्त्रण किया। वे केवल दो समय भोजन करते थे। इसके अतिरिक्त वे किसी वस्तु का स्पर्श तक न करते थे। लगभग पाँच बजे प्रातःकाल वे नित्य प्रति उठते थे और उसके बाद शौच चले जाते थे। शौचालय में उन्हें लगभग डेढ़ घंटे का समय लगता था। उनके शौचालय का कोई प्रयोग नहीं करता था। अधिक-तर वे वहीं चिंतन करते थे। वहाँ से आने पर मंजन आदि करके वे लिखने-पढ़ने बैठ जाया करते। नौ बजे प्रातःकाल तक वे बैठकर लिखते थे और उसके बाद पुनः एक बार शौच जाते थे। शौच से आने पर वे भींगे अँगोछे से अपने शरीर को

खूब रगड़कर पोंछ डालते थे। इसके बाद भोजन करते थे। उनका भोजन अत्यंत सूक्ष्म और सादा होता था। दो फुलके, दो ग्रास भात और दाल तथा आध सेर गाय का शुद्ध दूध यही उनका दिन का भोजन था। गर्मी के दिनों में परवल और शीत ऋतु में जमीकन्द अर्थात् सूरन की भाजी खाते थे। यदि किसी दिन थाली में कोई अन्य पदार्थ रख दिया जाता था तो वे एक रोटी छोड़ दिया करते थे। रात्रि में वे ठीक ९ बजे भोजन करते थे। दो पराठे, परवल या सूरन की भाजी और आध सेर दूध यह उनका रात्रि का ब्यालू था। भोजन के समय वे जो भी पानी पी लेते थे वही पर्याप्त होता था। उसके उपरान्त वे जल का स्पर्श तक न करते थे। भीषण गर्मी के दिनों में जब मुँह सूखने लगता था तब वे कुल्ली कर लिया करते थे।

हरिऔध जी का जीवन पूर्णतः यंत्रमय था। उसमें किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं होता था। उनकी दिनचर्या अत्यधिक कठोर थी और थोड़े से भी व्यतिक्रम से उन्हें कष्ट हो जाता था।

वे बड़े ही कोमल स्वभाव के व्यक्ति थे। साधारण शीत और वात उनके शरीर पर प्रभाव डाल देता था। मुझे एक बार की घटना नहीं भूलती। उन दिनों हरिऔध जी काशी में संकट-हरण नामक स्थान में रहते थे। वहाँ अनेक काशी-निवासी हवाखोरी के लिए आया करते थे। एक दिन किसी ने कुएँ में केवड़े का फूल डाल दिया। कुएँ का जल सुवासित हो गया। प्रातःकाल हरिऔध जी ने उस कुएँ के जल से हाथ मुँह धोया। हाथ मुँह धोने के थोड़ी देर बाद उन्हें दो चार छींकें आईं और जुक़ाम हो गया। वे बहुत घबड़ा गये। इसके बाद उन्होंने उस

कुँए के जल का तब तक प्रयोग नहीं किया जब तक कि उसमें से सुवास समाप्त नहीं हो गयी।

संध्या समय कार्य से छुट्टी पाने पर वे लगभग एक दो घंटे पत्र-पत्रिकाओं का अवलोकन करते थे। काशी से प्रकाशित होने-वाला दैनिक 'आज' उनका प्रिय पत्र था। इस पत्र को आदि से अन्त तक वे अवश्य पढ़ते थे। उनकी यह धारणा थी कि अंग्रेजी पत्रों में समाचार सुव्यवस्थित रूप से प्रकाशित होते हैं। अतः वे प्रयाग से प्रकाशित होनेवाले 'लीडर' पत्र के समाचारों के शीर्षक पढ़वाकर सुनते थे और विशिष्ट घटनाओं की पूरी जानकारी प्राप्त करते थे। वे अपनी रुचि के समाचारों को कई व्यक्तियों से पढ़वाते थे और उन्हें तब तक संतोष नहीं होता था जब तक कि वे उनका सटीक अनुवाद नहीं सुन लेते थे। यदि संवाद का अनुवाद करनेवाला अनुवाद में गड़बड़ी करता था तो वे तत्काल कहते कि अमुक ने तो इस वाक्य का यह अनुवाद किया था। जब तक उनकी शंकाओं का समाधान नहीं हो जाता था तब तक उन्हे संतोष नहीं होता था।

पत्रादि अवलोकन के उपरान्त वे टहलते थे। लगभग एक मील की दूरी तक वे टहलते थे। वृद्धावस्था में जब अधिक दूर जाना कठिन हो गया था तब वे अपने निवासस्थान के सामनेवाले मैदान का ही अनेक चक्कर लगा लिया करते थे। ५॥ बजे संध्या समय वे टहलने निकलते और ६॥ बजे तक टहला करते थे।

६॥ बजे संध्या से लेकर ९ बजे रात्रि तक वे कार्यक्रमों से पूर्णतः मुक्त रहते थे और उनसे मिलने का सबसे अच्छा समय यही होता था। प्रातःकाल के समय यदि कोई अभ्यागत आ

जाता था तो उन्हें बड़ी असुविधा होती थी और वे ऐसे अभ्यागतों से शीघ्र छुटकारा पाने का यत्न करते थे। बात यह है कि इसी समय वे काव्य-प्रणयन किया करते थे।

हरिऔध जी के दैनिक जीवन की यह विशेषता थी कि उनका समय और कार्य पूर्णतः निश्चित था। जीवन के प्रारंभिक काल से लेकर अंत तक वे अपनी जीवनचर्या का कठोरता से पालन करते रहे। इस नियमित जीवन का ही परिणाम है कि उन्हें दीर्घ जीवन प्राप्त हुआ था। मृत्यु का आतंक, रोग का भय उन्हें सदा सशंकित रखता था। इनके कारण वे अपने जीवन में बड़े ही नियमित थे।

पत्नी के देहान्त के उपरान्त बड़ी कठोरता से उन्होंने ब्रह्मचर्य-जीवन का पालन किया। भोग-विलास और किसी भी प्रकार के व्यसन से अपने को सर्वथा पृथक रखा। ४० वर्ष की अवस्था से लेकर ६० वर्ष की अवस्था तक वे स्त्रियों की छाया से भी दूर भागते थे। बातचीत करने की बात तो दूर रही। उनका जीवन इतना व्यस्त था कि वे अन्य बातों की ओर ध्यान ही नहीं देते थे। व्यसन के नाम पर उन्हें काव्य का ही व्यसन था। इसमें वे ऐसे तल्लीन हुए कि उन्होंने अपने पुत्र कलत्र के भविष्य की चिंता न की और उनकी शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबंध न हो सका। काव्यरचना के समय उनकी तन्मयता समाधि की तल्लीनता थी।



गर्भावस्था में निर्जन वन में ले जाकर छुड़वा दिया। यही नहीं उन्हे इस बात की सूचना तक नहीं दी गयी कि उनके साथ ऐसा व्यवहार किया जा रहा है। क्या यही देवत्व है ? क्या यही मनुष्यता है ? जहाँ नारी की पूजा होती है, जहाँ नारी के प्रति अगाध श्रद्धा व्यक्त की जाती है वहाँ के महापुरुषों का नारी के प्रति यह व्यवहार कहाँ तक उचित कहा जा सकता है ?'

हरिऔध जी के पास उपर्युक्त तर्कों का कोई उत्तर न था। वे शांत हो उसकी बाते सुनते रहे। यह भावना उनके हृदय में जमी रही। काल पाकर वह उभड़ी और उन्होंने 'वैदेही वनवास' की रचना की। इस रचना में उन्होंने राम पर लगाये गये उपर्युक्त लांछन को धोने का यत्न किया है।

हरिऔध जी का अधिकतर समय दौरे में ही व्यतीत होता था। आठ-आठ दस-दस घंटे वे घोड़े की पीठ पर ही जमे रहते थे। कानूनगोई का काम ही ऐसा था। दिन भर या तो गाँव गाँव भटकना पड़ता था या कचहरी की चक्की में पिसना पड़ता था। ऐसे वातावरण में उन्होंने किस प्रकार साहित्य की रचना की यह आश्चर्य की बात है।

साधारणतया उन्हें किसी का शीघ्र विश्वास नहीं होता था। वे अपना कार्य किसो पर नही छोड़ते थे। जहाँ अन्य कर्मचारी अपने सहायकों को अपना उत्तरदायित्व सौंप कर चैन की वंशी बजाते थे वहाँ ये स्वतः अपने कार्यों में लगे रहते थे और किसी पर अपने कार्य का भार नही छोड़ते थे। उन्हें सदा यह सदेह रहता था कि कहीं दूसरा व्यक्ति काम में गड़बड़ी न कर दे और हमारी जीविका खतरे में पड़ जाय।

कानूनगोई आदि के पद 'ईश्वरी आय' के पद होते है।

उन दिनों इस श्रेणी के अनेक कर्मचारियों ने धन से अपना घर भर लिया परंतु हरिऔध जी ३५ वर्ष तक सरकारी नौकरी में रहे और घर मे भूँजी भाँग तक एकत्र न कर सके। इसका प्रधान कारण था भय। उन्हे भय रहता था कि कहो वे किसी मामले मे फँस न जायँ। जा कुछ कमाते थे उदार हृदय से उसे व्यय करते थे। संग्रह की ओर उनकी प्रवृत्ति न थी। वे संयुक्त परिवार मे विश्वास रखनेवाले व्यक्ति थे; जहाँ एक कमानेवाला होता है तो दस खानेवाले होते है। अपनी आय से, अपने संबंधियों, कष्ट मे पड़े मित्रों की सहायता करना वे जीवन का कार्यक्रम समझते थे।

एक बार जब उनसे मैंने पूछा था कि अपनी नौकरी के दिनो मे क्या आपने कभी उत्कोच नहीं लिया, तब उन्होंने बड़े ही स्पष्ट रूप से कहा था कि यह तो मैं नहीं कह सकता कि मैंने पूर्णतः उत्कोच नहीं लिया। परंतु यह अवश्य है कि मैंने कभी किसी से एक पैसा उत्कोच नहीं माँगा और न ही किसी को मैंने इसके लिए कष्ट दिया। मैं सब का काम सच्चाई से करता था। कभी कभी लोग प्रसन्न होकर मुझे कुछ दे दिया करते थे उसे मैं स्वीकार कर लेता था। अपने से मैंने किसी से एक पैसा भी नहीं माँगा। लेकिन इस प्रकार प्रसन्नता से देने वालों की संख्या नगण्य थी।

प्रत्येक पटवारी मास के आरंभ में अपने अफसरों को निश्चित धनराशि दिया करते थे। यह प्रथा पर्याप्त रूप में प्रचलित थी परंतु मैंने कभी किसी पटवारी को इस प्रकार की धनराशि के लिए बाध्य नहीं किया। यही नहीं, मैंने जीवन में कभी इस प्रकार का धन स्वीकार नहीं किया। हाँ, यदि कभी पटवारी

घी, दूध, या अन्य पदार्थ घर लेकर आये तो मैंने उसे अवश्य स्वीकार किया था। मैंने कभी अपने किसी सहकारी को परेशान नहीं किया। यही कारण था कि मुझे जीवन भर अपने सहकारियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहा।

संदेह ने जहाँ उन्हें सतर्कता प्रदान की थी वहीं इसके कारण उनकी परेशानियाँ भी बहुत बढ़ जाया करती थीं। किसी व्यक्ति के प्रति संदेह हो जाने पर या किसी बात में संदेह हो जाने पर वे बड़ी उधेड़ बुन मे पड़ जाते थे ओर निर्णयात्मक कार्य कठिन हो जाता था। इस संबंध में एक बड़ी मनोरंजक घटना मुझे स्मरण है।

काशी में संकटहरण नामक स्थान पर हरिऔध जी अनेक वर्षों तक रहे। उनके साथ श्री राजकिशोरदत्त त्रिपाठी नाम के एक सज्जन रहते थे। बहुत दिन नौकरी कर चुके थे। अब कानून पढ़ने के लिये काशी विश्वविद्यालय मे नाम लिखाया था। उनके भोजन और रहने की व्यवस्था उपाध्याय जी ने कर दी थी। उनके साथ ही उनका भतीजा रामाशंकर तिवारी भी रहता था। रामाशंकर तिवारी संस्कृत पाठशाला में पढ़ता था। कुछ विक्षिप्त सा था। विश्वविद्यालय के पास लंका पर व्रजगोपालदास की कपड़े की दूकान थी। उसने उनके यहाँ रात में चौकीदारी का काम स्वीकार किया था और संभवतः दो रुपये वेतन पाता था। वह अधिकतर रात में दूकान पर सोता न था; परंतु मासांत मे दो रुपये वसूल लिया करता था। एक दिन व्रजगोपालदास के यहाँ चोरी हो गयी। चोरी होने के बाद थोड़ी सरगर्मी आई और उन्होंने रामाशंकर तिवारी का पता लगाना प्रारंभ किया। रामाशंकर अब अपनी जान बचाने के फेर में था। वह लुक-छिपकर रहने लगा। एक दिन उसने व्रजगोपालदास के यहाँ

पत्र भेजा कि मैं हरिऔध जी के यहाँ रहता हूँ, आप मेरे संबंध में जो कुछ चाहें उन्ही के यहाँ कहला दे।

हरिऔध जी विश्वविद्यालय से पढ़ाकर घर लौट रहे थे। मार्ग मे ही व्रजगोपालदास ने उन्हें प्रणाम किया और रोककर सारी बाते कह सुनाई। उपाध्याय जी ने कहा कि रामाशंकर बड़ा ही बदमाश मालूम पड़ता है। वह पहले तो हमारे यहाँ अवश्य रहता था परंतु इधर बहुत दिनों से नहीं है। बात यहीं समाप्त हो गयी और हरिऔध जी घर चले आये। घर आने पर उनकी परेशानी बहुत बढ़ गयी थी।

उनके पौत्र मुकुन्ददेव जब कालेज से पढ़कर लौटे तब उन्होंने उन्हें बुलाया और सारी घटना कह डाली। मुकुन्ददेव चुपचाप सुनते रहे। थोड़ी देर बाद वे बोले—'मुकुन्द तुम्हारे पास कुछ बहुत अच्छे कपड़ है। सम्प्रति उन्हे तुम यहाँ से हटा दो और पंडित भगवतशरण उपाध्याय जी के यहाँ रख दो।' उन दिनो श्री भगवतशरण उपाध्याय हरिऔध जी के पड़ोसी थे। मुकुन्द जी, हरिऔध जी की बात समझ न सके। उन्होंने पूछा—'आपका क्या तात्पर्य है ? मैं अपने कपड़े क्यों हटा दूँ ?' तब उन्होंने कहा कि कहीं उस बनिये ने यह कह दिया कि ये सब कपड़े हमारे यहाँ के हैं तो हम लोगों पर मुकदमा चलेगा और कचहरी दौड़ते दौड़ते जान निकल जायगी। इससे हानि कुछ न हो परंतु बदनामी तो बहुत हो जायगी।

मुकुन्द जी को हरिऔध जी की बातें कुछ अजीब सी लगीं। उन्होंने कहा—'यह कदापि नहीं हो सकता। मैं अपने कपड़े नहीं हटा सकता। उसकी क्या मजाल है कि वह इन कपड़ो को अपना कपड़ा कह दे।' हरिऔध जी को उनकी दलीलो मे कुछ

भी बल न दीख पड़ा। उन्होने कहा—'तुम निरे मूर्ख हो, कठिनाइयों को कुछ भी नहीं समझते।' वे बहुत घबड़ा गये और उनके मुख से उद्विग्नता झलकने लगी। मुकुन्द जी धीरे से वहाँ से खिसक गये।

थोड़ी देर बाद हरिऔध जी ने उन्हे पुनः बुलाया और कहा —'मूर्खता मत करो हमारा कहना मानो और कपड़ों को उपाध्याय जी के यहाँ रख आओ।'

मुकुन्द जी को कुछ झुँझलाहट हुई। उन्होंने कहा–'आप घबड़ाये नहीं, जो भी कपड़े मेरे पास है उनके खरीद की रसीदे भी मेरे पास रखी हैं।' इतना सुनते ही जैसे वे कुछ हलके हुए। उन्होंने बड़ी उत्सुकता से कहा—'अच्छा तुम्हारे पास रसीदें है! लाओ मुझे दिखलाओ।' उन्होंने रसीदे लाकर हरिऔध जी के सम्मुख रख दी। हरिऔध जी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'अच्छा अब यह कठिनाई तो दूर हुई। शाबाश तुमने बड़ी बुद्धिमानी का काम किया था नहीं तो हम लोग संकट में पड़ सकते थे।'

इधर रामाशंकर हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रावासों में घूमा करता था और लंका की ओर उसने आना जाना बंद कर दिया था। आजमगढ़ के प्रतिष्ठित वैद्य श्री चन्द्रदत्त त्रिपाठी उन दिनों विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज में पढ़ते थे। वे विश्व-विद्यालय के चतुर्थ छात्रावास में रहते थे। इसी बीच वे हरिऔध जी से मिलने आये। हरिऔध जी ने उन्हें सारी घटना कह सुनाई। उन्होंने कहा—'पंडित जी, आप घबड़ाते क्यों है। वह तो रोज छात्रावास में घूमता रहता है। आप यदि कहे तो उसे पकड़कर मै ब्रजगोपालदास के हवाले कर दूँ।'

हरिऔध जी ने कहा—'पंडित जी, नहीं नहीं यह ठीक नहीं।

उससे आप यह कहें कि वह स्वतः उनके यहाँ चला जाय और स्थिति स्पष्ट कर दे। यदि वह नहीं जायगा तो पुलिस उसे गिरफ्तार करेगी और उसे तंग करेगी। गरीब ब्राह्मण है, बेचारा कष्ट मे पड़ जायगा। मुझे और कोई भय नही। भय केवल यह है कि कहीं पुलिस मेरे घर की खानातलाशी न लेने आ जाय। मेरे लिए तो यह बड़े अपमान की बात हो जायगी। लोग क्या कहेंगे! मालवीय जी सुनेंगे तो उनकी क्या धारणा होगी!' पुनः वे संदेह के जाल में फँस गये।

इस घटना के दूसरे ही दिन व्रजगोपालदास के यहाँ की चोरी का पता लग गया और माल भी प्राप्त हो गया। इस कांड में आस पास के कुछ लोग सम्मिलित थे। उन्हें पुलिस पकड़-कर ले गयी। जब सारी घटना का पूरा विवरण हरिऔध जी को प्राप्त हो गया तब कहीं उन्हें शांति मिली। उन्हे लोकापवाद का बड़ा भय रहता था। कोई उन्हें बुरा न कह दे, कोई उनके प्रति ग़लत धारणा न बना ले इसके लिए वे बड़े ही चिंतित रहा करते थे। साथ ही इस प्रकार के संदेहों के कारण अकारण उनके जीवन में कष्ट उत्पन्न हो जाया करता था। उनका ऐसा शंकालु स्वभाव था कि वे अपने को इस प्रकार की संदेहजन्य परेशानियों से दूर भी नहीं रह सकते थे।



****

स्वाभिमान तथा आत्माभिमान

हरिऔध जी अल्प आय के मध्यम श्रेणी के व्यक्ति थे। नौकरी की आय कोई बहुत अधिक न थी। उच्चतम वेतन उन्हें ९०) रुपये तक प्राप्त हुआ था। परंतु अपनी साधारण आय में वे परम सुखी थे और उन्हे पूर्ण संतोष था। कभी किसी के सम्मुख उन्होंने हाथ नही फैलाया। यह नहीं कि उन्हें आर्थिक संकटो का सामना नहीं करना पड़ा। जीवन में अनेक बार उन्हे आर्थिक संकट हुए परंतु वे बड़े धैर्य के साथ उनका सामना करते रहे। वेतन के अतिरिक्त उन्हें कुछ आय जमींदारी से भी हो जाती थी। यह आय अत्यंत अनिश्चित थी, क्योंकि जो भी असामी मालगुजारी आदि नहीं देता था वे उस पर कभी दावा नहीं करते थे। उन्हें तमादी की चिन्ता नहीं रहती थी। असामियों को वे अपने परिवार का सदस्य समझते थे; अतः उनके साथ किसी प्रकार की निर्दयता का व्यवहार कर सकना उनके लिए संभव न था।

आर्थिक अस्थिरता के होने पर भी वे अपनी पुस्तकों को बेचना या कविता, लेख आदि के लिए किसी प्रकार का पारिश्रमिक स्वीकार करना हीन वृत्ति समझते थे। हिन्दी-संसार मे इने गिने व्यक्ति हैं जिन्होने इस प्रकार अपनी रचनाओं का पारिश्रमिक न लिया हो। वे तो नियमतः इस प्रकार के पारि-

श्रमिक नहीं ही स्वीकार करते थे। सन् १९२३ से लेकर १९४० तक का काल हरिऔध जी के जीवन का बड़ा व्यस्त काल था। भारत के किसी भी कोने में यदि कवि-सम्मेलन होता था तो 'हरिऔध' जी सभापति मनोनीत होते थे। सभापति पद पर उनका एकाधिपत्य था। वे प्रत्येक स्थान पर सभापतित्व करने जाते और यहाँ तक कि मार्ग-व्यय भी स्वीकार न करते थे। यही नहीं अपने साथ की शिष्य मंडली का भी यात्रा-व्यय स्वयं वहन करते थे।

एक बार कलकत्ता में विराट् कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ। कुछ मारवाड़ी सेठ लोग उस कवि-सम्मेलन के संयोजक थे। हरिऔध जी सभापति मनोनीत हुए और सदल बल कवि-सम्मेलन में पहुँचे। बड़ा सफल कवि-सम्मेलन हुआ। बिदाई के समय उन सेठों ने सब कवियों की बड़े सत्कार के साथ बिदाई की। हरिऔध जी को भी उन लोगों ने बिदाई में २००) रुपये दिये। उन्होने बड़ी विनम्रता से उसे अस्वीकार कर दिया। वे सेठ भी वड़े चकित थे। वे यह नहीं चाहते थे कि हरिऔध जी रुपये लौटायें। उन्होंने बड़ा आग्रह किया परंतु उन्होने किसी प्रकार स्वीकार न किया।

दूसरे दिन जब कवियों को बिदा करने के लिए आतिथेय गण स्टेशन आये तब पुनः सेठों ने हरिऔध जी से पूजा स्वीकार कर लेने का आग्रह किया। परंतु उन्होंने बड़ी विनम्रता और दृढ़ता के साथ कहा कि मैं इस प्रकार के कार्यों के लिए किसी प्रकार का धन स्वीकार नहीं कर सकता। सेठ गण उदास हो गये। जब गाड़ी चलने लगी तब एक सेठ ने हरिऔध जी के डिब्बे मे २००) के नोट फेंक दिये। हरिऔध जी कब चूकने वाले

थे, उन्होंने मुस्कराते हुए उन नोटों को उठा कर बाहर फेंक दिया और हाथ जोड़ कर क्षमा माँगी।

काशी के प्रसिद्ध कवि श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' हरिऔध जी के अभिन्न मित्रों में से थे। जिन दिनों वे अयोध्या-नरेश के यहाँ कार्य कर रहे थे उन्हीं दिनों एक बार अयोध्या-नरेश ने हरिऔध जी को अयोध्या निमंत्रित किया। रत्नाकर जी का भी बड़ा आग्रह हुआ कि वे अयोध्या अवश्य पधारें। हरिऔध जी अयोध्या गये और उनका राजसी ठाट-बाट से सम्मान किया गया। नरेश ने अपने महल में उन्हें भेंट के लिए बुलाया। हरिऔध जी अतिथि-भवन से ठीक समय पर महल पहुँचे। थोड़ी देर तक वे अयोध्या-नरेश की बाट जोहते रहे परंतु उनके आगमन का कोई चिह्न न दीख पड़ा। अधिक देर तक वहाँ बैठ कर राह देखना उन्हे बड़ा अपमानजनक प्रतीत हुआ। वे चुप-चाप महल से बाहर आये और अतिथि-भवन चले आये। इसके बाद रत्नाकर जी ने तथा अन्य राज्य कर्मचारियों ने उनसे महल चलने के लिए बहुत कहा परन्तु वे न गये। दूसरे दिन वे अपने घर लौट आये।

हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक डाक्टर श्यामबिहारी मिश्र (मिश्र-बंधु) छतरपुर में अनेक वर्षों तक दीवान रहे। उनका 'हरिऔध' जी से भाईचारे का सबंध था। हरिऔध जी का वे बड़ा आदर सत्कार करते थे तथा उन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। महाराजा छतरपुर स्वतः बड़ी साहित्यिक रुचि के महानुभाव थे, और कवियों का बड़ा सत्कार करते थे। महाराजा छतरपुर ने हरिऔध जी को अपने दरबार मे निमंत्रित किया। यह निमंत्रण डाक्टर श्यामबिहारी मिश्र के द्वारा उन्हें प्राप्त हुआ। हरिऔध

जी ने महाराज का निमंत्रण स्वीकार किया और वे छतरपुर पहुँचे। छतरपुर के अतिथि-भवन में हरिऔध जी के ठहरने की दिव्य व्यवस्था हुई। कई दिनों तक गोष्ठियों और कविताओं के पठन-पाठन की धूम रही। हरिऔध जी दो तीन दिनो तक वहाँ बहुत व्यस्त रहे। चौथे दिन दरबार लगने वाला था और वहीं हरिऔध जी का महाराज सम्मान करने वाले थे।

भारतीय राज-दरबारों में अनेक प्रकार की प्रथाएँ प्रचलित थीं। छतरपुर में भी एक विचित्र प्रथा थी। दरबार में केवल महाराज ही कुर्सी पर बैठते थे और उनके अतिरिक्त राज्य के सब कर्मचारी भूमि पर ही ग़लीचों पर बैठते थे। डाक्टर मिश्र 'हरिऔध' जी के स्वभाव से परिचित थे अतः उन्होने अतिथि-भवन मे दरबार की सारी व्यवस्था हरिऔध जी को समझायी। हरिऔध जी ने सारी व्यवस्था सुन लेने के पश्चात् कहा—'भाई मिश्र जी, मै महाराज का कोई कर्मचारी नहीं हूँ। यदि मेरे साथ उचित व्यवहार न होगा तो मैं दरबार में नहीं जाऊँगा। अच्छा हो मेरे लिए इस प्रकार का आयोजन ही न किया जाय। मै भूमि पर कदापि बैठना स्वीकार न करूँगा।'

डाक्टर श्यामबिहारी जी बड़े असमजस में पड़े। वे राजा साहब से कुछ कहने मे डरते थे और इधर हरिऔध जी के आत्म-सम्मान की भावना से भी परिचित थे। उन्होंने अन्त में साहस कर महाराज को सारी परिस्थिति कह सुनाई। महाराज बड़े ही व्यवहार-कुशल व्यक्ति थे। उन्होंने मिश्र जी को आज्ञा दी कि दरबार में एक नहीं दो कुर्सियाँ लगायी जायँ। हरिऔध जी को वे रुष्ट नहीं करना चाहते थे। राजा साहब की बुद्धिमानी से उस दिन का संकट टला।

उपर्युक्त परिचय के बाद महाराज छतरपुर का हरिऔध जी से बहुत दिनों तक पत्र-व्यवहार बना रहा। सन् १९२३ मे जब वे सरकारी नौकरी से मुक्त हुए तब महाराज ने उन्हें अपने राज्य में ढाई सौ रुपये पर रेवन्यू अफसर नियुक्त कर बुलाना चाहा। इस संबंध मे अनेक बार पत्र-व्यवहार भी हुआ परंतु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आईं और महामना मालवीय जी की आज्ञा के कारण वे राज्य की नौकरी नहीं स्वीकार कर सके।

काशी में हरिऔध जी कुछ दिनों तक मामूरगंज मुहल्ले मे गोसाईं रामपुरी जी की कोठी में रहा करते थे। एक दिन दो-पहर के समय एक राजा साहब के व्यक्तिगत सचिव आये। राजा साहब शहर में कहीं ठहरे हुए थे। उन्होंने अपने व्यक्तिगत सचिव के द्वारा हरिऔध जी के पास दर्शन देने का निमंत्रण भेजा था। राजा साहब के व्यक्तिगत सचिव ने हरिऔध जी से राजा साहब के पास चलकर दर्शन देने का बड़ा आग्रह किया। हरिऔध जी बड़े ध्यान से सचिव की बात सुनते रहे। अन्त में उन्होने बड़ी विनम्रता से कहा—'सेक्रेटरी साहब, राजा साहब मेरे दर्शनो के लिए इतने उत्सुक हैं सुन कर मुझे बड़ी प्रसन्नता है। इसके लिए मैं उनका बड़ा कृतज्ञ हूँ परंतु राजा साहब से जा कर मेरी ओर से निवेदन कीजियेगा कि दर्शनार्थी को ही दर्शन के लिये आना चाहिये। देवता कहीं दर्शन देने दर्शनार्थी के पास नहीं जाया करता।'

राजा साहब के व्यक्तिगत सचिव हरिऔध जी की बातें सुन कर चुप हो गये। उन्हें कोई उत्तर न सूझा। वे बेचारे चुपचाप उठ कर चले गये।



****

हरिऔध के आदर्श व्यक्ति और त्याग

सुख, संतोष और शांतिपूर्वक हरिऔध जी ने लगभग ३५ वर्ष तक सरकारी नौकरी की और सन् १९२३ में सेवा-मुक्त हुए। उसके एक वर्ष पूर्व अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वे अध्यक्ष मनोनीत हुए। सम्मेलन का अधिवेशन नयी दिल्ली में हुआ था। सम्मेलन के अधिवेशन उन दिनों बड़े धूमधाम से होते थे और देश के राजे महाराजे, नेतागण आदि भी सम्मिलित हुआ करते थे। दिल्ली वाले अधिवेशन में—जिसके अध्यक्ष हरिऔध जी थे—महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी भी सम्मिलित हुए थे।

'हरिऔध' जी का अध्यक्ष-पद से भाषण सुनकर वे बड़े प्रभावित हुए और मंच पर ही उन्होंने उन्हें अपने पास बुलाया और अपने निवासस्थान पर मिलने का अनुरोध किया। हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना हो चुकी थी। मालवीय जी देश के कोने कोने से चुन चुन कर विश्वविद्यालय की सेवा के लिए विद्वानों को एकत्र कर रहे थे।

दूसरे दिन मालवीय जी की आज्ञानुसार हरिऔध जी उनसे मिलने के लिए उनके निवासस्थान पर पहुँचे। मालवीय जी ने

हरिऔध जी से पूछा कि अभी अवकाश प्राप्त करने में कितना विलम्ब है ?' हरिऔध जी ने कहा—'महाराज, मै अगले वर्ष कार्यमुक्त हो रहा हूँ।'

मालवीय जी ने पूछा—'कार्यमुक्त होने पर आपने जीवन का क्या कार्यक्रम निश्चित किया है ?' हरिऔध जी ने कहा—'महाराज, अभी तो कोई निश्चय नही किया है। भविष्य के संबंध मे अभी क्या कह सकता हूँ ?'

मालवीय जी ने कहा—'मैं आप से एक वचन लेना चाहता हूँ। आप जब प्रतिज्ञा करे कि आप मेरी बात मानेंगे तब मैं आप से निवेदन करूँ।'

हरिऔध जी ने कहा—'महाराज ! जब तक बात न ज्ञात हो जाय मैं आप की आज्ञा मानने का किस प्रकार वचन दूँ। यह ठीक है आप हम से कोई अन्यथा प्रतिज्ञा नहीं करा रहे है फिर भी मुझे आपकी आज्ञा तो ज्ञात हो जाय।'

महामना मालवीय ने कहा—'अयोध्यासिह जी, मुझे सच्ची लगन के, सच्चरित्र व्यक्तियो की बड़ी आवश्यकता है। हिन्दू-विश्व-विद्यालय एक निर्धन संस्था है। भीख माँग माँग कर मैंने एक एक ईंट एकत्र की है। मैं चाहता हूँ कि आप अवकाश प्राप्त करने पर अवैतनिक रूप से हिन्दी-विभाग मे अध्यापकी का कार्य स्वीकार करे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप हिन्दू-विश्वविद्यालय की सेवा का वचन देंगे और मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे।'

हरिऔध जी के सम्मुख एक अप्रत्याशित प्रस्ताव था। इसकी उन्होंने कभी कल्पना भी न की थी।

महामना की बाते सुनकर वे बोले—'आप महर्षि कल्प है। मैं एक साधारण सा मनुष्य हूँ। मेरे में इतनी कहाँ शक्ति है कि

आप ऐसे महापुरुष की आज्ञा टाल सकूँ। मैं आपको वचन देता हूँ कि अवकाश प्राप्त कर लेने के बाद मैं आप के श्री चरणों में ही अपना जीवन व्यतीत करूँगा।'

मालवीय जी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—'अयोध्या-सिंह जी, तुम्हारे ऐसे उन्नत ललाट और संतोषी ब्राह्मण से मुझे ऐसी ही आशा थी। मुझे विश्वास है कि तुम्हे किसी प्रकार का आकर्षण अपने निश्चय से विचलित न करेगा।'

महामना मालवीय और हरिऔध जी का यह प्रथम परिचय था। परंतु मालवीय जी के व्यक्तित्व ने उन्हे मोह लिया और उनके प्रति हरिऔध जी के हृदय मे अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो गयी।

आजमगढ़ की सदर कानूनगोई से हरिऔध जी ने सन् १९२३ मे अवकाश ग्रहण किया। अवकाश मिलने के पूर्व से ही महाराज छतरपुर से पत्राचार होता रहा। महाराज छतरपुर का यह आग्रह था कि हरिऔध जी उनके राज्य की नौकरी स्वीकार कर ले और अपना शेष जीवन छतरपुर में ही व्यतीत करें। हरिऔध जी ने ३५ वर्ष तक लाभ के पद पर रहकर सरकारी नौकरी की परंतु पास में एक पैसा भी न था। बचे हुए जीवन के लिए पेंशन का सहारा था। यहाँ तक कि आजमगढ़ में इतने दिन रहे परंतु अपना मकान भी न बनवा सके।

महाराज छतरपुर का प्रस्ताव बड़ा ही आकर्षक था। ढाई सौ रुपये वेतन तो जीवन के सर्वोत्तम काल में भी प्राप्त नहीं हुआ था। परिजन-पुरजन सबने उनसे यह आग्रह किया कि महाराज का प्रस्ताव वे स्वीकार कर लें। उनके जीवन का शेष काल तो सुख से व्यतीत हो ही जायगा, बच्चों का भी भविष्य बन जायगा। राजदरबार की नौकरी है, सदा कुछ न कुछ लाभ ही

होगा। फिर सबसे बड़ी बात यह थी कि महाराज छतरपुर उन्हें बड़े सम्मान के साथ अपने यहाँ बुला रहे थे।

आकर्षण की माया और सगे-संबंधियों की बातों का हरिऔध जी पर कोई प्रभाव न पड़ा। वे सबकी बातें सुनते रहे परंतु किसी से कुछ भी न कहा। जब अवकाश का समय आया और वे कार्यमुक्त हो गये तब परिवारवालों को उन्होंने अपना निश्चय बतलाया। उनका कहना यह था कि राजा महाराजा की नौकरी का क्या ठीक। दूसरी बात यह कि नौकरी स्वीकार करते ही सब सम्मान की भावना समाप्त हो जायगी। मालवीय जी का विश्व-विद्यालय अखिल भारतीय ख्याति की संस्था है। इसकी सेवा करने में जो गौरव है वह राज्य की नौकरी में प्राप्त नहीं हो सकता है। यतः विश्वविद्यालय का कार्य अवैतनिक था अतः परिवारवालों को उसमें कोई आकर्षण न था।

हरिऔध जी ने किसी की बात न मानी और स्पष्ट रूप से यह कह दिया कि उन्होंने मालवीय जी महाराज को वचन दे दिया है और वे हिन्दू-विश्व-विद्यालय में अध्यापकी ही करेंगे। परिवारवालों को उनके इस निश्चय से बड़ी निराशा हुई परंतु उन्हें अपने इस निश्चय से बड़ा संतोष और सुख रहा। जुलाई सन् १९२४ में हरिऔध जी ने हिन्दू-विश्व-विद्यालय में अध्यापकी कार्य प्रारंभ किया।

विश्व-विद्यालय का हिन्दी-विभाग उन दिनों सबसे अधिक सुगठित था। हिन्दी के धुरंधर विद्वान गण अध्यापक पद पर आसीन थे। डाक्टर श्यामसुन्दरदास, पंडित रामचंद्र शुक्ल, हरिऔध जी, लाला भगवान दीन आदि हिन्दी-विभाग की शोभा बढ़ा रहे थे। कुछ दिनों तक कार्य बड़े ही सुचारु रूप से चलता

रहा। कार्यप्रणाली को लेकर डाक्टर श्यामसुन्दरदास जी शुक्ल जी और हरिऔध जी का विरोध हो गया। यह विरोध अन्त तक चलता रहा। बाबू साहब बड़े ही शान के व्यक्ति थे। उनके समय में हिन्दी-विभाग की व्यवस्था उच्च कोटि की थी परंतु कुछ सैद्धांतिक मतभेद हो जाने के कारण उन्होंने शुक्ल जी और हरिऔध जी के विरुद्ध वातावरण तैयार किया।

बाबू साहब ने मालवीय जी महाराज से इस मतभिन्नता की बात कही और निवेदन किया कि हरिऔध जी को हिन्दी-विभाग से हटाकर किसी दूसरे कार्य में लगाया जाय। मालवीय जी हरिऔध जी की लोकप्रियता जानते थे। उन्हें यह भी ज्ञात था कि वे पठन-पाठन का कार्य बड़ी तन्मयता से करते हैं और छात्रों को अत्यंत प्रिय हैं। बाबू साहब की दलीलें उन्हें न जँची। उन्होंने स्पष्ट रूप से बाबू साहब से कहा कि चाहे जो भी हो पंडित अयोध्या-सिंह हिन्दी-विभाग में ही रहेंगे। उस विभाग से उनका हटाया जाना असंभव है।

इस घटना के बाद मालवीय जी महाराज ने हरिऔध जी को अपने निवासस्थान पर बुलाया और उनसे बाबू साहब के असंतोष का कारण पूछा। दोनों पक्ष की बातें सुन लेने के पश्चात मालवीय जी महाराज ने यही निश्चय किया कि हरिऔध जी हिन्दी-विभाग में ही बने रहें। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि मतवैभिन्य अथवा सैद्धान्तिक विरोध के कारण विश्व-विद्यालय के कार्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचनी चाहिये। मालवीय जी की आज्ञाओं का उन्होंने जीवन भर इसी रूप में पालन किया।

विश्वविद्यालय में पहले सहशिक्षा की व्यवस्था थी, परंतु

मालवीय जी महाराज सहशिक्षा की व्यवस्था से संतुष्ट न थे। वे यह चाहते थे कि महिलाओं के लिए पृथक रूप में शिक्षा की व्यवस्था हो जाय। जब महिला-विद्यालय खुला तब अध्यापकों की खोज होने लगी। लगभग सभी विषयों के अध्यापन के लिए महिला अध्यापक प्राप्त हो गयीं परंतु हिन्दी पढ़ाने के लिए कोई व्यवस्था न हो सकी। हिन्दी के लिए कोई महिला न मिल सकी। महामना मालवीय जी बड़े चिंतित हुए। उन्होंने हरिऔध जी को बुलाया और उनसे कहा कि महिला-विद्यालय में हिन्दी शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो पा रही है। मै वहाँ किसी सच्चरित्र और विद्वान व्यक्ति को ही भेजना चाहता हूँ। स्त्रियों का मामला है, थोड़ी सी बात में कठिनाई उत्पन्न हो सकती है, अतः मेरी दृष्टि में आप ही सर्वथा इस पद के योग्य हैं। आप महिला-विद्यालय का कार्यभार वहन कर लीजिए।

हरिऔध जी स्वतः स्त्रियों की छाया से दूर भागनेवाले व्यक्ति थे। उनके लिए स्त्रियों का सामना करना शेर का सामना करना था। वे मालवीय जी की बात को सुन कर बड़े असमंजस में पड़े। उन्होंने कहा 'महाराज, मैं तत्काल आपकी आज्ञा के संबंध में कुछ नहीं कह सकता। मैं इस पर विचार कर शीघ्र आपको अपना निर्णय बतला दूँगा।' मालवीय जी से छुट्टी लेकर वे घर चले आये।

हरिऔध जी के सम्मुख महिलाओं को पढ़ाने की भयंकर समस्या थी। उन्होने अपने छोटे भाई पंडित गुरुसेवक उपाध्याय, —जिन्हे वे प्यार में बब्बू कहा करते थे—से अपनी हृदय की सारी घबराहट कह सुनाई। साथ ही उन्होंने यह भी कहा— 'बब्बू, अब तक तो जीवन ससम्मान और सुख से व्यतीत हो गया। महिलाओं को पढ़ाना बड़ा टेढ़ा काम है। अकारण लोग

उँगली उठाने लगते हैं। फिर वहाँ मुझसे कार्य ठीक नहीं हो सकेगा। बात यह है कि मैं स्त्रियों के सम्पर्क में आना ही नहीं चाहता।'

पंडित गुरुसेवक जी ने हरिऔध जी की बातें सुनीं। यदि यह कहा जाय कि वे हरिऔध जी के व्यक्तित्व के प्रपूरक हैं तो कोई अत्युक्ति की बात न होगी। वे बड़े ही सुलझे विचार के तथा नवीन गति-विधियों का पूर्ण ज्ञान रखनेवाले महानुभाव हैं। उन्होंने अपने बड़े भाई से कहा—'भैया, अब समय बहुत परिवर्तित हो गया है। आपकी अवस्था भी ६५, ६६ की हो रही है। महिला-विद्यालय में आपको अपनी पुत्रियों और पौत्रियों की अवस्था की लड़कियाँ पढ़ाने को मिलेंगी। इस कार्य में आपको तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिये। लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अधिक गुणग्राही और शील-संकोच वाली होती हैं। उन्हे पढ़ाने में आपको और अधिक आनन्द मिलेगा। मेरी राय तो यह है कि आप महामना जी की आज्ञा स्वीकार कर लें। लड़कियों के सम्पर्क में आने और उन्हें पढ़ाने पर आपको वास्तविक स्थिति का पता लगेगा। यदि आपके स्वभाव के अनुकूल न पड़े तो आप बाद में भी यह कार्य अस्वीकार कर सकते है। सम्प्रति आप इसे स्वीकार कर लें। दूसरी बात यह है कि आप हिन्दू कालेज के झंझटों से भी बच जायँगे।'

'हरिऔध' जी को अपने भाई की बाते कुछ जॅची। उन्होंने कहा—'हाँ, यह तुमने ठीक कहा। सम्प्रति मैं इस कार्य को स्वीकार कर लूँ और यदि स्वभावानुकूल नहीं हुआ तो मालवीय जी महाराज से प्रार्थना कर कार्य से छुटकारा ले लूँगा।'

दूसरे दिन हरिऔध जी ने मालवीय जी महाराज से अपना निर्णय कह दिया और उसके बाद उन्होंने महिला-विद्यालय में

शिक्षा का कार्य प्रारंभ किया। अवश्य ही वहाँ शिक्षा-कार्य प्रारंभ करने के उपरांत उनके विचारों में परिवर्तन हुआ और स्त्रियों के प्रति उनकी धारणा बहुत कुछ बदली। उन्होंने यह अनुभव किया कि छात्रों की अपेक्षा छात्राएँ कहीं अधिक विनयी और श्रद्धालु होती हैं। हरिऔध जी वृद्ध थे और बहुत कुछ प्राचीन विचारों के आदमी थे; अतः कभी-कभी लड़कियाँ उनसे 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' आदि विषयों पर बहस करतीं और तुलसीदास जी को खरी-खोटी सुनातीं। हरिऔध जी उन्हें गोस्वामी जी के विचार समझाने का प्रयत्न करते। 'ताड़न' शब्द का वे खींच-तान कर विचित्र अर्थ बतलाते और लड़कियों को शान्त करते।

महामना मालवीय जी भी 'हरिऔध' जी के कार्य से अत्यधिक सन्तुष्ट थे। उनकी एक बहुत बड़ी परेशानी दूर हो गयी। मैं पहले ही यह कह चुका हूँ कि महामना मालवीय जी को हरिऔध जी बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। यही नहीं, वे उन्हे भारतीय परम्परा के प्राचीन ऋषियों की कोटि का महापुरुष समझते थे। वास्तव में महामना को ही वे अपना आदर्श व्यक्ति मानते थे। मालवीय जी महाराज ही एक व्यक्ति थे जिनका हरिऔध जी चरण-स्पर्श करते थे। जब कभी कोई महामना मालवीय जी की आलोचना करता था या उनको भला बुरा कहता था तो उन्हें बड़ी ठेस पहुँचती थी और उनकी आँखें भर आती थीं। महामना मालवीय जी को वे हिन्दू जाति, धर्म और संस्कृति का प्रतीक तथा प्रकाश स्तम्भ समझते थे।

महामना जब तक जीवित रहे वे उनकी वर्ष-ग्रन्थि पर उनके चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करने अवश्य जाते थे और एक पद

लिखते थे। मालवीय जी महाराज भी उनसे बड़ा स्नेह करते थे। मालवीय जी को काले वस्त्रों से बड़ी चिढ़ थी। एक बार जाड़े के दिनों में हरिऔध जी काली अचकन पहन कर उनसे मिलने चले गये। मालवीय जी जब बातचीत समाप्त कर चुके और हरिऔध जी जब चलने लगे तब उन्होंने हँस कर कहा—'अयोध्यासिंह जी, आज तो आप कलयुगी बनकर आये हो। अरे भाई, इस बुढ़ापे में यह काला कपड़ा क्यों पहनते हो !'

'हरिऔध' जी कुछ उत्तर न दे सके। इस घटना के उपरान्त जब कभी वे महामना मालवीय जी से मिलने गये तब सदा श्वेत वस्त्र ही पहन कर मिलने गये।

****

'हरिऔध' जी के अनुज श्री गुरुसेवक उपाध्याय

हरिऔध जी के जीवन का विश्लेषण, उनके अनुज श्री गुरुसेवक उपाध्याय के वर्णन के अभाव में पूर्णतः अपूर्ण होगा। श्री गुरुसेवक जी हरिऔध जी से पूरे बारह वर्ष छोटे हैं। मैं यह पहले ही कह चुका हूँ कि हरिऔध जी के पितृव्य पंडित ब्रह्मासिंह को ही उनकी शिक्षा-दीक्षा का श्रेय है। गुरुसेवक जी को भी उन्होंने प्रारंभ से सत्शिक्षा प्रदान की और सन्मार्ग का प्रदर्शन करते रहे। ब्रह्मासिंह जी अच्छे ज्योतिषी थे। उन्होंने हरिऔध जी तथा गुरुसेवक जी का जन्मलग्न देखकर कुछ भविष्यवाणी की थी वह अन्त तक अक्षरशः सत्य हुई। उन्होंने कहा था कि अयोध्यासिंह जी जीवन में पर्याप्त धनार्जन करेंगे परंतु जन्म भर उनका हाथ खाली रहेगा। आर्थिक दृष्टि से उनका जीवन संघर्षमय और कष्टकर रहेगा। परंतु वे अनुपम कीर्ति प्राप्त करनेवाले व्यक्ति होंगे। उनका यश देश-विदेश में फैलेगा। इसके विपरीत गुरुसेवक जी राजसी सम्पदा के व्यक्ति होंगे। उन्हें धन-धान्य की कभी कमी न होगी। सदा उनके पास आवश्यकता से अधिक धन रहेगा। वे कुशल प्रशासक होंगे और किसी राज्य के दीवान होंगे। उनमें त्याग की और सात्विकता की भावना भी होगी।

पंडित ब्रह्मासिंह जी की भविष्य वाणी पूर्णतः सटीक हुई। गुरुसेवक जी की प्रारंभिक शिक्षा निजामाबाद में हुई। वहाँ से वे मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् आजमगढ़ आये और अपने भाई के साथ ही अपने बहनोई के यहाँ रहकर आजमगढ़ के मिशन स्कूल में अंग्रेजी पढ़ने लगे। वे बड़े ही मेधावी छात्र रहे। उनका छात्र-जीवन बड़ा ही यशस्वी रहा। हाई स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट परीक्षा में वे प्रान्त में सर्वप्रथम आये। यही नहीं उन दिनों ईसाई मिशनरी की ओर से प्रान्त भर के लिए बाइबिल की परीक्षा होती थी। उस परीक्षा में जो सर्वप्रथम आता था उसे मिशनरी २) रुपये की छात्रवृत्ति प्रदान करता था। श्री गुरुसेवक जी उस परीक्षा में सम्मिलित हुए और प्रान्त भर में सर्वप्रथम आये। मिशनरी की ओर से उन्हें आगे पढ़ने के लिए २) रुपये की और सरकार से ८) की छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। वे काशी आकर क्वीन्स कालेज में पढ़ने लगे।

छात्र-जीवन में उन्हे अनेक कठिनाइयाँ हुईं। आजमगढ़ में जब तक वे रहे तब तक तो भोजनादि की व्यवस्था ठीक रही परंतु वहाँ भी कई कारणों से पढ़ने लिखने में व्याघात पहुँचता रहा। काशी आने पर तो उनके सम्मुख सबसे बड़ी समस्या भोजन की हो गयी। भोजन पकाने का अभ्यास कभी न था अतः कच्चा-पक्का भोजन करने से स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया फिर भी वे कक्षा में सदा अग्रणी छात्रों में रहे। ससम्मान बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण होने पर वे डिप्टी कलक्टरी के पद पर प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा नियुक्त हुए। यह बड़े भाग्य की बात थी। परिवार के लिए यह बड़े हर्ष और उल्लास की घटना थी। उच्च पद प्राप्त कर लेने पर भी उनमें तनिक भी अहम्मन्यता नहीं आयी और उनका

जीवन सदा बड़ा ही सरल और सादा रहा। प्रशासन के कार्यों में उनकी बहुत अधिक रुचि न थी। वहाँ जो पेंच की बातें होती हैं उससे इनका जी बड़ा घबड़ाता था।

उनकी अधिक इच्छा देश-सेवा और समाज-सेवा करने की थी। परंतु दुर्भाग्य की बात है कि वे जितना ही इस दिशा में आने का प्रयत्न करते रहे उतना ही इस क्षेत्र से वे दूर हटते गये। सन् १९२० में जब असहयोग आन्दोलन छिड़ा तब नौकरशाही सरकार की नीति से ऊब कर और महामना मालवीय जी के अनुरोध पर वे काशी स्थित सेंट्रल हिन्दू स्कूल के प्रधानाध्यापक पद पर कार्य करने के लिए कुछ वर्षों के लिए आये। स्वर्गीय सर सी० वाई० चिन्तामणि गुरुसेवक जी से बड़ा स्नेह करते थे। उनके प्रयत्नों से कुछ वर्षों के लिए वे सरकारी नौकरी से हटकर शिक्षा क्षेत्र में आये।

उपाध्याय जी में संघटन की और शासन की अभूतपूर्व क्षमता थी। आन्दोलन के कारण सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल की अवस्था दिनों दिन हीन होती जा रही थी। इनके आते ही वहाँ के अनुशासन में सुधार हुआ। कुछ सम्भ्रान्त लोगों ने इन्हें अनेक प्रकार के वात्याचक्रों में फाँसना चाहा परंतु ये उन सब परीक्षाओं में खरे उतरे। ज्ञातव्य है कि उस समय सरकारी नौकरी में उन्हें साढ़े सात सै रुपये मासिक वेतन मिलता था। प्रधानाध्यापकी पद का वेतन केवल तीन सै रुपये ही था। परंतु वे अन्यायपूर्ण कार्यों से बचने के लिए ही इस क्षेत्र में आये। असहयोग आन्दोलन के प्रति उनके हृदय में वास्तविक सहानुभूति थी परंतु अपनी जीविका के कारण वे स्पष्ट रूप से अपने विचार व्यक्त कर सकने में असमर्थ थे। दो वर्षों तक वे प्रधानाध्यापक पद पर रहे। उसके

उपरान्त सरकार द्वारा चलाये गये सहकारी विभाग में उन्होंने अपना स्थानान्तरण करा लिया।

सहकारी विभाग में आ जाने के कारण उन्हें कुछ मानसिक शान्ति प्राप्त हुई। कार्य करने के लिए, तथा देश की जनता के सम्पर्क में आने का उन्हें पर्याप्त अवसर मिला। सरकार भी उनके कार्यों से अत्यधिक संतुष्ट थी। उन्हें यूरोप के देशों में फैली हुई सहकारी संस्थाओं के अध्ययन के लिए ब्रिटिश सरकार ने यूरोपीय यात्रा पर भेजने का निश्चय किया।

हरिऔध जी यात्रा आदि से बहुत घबड़ाते थे। ब्राह्मण जाति में यूरोप की यात्रा से बड़ी खलबली मचा करती थी। इसका भी प्रभाव उनके मन पर था। उन्होंने अपने अनुज को यूरोपीय यात्रा से विमुख करना चाहा। दूसरा कारण यह भी था कि कहीं इसके कारण जाति से वहिष्कृत न कर दिये जायें और पौत्र पौत्रियों का विवाह आदि कठिन हो जाय। गुरुसेवक जी समय की गति जानते थे। उन्होंने अपने अग्रज को पूर्णरूपेण आश्वस्त कर दिया कि आज के युग में प्राचीन विचारों और बंधनों का कोई महत्व नहीं। हुआ भी यही; जब यूरोप-यात्रा से वे लौटे तब इस संबंध में किसी ने किसी प्रकार का प्रश्न भी न उठाया और परिवार के लोगों के विवाह आदि में किसी प्रकार की बाधा न पड़ी।

गुरुसेवक जी बड़े ही धर्मनिष्ठ और कर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं। श्री कृष्ण की गीता के कर्मयोग में उनका अटूट विश्वास है। गीता के वे स्थायी विद्यार्थी रहे हैं और उसका इन्होंने बड़ा ही गहन अध्ययन किया है। आध्यात्मिक शक्ति और ईश्वर में उनका दृढ़ विश्वास है। यदि वे पूर्णतः वीतराग नहीं हो गये हैं तो कम से कम सांसारिक वृत्तियों से उन्होंने अपने को बहुत

कुछ तटस्थ कर रखा है। कर्मवाद में आस्था होने के कारण सुख-दुख को वे कर्म का तथा नियति का विधान स्वीकार करते हैं।

सांसारिक जीवन में भी उन्हें उच्चतम प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। वे सहकारी विभाग के उच्चतम अधिकारी रजिस्ट्रार पद से सेवा-मुक्त हुए। उन्हें दो हजार रुपये मासिक वेतन प्राप्त होता रहा। अवकाश प्राप्त करने के बाद गया के अमावाँ टिकारी राज्य तथा हजारीबाग़ के रामगढ़ राज्य के वे दीवान रह चुके हैं। भगवान ने उन्हें धन, यश और कीर्ति सब कुछ प्रदान की है। अपने अग्रज के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी और जीवन पर्यन्त स्नेही और आज्ञाकारी अनुज की भाँति उन्होंने उनकी सुख सुविधा का निरन्तर ध्यान रखा। हरिऔध जी के ये बड़े संबल रहे हैं।

विचार और विश्वास की दोनों में बड़ी भिन्नता रही है। परन्तु दोनों के स्नेह में बड़ी ही अपरिवर्तनशीलता दृष्टिगोचर होती थी। हरिऔध जी जहाँ मृत्यु से सदा भयभीत रहते थे वहाँ ये मृत्यु को स्वाभाविक प्रक्रिया समझते हैं। ईश्वर में आस्था होने के फलस्वरूप बड़ी स्थितप्रज्ञता वर्तमान है। नियमित जीवन और आहार-विहार के कारण ८० वर्ष की अवस्था में भी ये ५० वष के प्रौढ़ व्यक्तियों के समान कर्मठ और सक्रिय हैं।

हरिऔध जी के जीवन को गुरुसेवक जी ने बड़ा प्रभावित किया था। यूरोप के अनेक देशों का उन्होंने पर्यटन किया है और निरन्तर अध्ययनशील रहने के कारण उनमें विचारों की उदारता और दूसरे के सिद्धान्तो के प्रति अपूर्व सहनशीलता है। जब कभी हरिऔध जी के सम्मुख कोई सामाजिक अथवा विचार संबंधी जटिलताएँ उत्पन्न होती रही हैं तो वे अपने अनुज से विचार विनिमय करते थे। देश-विदेशों की सम्मति प्राप्त करते

थे और उसके उपरान्त अपने विचारों का निर्धारण करते थे। उदाहरणार्थ स्त्रियों के संबंध में हरिऔध जी के विचार प्राचीन रूढ़ियों पर आधारित थे। उनमें बहुत कुछ परिवर्तन गुरुसेवक जी के कारण उत्पन्न हुआ। गुरुसेवक जी आज से ५० वर्ष पूर्व इस विचार के थे कि ब्राह्मण मात्र में रोटी-बेटी का संबंध होना चाहिये। संकीर्णता जहाँ तक संभव हो दूर की जानी चाहिये। हरिऔध जी इतना साहसिक पग उठाने के लिए उद्यत न थे। परंतु जब उनके अनुज ने अपने पुत्र स्वर्गीय द्विजदेव शर्मा का विवाह महाराष्ट्र ब्राह्मण की सुकन्या से किया और जब किसी प्रकार की कठिनाई नहीं उत्पन्न हुई तब उन्होंने यह अनुभव किया कि वास्तव में ब्राह्मण मात्र में आपस में संबंध होना चाहिये।

अछूतों तथा साधु महन्तों के प्रति हरिऔध जी के जो विचार थे वे बहुत कुछ अपने अनुज के विचारों से प्रभावित थे। वे यह अनुभव करते थे कि उनके अनुज बहुपठित, बहुश्रुत और अनुभव प्राप्त विद्वान व्यक्ति हैं। जब कभी वे अपने अनुज के संबंध में किसी से वार्तालाप करते तो अभिमान का अनुभव करते थे। यही नहीं; हरिऔध जी की निर्द्वन्द्व साहित्यिक साधना में गुरुसेवक जी का बड़ा योग रहा है। पत्नी के देहान्त के उपरान्त हरिऔध जी सांसारिक झंझटों से दूर रह कर केवल साहित्य साधना में तल्लीन रहते थे। उन्हें अपने पुत्र-कलत्र तक की चिन्ता न रहती थी। ऐसी स्थिति में अनेक प्रकार की जटिलताएँ उत्पन्न होती थीं। इन जटिलताओं का उनके अनुज सदा समाधान करते थे। आर्थिक दृष्ट्या हरिऔध जी जब कभी संकट में रहे हैं तब उनके अनुज ने मुक्तहस्त अपने अग्रज की सहायता की थी। उन्होंने कभी किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं समझा।

महामना मालवीय जी यदि हरिऔध जी के आदर्श थे तो गुरुसेवक जी के महात्मा गांधी और कवीन्द्र रवीन्द्र आदर्श रहे हैं। इनकी रचनाओं का पठन-पाठन उनके चितनशील जीवन का मुख्य अंग है। उनका कहना है कि कवीन्द्र रवीन्द्र की अनुपम रचनाओं के अध्ययन ने हमारे हृदय में ईश्वर के प्रति विश्वास की भावना को दृढ़ कर दिया। गांधी जी के कर्मवाद से भी वे बड़े प्रभावित हुए है। यदि हरिऔध जी साहित्य-क्षेत्र में प्रयोगवादी रहे हैं तो श्री गुरुसेवक जी जीवन-क्षेत्र में प्रयोगवादी रहे हैं।

जीवन के संध्याकाल मे सांसारिक सुख-दुख से तटस्थ होकर आज ८० वर्ष की अवस्था में भी वे अध्ययनरत रहते हैं। उनका कहना है कि जीवन में जिस आनन्द का गत पाँच वर्षों से मैं अनुभव कर रहा हूँ वह मुझे कभी प्राप्त नहीं हुआ था। आज मुझे अपने मन का कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ है। सरकारी नौकरी में मुझे धन, ऐश्वर्य सब कुछ प्राप्त हुआ परंतु मेरी आन्तरिक अभिलाषा कभी संतुष्ट नहीं हुई। परंतु इन पाँच वर्षों में मैंने अपने जीवन की आंतरिक अभिलाषा तो संतुष्ट की ही साथ ही मुझे अनुपम ज्ञान और शांति की भी प्राप्ति हुई है।

जब कभी हरिऔध जी ईश्वरीय सत्ता के संबंध में अपना संदेह व्यक्त करते और अनुज के समक्ष तो करते ही थे, तब दोनों के बीच घंटों इस प्रकरण पर विवाद चलता। यह विवाद बड़ा ही मनोरंजक होता था। हरिऔध जी अपने पक्ष की दलीलें रखते और गुरुसेवक जी अपने अग्रज को अपनी बातों द्वारा ईश्वरीय सत्ता का अनुभव कराने का यत्न करते। इस प्रकार का विचार-विनिमय बहुधा हुआ करता था। हरिऔध जी का ज्ञान एकांगी था। उन्होंने अपने को साहित्य और काव्य के क्षेत्र में बंदी बना

लिया था। जिस प्रकार कमल के पुष्प में भौंरा बंदी होकर विश्व की अकल्पनीय कल्पनाएँ करता रहता है उसी प्रकार हरिऔध जी का जीवन अथ से इति तक काव्यमय था। उसमें और किसी वस्तु के लिए स्थान न था। इसके विपरीत गुरुसेवक जी विभिन्न क्षेत्रों का अनुभव प्राप्त करते रहते हैं। उनका अध्ययन चाहे गहन न हो परंतु बड़ा विस्तृत रहा है। मैं जब यह कह रहा हूँ तब एक बात स्पष्ट कर देना चाहूँगा। गीता और गीता के सिद्धान्तों से संबंध रखनेवाले साहित्य का गुरुसेवक जी ने पूर्ण रूप से मंथन किया है। बहुत कुछ गीता का ज्ञान उनके लिए हस्ता-मलक सा है। अपनी रुचि के विषयों का—विशेषतः धार्मिक—वे बड़ा सुव्यवस्थित अध्ययन करते रहे हैं। हरिऔध जी की पूर्ण निष्ठा साहित्य पर रही अतः वे इधर उधर के वातायन से झाँकने का भी यत्न नहीं करते थे। भले ही दैनिक पत्रों द्वारा उन्हें विश्व को बातों का ज्ञान हो जाता रहा हो परंतु वे साहित्य सर्जन से सबंध रखनेवाली सामग्री को ही प्रधानता देते थे।

भावुक हरिऔध जी को नाटकीय व्यवहार द्वारा कोई भी अपने पक्ष में कर सकने में समर्थ हो सकता था। अपने परिवार के सदस्यों के प्रति हरिऔध जी के हृदय में बड़ी कोमल भावनाएँ थीं। यदि कभी अन्यायपूर्ण निर्णय करना होता था तो वह भी वे कर लेते थे परंतु इस संबध मे गुरुसेवक जी बड़े ही अनु-शासन प्रिय रहे हैं। उनकी निर्णयात्मक तुला अन्याय की ओर कभी नहीं झुकती। घर का व्यक्ति हो, चाहे बाहर का, उनसे अन्यायपूर्ण निर्णय नहीं करा सकता। यही नहीं, वे अपने परिवार के व्यक्तियो को भी उचितानुचित का ज्ञान करा देने के पश्चात कुछ नहीं करते। यदि कोई अनुचित मार्ग के कारण कष्ट सहता

है तो वे कथमपि उसकी सहायता के लिए आगे नहीं बढ़ते।

सरकारी नौकरी में भी उन्हें कोई अपने सच्चे निर्णयों से नहीं डिगा सका। इसका फल यह हुआ कि उन्हें कभी कभी हानि उठानी पड़ी परंतु साधारण लाभ हानि, मानापमान उन्हें अपने उचित मार्ग से च्युत न कर सके। यही कारण है कि उन्हें अपने दीर्घ कार्यमय जीवन से पूर्ण संतोष है और आज वे हर प्रकार की कामेच्छा से परे हैं।



हरिऔध जी के पुत्र-पौत्र

हरिऔध जी को दस संतानें हुईं परंतु उनमें एक पुत्र और एक पुत्री ही दीर्घजीवी हुए। पुत्र का नाम पंडित सूर्यनारायण उपाध्याय और पुत्री का नाम विंध्यवासिनी देवी था। यतः हरिऔध जी की अनेक संतानें मर चुकी थीं अतः ये दोनों संतानें बड़े लाड़-प्यार से पलीं।

पंडित सूर्यनारायण उपाध्याय जी का बाल्यकाल अधिकतर निजामाबाद में व्यतीत हुआ। हरिऔध जी नौकरी के कारण सदा बाहर रहा करते थे। उन्हें अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का अवसर कभी प्राप्त न हुआ। परिणाम यह हुआ कि सूर्यनारायण जी की संस्कारावस्था की उपेक्षा हुई। निजामाबाद में उस समय न तो शिक्षा की कोई उचित व्यवस्था थी और न घर में ही कोई ऐसा सदस्य था जो इनकी देख-रेख करे। जब ये १४ वर्ष के हो गये और पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था न हो सकी तो हरिऔध जी ने इन्हें अपने अनुज श्री गुरुसेवक उपाध्याय के यहाँ पढ़ने के लिए भेज दिया। श्री गुरुसेवक जी उन दिनों मिर्जापुर में डिप्टी कलेक्टर थे।

भाई की एक ही संतान होने के कारण गुरुसेवक जी को भी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। सूर्यनारायण जी

का पढ़ने लिखने में तनिक भी मन न लगता था। वे गाने-बजाने के शौकीन थे। गाने का तो उन्हें अभ्यास न था, हाँ वाद्य-यंत्रों का उन्हे अच्छा शौक था। इसके अतिरिक्त कुश्ती का भी उन्हें बड़ा शौक था। खूब मेहनत करना और कुश्ती लड़ना यही इनकी दिनचर्या रही। अध्ययन की ओर तनिक भी रुचि न देखकर और संस्कारों की पृष्ठ-भूमि ही दूषित होने के कारण वे १० वीं कक्षा तक ही शिक्षा प्राप्त कर सके।

शिक्षा समाप्त हो जाने के पश्चात् सूर्यनारायण जी को अपने पितृव्य की सहायता से फतेहपुर बिदकी नगर-पालिका में अच्छा पद प्राप्त हो गया। परंतु व्यवस्थित रूप से कार्य करने की उन्हें शिक्षा ही न प्राप्त हुई थी। दूसरे थोड़ा वे क्रोधी स्वभाव के भी थे अतः वे वहाँ अधिक दिन तक कार्य न कर सके। इसके उपरांत सूर्यनारायण जी को सहकारी विभाग में कार्य मिल गया और वे आजमगढ़ में नियुक्त हो गये। आजमगढ़ वे सपरिवार आकर रहने लगे। हरिऔध जी अपनी बहन श्रीमती आनन्दी देवी के यहाँ ही रहते थे। एक समय—प्रातः काल—वे अपनी भगिनी के यहाँ भोजन करते थे और रात्रि मे अपने पुत्र के यहाँ आकर भोजन करते थे। संध्या समय वे अपने पुत्र के यहाँ आ जाते थे और भोजन आदि करने के उपरांत ९॥ बजे पुनः अपनी बहन के घर लौट जाते थे।

किस पिता की यह इच्छा नहीं होती कि उसकी संतान योग्य और यशस्वी हो। हरिऔध जी की एक ही संतान थी अतः उनकी यह इच्छा और भी बलवती रही। परंतु वे स्वतः अपने स्वभाव के कारण संतान की उपेक्षा के लिए उत्तरदायी थे। उन्हें इसका बड़ा कष्ट रहा। वे स्वतः अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त न

कर सके थे अतः उनकी यह उत्कट अभिलाषा थी कि उनकी संतान ही तो कम से कम अच्छी शिक्षा प्राप्त कर ले। परंतु दुर्भाग्यवश उनकी यह इच्छा पूर्ण नही हुई।

पंडित सूर्यनारायण जी पढ़-लिख नहीं सके परंतु वे साधारणतया प्रबुद्ध व्यक्ति थे। संगीत का उन्हे अच्छा ज्ञान था। सितार तो वे बड़ी तन्मयता के साथ बजाते थे और राग रागिनियों की अवतारणा बड़ी कुशलता से करते थे। वे इस क्षेत्र के गुणी थे और इस विद्या के गुणियों के गुणग्राहक भी। महीनों उनके यहाँ संगीतज्ञ पड़े रहते और नित्य प्रति गायन-वादन का समारोह होता रहता। वे जो कुछ कमाते थे और पिता की जो भी आय बचती थी वह सब संगीतज्ञों के स्वागत-सत्कार, गोपालन आदि में ही समाप्त हो जाती थी। उनका हाथ बड़ा खुला था। पैसा पास न रहने पर तो कोई बात नही परंतु यदि पास मे हज़ार हो तो वह भी एक महीने के लिए अपर्याप्त था। वे बड़े ही 'बेग़म' थे और उन्हें कल की कभी चिंता न हुई।

घर में क्या हो रहा है, किसे क्या पीड़ा है इसका उन्हें बहुत कम ध्यान रहता था। अधिकतर वे धन के लिए ही चिंतित रहते थे। हरिऔध जी के लिए धन जितना महत्वहीन था उतना ही इनके लिए महत्व का। फल यह हुआ कि वे सदा अपनी आय से अधिक व्यय करते थे। इस व्यय का परिणाम यह होता था कि वे ऋण-ग्रस्त होते थे और हरिऔध जी की आर्थिक शक्ति उन्हें ऋण-मुक्त करने मे ही व्यय होती थी। हरिऔध जी के आर्थिक संकट का यह एक मुख्य कारण था। परंतु वे लाचार थे। इस संबंध में कुछ कर भी न सकते थे।

यदि कोई उनसे कहता कि आप थोड़ा नियंत्रण रखें तो वे कहते कि मैं क्या करूँ, एक पुत्र छँगुलिया के समान है। यदि काटी जाय तो पीड़ा होती है और यदि रहने दिया जाय तो लोग छाँगुर कहते हैं। इस उदाहरण से हरिऔध जी की मनोभावना का कुछ संकेत प्राप्त हो जाता है।

सूर्यनारायण जी सहकारी विभाग में भी अधिक दिनों तक कार्य न कर सके। कुछ वर्षों के बाद उन्होंने वहाँ का कार्य भी छोड़ दिया और पूर्णतः अपने पिता के आश्रित हो गये। हरिऔध जी जीवन भर अपने पुत्र की गृहस्थी का भार वहन करते रहे। पेन्शन और बाद में पुस्तकों की रायल्टी से जो आय होती थी वही मात्र जीविका का साधन रही।

हरिऔध जी के दो पौत्र श्री केशवदेव शर्मा और मुकुन्ददेव शर्मा तथा दो पौत्रियाँ श्रीमती प्रभावती देवी और श्रीमती कलावती देवी हैं। हरिऔध जी सौंदर्य-प्रेमी व्यक्ति थे। उन्हें प्रत्येक क्षेत्र का सौंदर्य प्रिय था। उनके ज्येष्ठ पौत्र श्री केशवदेव जी बड़े सुन्दर स्वरूप के व्यक्ति हैं। बचपन में और भी अधिक स्वरूपवान थे। अतः वे हरिऔध जी के स्नेह-केन्द्र थे। हरिऔध जी उन्हे अपने प्राणों से भी अधिक चाहते थे और उनकी सुख सुविधा के लिए सब कुछ करने के लिए तत्पर रहते थे। घर मे ज्येष्ठ पुत्र के प्रति अधिक लाड़-प्यार के कारण जो मानसिक ग्रंथियाँ विकसित होती हैं वे सब केशवदेव जी में विकसित हुई। उन्हें पैतृक संस्कार में पिता के गुण अधिक प्राप्त हुए। ये अच्छे खेलाड़ी थे। विद्यालय में अध्ययन-काल में इनका अधिक मन खेलने-कूदने में लगता था। पढ़ने की ओर तनिक भी रुचि न थी। हरिऔध जी जितना ही अधिक उन्हें शिक्षित करने की ओर

ध्यान दे रहे थे उतना ही ये शिक्षा से दूर भाग रहे थे। हरिऔध जी ने भगीरथ प्रयत्न किया परंतु वे ९ वीं कक्षा से आगे न बढ़े। हरिऔध जी के लिए यह बड़ी निराशा का विषय था। वे अपने परिवार में शिक्षा की यह दशा देख कर बड़े दुखी थे।

हरिऔध जी के कनिष्ठ पौत्र मुकुंददेव कुरूप व्यक्ति हैं। बाल्यावस्था में रुग्ण रहने के कारण वे अपने जीवन के प्रारंभिक काल में बड़े ही कृश-काय थे। हरिऔध जी के हृदय में उनके लिए उस अवस्था में कोई स्थान न था। हरिऔध जी यदि कुरूपता को घृणा नहीं करते थे तो उसकी उपेक्षा तो अवश्य करते थे। बाल्याबस्था में लगभग १२ वर्ष की अवस्था तक इनकी शिक्षा-दीक्षा भी उपेक्षित रही। इसका प्रधान कारण यह था कि वे आजमगढ़ में ही पढ़ते रहे और उन्हे उचित निर्देशन नहीं प्राप्त हो सका। इसके विपरीत केशव जी हरिऔध जी के साथ काशी रहते थे।

सन् १९३२ में आजमगढ़ स्थित शिबली जार्ज हाई स्कूल में मुकुंद जी ५ वीं कक्षा में पढ़ते थे। वे वार्षिक परीक्षा मे अच्छे अंको से उत्तीर्ण हुए। हरिऔध जी जब गर्मी की छुट्टियों मे आजमगढ़ आये तब उनके अंकों को उन्हे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई और जीवन में पहली बार वे उनकी ओर आकर्षित हुए; और उसी वर्ष वे उन्हें जुलाई में साथ काशी ले आये। मुकुददेव का नाम काशी के सेंट्रल हिन्दू स्कूल में ६ वीं कक्षा मे लिखाया गया।

काशी में हरिऔध जी के साथ उनके प्रिय शिष्य पंडित जगदीश जी चौबे रहा करते थे। चौबे जी बड़े ही धर्मनिष्ठ, सदाचारी और अध्ययनशील छात्र थे। वे हिन्दू विश्वविद्यालय के लॉ कालेज में पढ़ते थे। चौबे जी श्री केशवदेव को और मुकुंद-देव को गृह पर शिक्षा प्रदान करते रहे। केशव जी ८ वीं और

मुकुंद जी ६ वीं कक्षा में पढ़ते रहे। दो वर्ष के बाद स्थिति यह हुई कि दोनों भाई एक ही कक्षा में आ गये और तीसरे वर्ष तो मुकुंददेव एक कक्षा आगे पहुँच गये। इस घटना ने क्रमशः हरिऔध जी को मुकुंददेव की ओर आकर्षित किया।

मुकुन्ददेव सातवीं कक्षा में काशी के थियासॉफिकल स्कूल में भर्ती हुए। जब वे आठवीं कक्षा में पहुँचे तब उन्होंने तुकबंदियाँ प्रारंभ कर दी थीं। इसी वर्ष क्विन्स कालेज में छात्र-कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था और पंडित रामचन्द्र शुक्ल उस कवि-सम्मेलन के सभापति थे। अपने स्कूल के प्रतिनिधि के रूप में मुकुन्ददेव भी उस कवि-सम्मेलन मे सम्मिलित हुए। वे हरिऔध जी से बिना आज्ञा लिए ही कवि-सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे। दूसरे दिन विश्वविद्यालय में पंडित रामचन्द्र शुक्ल जी ने पिछले दिन के कवि-सम्मेलन की हरिऔध जी से चर्चा चलायी और कहा कि आपके पौत्र के कविता-पाठ का ढंग बड़ा ही अच्छा है। उसकी कविता भी साधारणतया अच्छी थी।

हरिऔध जी शुक्ल जी की बात सुनकर आश्चर्य से बोले—'मेरा कोई पौत्र कविता नहीं करता, आप भ्रम में हैं।' शुक्ल जी ने मुकुंददेव का नाम बतलाया तब उन्हें विश्वास हुआ। घर आने पर हरिऔध जी ने मुकुन्द को बुलाया और उन्हे बहुत डाँटा फटकारा और कहा कि तुम अभी कविता आदि लिखने का नाम न लेना। यदि मैंने यह सुना कि तुम कविता लिखते हो तो ठीक नहीं। पहले इंट्रेन्स पास कर लो तब इन सब पचड़ों मे पड़ना। हरिऔध जी के लिए इंट्रेन्स की परीक्षा कही अधिक महत्व की थी। इसका कारण था। उन्हें शिक्षा क्षेत्र मे अपने पुत्र तथा ज्येष्ठ पौत्र से निराशा हो चुकी थी। उन्होंने सोचा कहीं ऐसा न

हो कि कविता के चक्कर में पड़ कर यह लड़का भी नष्ट हो जाय। उन्होंने मुकुन्ददेव पर कड़ी निगाह रखना प्रारंभ किया।

जब मुकुन्ददेव ने दसवीं कक्षा पास कर ली तब 'हरिऔध' जी की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उन्हें कुछ कुछ यह आशा होने लगी कि यह लड़का कुछ पढ़ लिख जायगा और भविष्य मे कुछ कर सकेगा। परिणामतः वे मुकुन्ददेव को छाया की भाँति अपने साथ रखने लगे। यहाँ तक कि छुट्टियों में भी वे तब घर जाते जब हरिऔध जी घर जाते थे। सन् १९३२ से १९४१ तक मुकुन्ददेव हरिऔध जी के साथ रहे। दसवीं कक्षा पास कर लेने के वाद उनका नाम काशी विश्वविद्यालय में लिखाया गया। सन् १९३५ में हरिऔध जी की ७०वी वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में इटावा से प्रकाशित होने वाले 'सनाढ्य जीवन' पत्र ने 'हरिऔधांक' प्रकाशित किया था। इस हरिऔधांक में 'हरिऔध' जी के दो संस्मरण वेणीमाधव शर्मा के नाम से प्रकाशित हुए थे। इन संस्मरणो को पढ़ कर 'हरिऔध' जी अत्यधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने मुकुन्ददेव को बुलाकर वेणीमाधव शर्मा के संबंध में बड़ी पूछ-ताछ की, परंतु कुछ भी पता न चला। जो भी उनसे मिलने आता वे उन संस्मरणों को सुनाते और कहते कि जिस व्यक्ति ने यह लिखा है वह बड़ा ही सहृदय व्यक्ति मालूम पड़ता है। इन संस्मरणों से यह भी पता चलता है कि वह हमारे निकट सम्पर्क में भी रहा है परंतु मुझे इस व्यक्ति की याद नही आ रही है। अनेक दिनों तक इसकी चर्चा चलती रही।

अंत में एक दिन रहस्योद्घाटन हो ही गया। 'हल्दीघाटी' के कवि श्यामनारायण जी पांडेय हरिऔध जी के यहाँ मिलने आये। उनको भी हरिऔध जी ने वे संस्मरण सुनाये। श्यामनारायण

जी से हरिऔध जी ने पूछा—'क्या तुम वेणीमाधव शर्मा को जानते हो ?' श्यामनारायण पांडेय ने तत्काल उत्तर दिया—'हाँ, मैं जानता हूँ। आप भी इन्हें जानते हैं। ये लेख तो मुकुंद के हैं।'

हरिऔध जी को श्री श्यामनारायण जी की बात का विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने कहा—'नहीं नहीं, मुकुंद अभी इस प्रकार के संस्मरण क्या लिखेगा। ये संस्मरण उसके लिखे नहीं हो सकते।'

श्यामनारायण जी ने पुनः कहा—'गुरुजी, मुझे पूर्ण रूप से ज्ञात है, ये संस्मरण उन्हीं के लिखे हैं। आप उन्हें लिखने के लिए मना कर चुके हैं अतः वे चोरी-चोरी इसी नाम से लिख रहे हैं।' हरिऔध जी चुप हो गये।

इतने में ही मुकुंददेव भी कालेज से आ गये। हरिऔध जी ने उन्हें तत्काल बुलाया और पूछा—'क्यों मुकुंद, ये लेख तुम्हारे लिखे हैं ?'

मुकुंददेव क्या उत्तर देते! वे चुपचाप अपराधी की भाँति खड़े थे। हरिऔध जी सारा रहस्य समझ गये। उनका मुख प्रसन्नता से खिल उठा। आँखों में जल-कण दीख पड़े। उन्होंने गद्गद होकर कहा—'अब मुझे यह आशा हो गयी कि मेरी परम्परा घर में कुछ दिन तो चलेगी। अच्छा, ठीक है जाओ।'

हरिऔध जी के जीवनकाल में ही मुकुन्ददेव ने बी० ए० तथा बी० टी० की परीक्षाएँ पास कीं। हरिऔध जी की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। आज ढेरों बी० ए०, एम० ए० मारे-मारे फिरते हैं। हरिऔध जी के समय में भी यही हाल था। परंतु न जाने हरिऔध जी बी० ए० पास व्यक्तियों को एक विशेष प्रकार का प्राणी समझते थे। बी० ए० की पूँछ को वे बड़ा महत्व देते थे।

जिस व्यक्ति ने लगभग १८ वर्षों तक विश्व-विद्यालय में अध्यापन कार्य किया हो उसकी शिष्य-मडली की गणना करना असंभव है। लगभग सभी प्रांतों के छात्र उनसे आकर अपनी कठिनाइयाँ कहते और उनके स्नेह-सिक्त शब्दों से संतुष्ट होकर प्रसन्न होते थे। अतः ऐसी परिस्थिति मे हरिऔध जी के शिष्यों के संबंध में कुछ भी लिख सकना बड़ा कठिन है। इस प्रकरण में मैं विशेष रूप से हरिऔध जी के उन शिष्यो के संबंध में कुछ लिखना चाहूँगा जिन्होंने इनकी सेवा मे रहकर काव्यों का अध्ययन किया था और काव्य-रचना की इनसे दीक्षा ली थी।

हरिऔध जी ने अपने आत्म-चरित मे सर्व प्रथम पंडित सीताराम जी श्रोतृ का नाम शिष्य के रूप में लिखा है। पंडित सीताराम जी उनके उस समय के शिष्य हैं जब हरिऔध जी निजामाबाद में रहते थे और कविता करते थे। श्रोतृ जी ने संभवतः निजामाबाद के बाहर कभी प्रकाश का दर्शन नही किया। उनकी रचनाएँ भी उपलब्ध नहीं। हरिऔध जी के दूसरे शिष्य पंडित दयाशकर जी मिश्र हैं जो आजमगढ़ की कचहरी में किसी दफ्तर में काम करते थे। अब वे अवकाश प्राप्त कर चुके है। उन्होंने अनेकानेक ग्रन्थ लिखे है। आजमगढ़ के प्राचीन इतिहास के वे सब से बड़े ज्ञाता हैं। उनके पास साहित्य और पिगल-शास्त्र की बड़ी सामग्री एकत्र है परंतु यह सब कुछ अप्रकाशित रूप में उनके पास ही पड़ी है। वे बड़े ही अध्यवसायी व्यक्ति हैं। गर्मी की छुट्टियों में जब हरिऔध जी आजमगढ़ जाया करते थे तो नित्य प्रति मिश्र जी के काव्यों का वे शोधन किया करते थे। उस समय दोनों का अभूतपूर्व धैर्य दर्शनीय होता था। दयाशंकर जी की बंदिशों पर कभी-कभी

हरिऔध जी झुँझलाते थे परंतु उस झुँझलाहट में भी स्नेह होता था। मिश्र जी भी उसे गुरु का आशीर्वाद समझते थे। मिश्र जी के अतिरिक्त पंडित पलकधारी त्रिपाठी, बाबू संतराम और श्यामापति पांडेय, पंडित गिरिजादत्त जी शुक्ल 'गिरीश' भी उनकी शिष्य मडली के प्रधान गण है। पंडित 'गिरीश' जो ने तो हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र मे पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। वे 'महाकवि हरिऔध' के प्रसिद्ध लेखक भी है।

परंतु इन शिष्यों से पूर्णतः पृथक एक व्यक्ति का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह हैं वीरकवि पंडित श्यामनारायण पांडेय। पंडित श्यामनारायण पांडेय लगभग १५–१६ वर्ष की अवस्था में आजमगढ़ के मऊ स्थान से काशी आये थे। गाँव में वे गजलों की तुकबन्दी किया करते थे। उन दिनों हरिऔध जी काशी मे कमच्छा स्थित 'चोरमहल' नामक छात्रावास में रहा करते थे। एक दिन प्रातःकाल गंदा कुर्ता, धोती और चमरौधा जूता पहने एक युवक उनके पास आया। हरिऔध जी के पूछने पर उसने कहा कि वह मऊ का रहनेवाला है और क्वीन्स कालेज में संस्कृत पढ़ने के लिए काशी आया है। कविता मे रुचि है अतः कुछ कविता करने की शिक्षा प्राप्त करना चाहता है। हरिऔध जी के कहने पर उसने अपनी टूटी-फूटी गजल भी बड़ी मस्ती से सुनायी। हरिऔध जी हँस पड़े और कहा ठीक है। तुम तो बड़े अच्छे कवि ज्ञात होते हो। यदि तुम मुझसे कुछ सीखना चाहते हो तो रविवार के दिन आया करो। परंतु शर्त यह है कि थोड़ा अपने को साफ-सुथरा रखो। इतना कह कर 'हरिऔध' जी ने उस लड़के को दो आने पैसे साबुन के लिए दिये।

यह बालक पंडित श्यामनारायण पांडेय थे। यह घटना सन्

१९३१ की है। उस दिन के बाद नियमपूर्वक प्रत्येक रविवार को पंडित श्यामनारायण पांडेय हरिऔध जी के यहाँ आने लगे और कविता की शिक्षा प्राप्त करने लगे। यह क्रम अनेक वर्षों तक चला। कुछ दिनों के बाद तो पंडित श्यामनारायण पांडेय हरिऔध जी के परिवार के सदस्य के समान हो गये। गर्मी की छुट्टियों में वे आजमगढ़ हरिऔध जी के साथ रहते। वे उन्हें उसी प्रकार डाँटते फटकारते थे जिस प्रकार अपने पुत्र पौत्रों को। उनके प्रति ममता भी थी। धीरे धीरे श्यामनारायण जी की प्रतिभा का विकास होने लगा। वे अबोध बोपदेव से ज्ञानी बोपदेव के रूप में दीख पड़ने लगे। कवि-सम्मेलनों में जहाँ कहीं हरिऔध जी जाते श्यामनारायण जी को अवश्य अपने साथ ले जाते। श्यामनारायण जी उनकी और अपनी दोनों की कविताएँ पढ़ते।

आठ दस वर्षो की कठिन तपस्या के बाद श्यामनारायण जी का पुण्य उदय हुआ। वे कवि-सम्मेलनो में चमकने लगे। उनकी कविता पढ़ने की शैली बड़ी मनोमोहक है। कवि-सम्मेलनों में वे समाँ बाँध देते हैं। अपने शिष्य को इस प्रकार प्रतिष्ठा प्राप्त करते देख हरिऔध जी प्रसन्न होते; परंतु वे यह चाहते थे कि श्याम-नारायण जी थोड़ा भाषा पर और भी अधिक ध्यान दें। 'हल्दी-घाटी' की पंक्ति-पंक्ति को उन्होने खरादा था। श्यामनारायण जी को कवि-सम्मेलनों में जो लोक-प्रियता प्राप्त हो रही थी उसने उनको चकाचौंध कर दिया। स्वभावतः उनमें थोड़ा अहं आने लगा। उचित ही था। हल्दीघाटी की निम्नलिखित चार पंक्तियाँ उन्होंने संशोधनार्थ हरिऔध जी के सम्मुख उपस्थित कीं :—

'घन घन घन घन घन घन गरज उठे
रण वाद्य सूरमा के आगे।

साहस जागे पुश्तैनी के
वीरत्व वीर उर के जागे।'

हरिऔध जी ने पंक्तियाँ सुनी और कहा–'साहस जागे पुश्तैनी के' का क्या अर्थ है। यह पंक्ति अशुद्ध और अस्पष्ट है। इसे और खरादो।

श्यामनारायण जी को हरिऔध जी की आलोचना कुछ जँची नहीं। उन्होने कहा—'पंडित जी यह भी एक प्रयोग है। आप तो मेरी कविताओं की कभी हृदय से प्रशंसा नहीं करते। न जाने क्या बात है!'

हरिऔध जी को थोड़ा क्रोध आया, वे बोले–'तुम मूर्ख हो। मनमाने ढग से कविता नही लिखी जाती; और यदि चार व्यक्ति प्रशंसा कर दे तो इससे तुम महाकवि नहीं हो जाओगे। हर बात को समझने का यत्न किया करो। हिन्दो में यही उच्छृङ्खलता तो सब कुछ नष्ट कर रही है। कोई गुरु की सलाह नहीं लेना चाहता और न उसे प्रिय ही लगती है।

तुम्हारी तरह एक शागिर्द था। वह अपने उस्ताद के यहाँ इसलाह लेने गया। उसकी भी तुम्हारी ही तरह प्रशंसा होने लगी थी। उसने उस्ताद के सम्मुख एक शेर पढ़ाः—

मौसमें गुल में यह कहता है कि गुलशन से निकल।
ऐसी बे पर की उड़ाता कभी सैय्याद न था।

उस्ताद ने शांति से शेर सुना और बोले—'हाँ ठीक है, इसे थोड़ा और खरादो। शागिर्द साहब तुम्हारी ही तरह अहं के शिकार हो रहे थे। उन्होंने कहा—'उस्ताद यही तो बात है। आप मेरी नज्मों की खुलकर दाद नहीं देते। मुझे बड़ी हैरानी है। दुनिया वाह वाह करती है और आप मुझे तनिक भी बढ़ावा नहीं देते।

उस्ताद को कुछ क्रोध हो आया। उन्होंने कहा—'मरदूत तू बड़ा अक्लमंद बनता है। दुनिया की शोहरत के पीछे दीवाना है। 'मौसमें गुल में' और 'ऐसी बे पर की', में क्या रियायत है ?'

शागिर्द का सर नीचा हो गया। वह बोला—'उस्ताद ग़लती माफ हो। आप ठीक कहते हैं। दोनों में कोई रियायत नहीं। क्या होना चाहिये फर्मायें।'

उस्ताद ने कहा—'बेटा पहली लाइन को इस तरह बदल दे:—

पर कतर कर के यह कहता है कि गुलशन से निकल।
ऐसी बे पर की उड़ाता कभी सैय्याद न था।

शागिर्द पानी पानी हो गया। उसने यह अनुभव किया कि अभी उसे कुछ दिन और अभ्यास तथा तपस्या करनी चाहिए।

उपर्युक्त उदाहरण देकर हरिऔध जी शान्त हो गये। श्याम-नारायण जी ने भी अनुभव किया कि वे गलत मार्ग पर हैं। कविता का शोधन प्रारंभ हुआ।

इसके उपरांत एक और विचित्र घटना हुई; जिसके कारण पंडित श्यामनारायण हरिऔध जी के विरोधी का रूप धारण करने लगे। 'देव पुरस्कार' के लिए उन्होंने अपनी 'हल्दीघाटी' पुस्तक भेजी थी। हरिऔध जी पुरस्कार के निर्णायकों में से थे। श्याम-नारायण जी का यह साहस नहीं हुआ कि वे हरिऔध जी से अपने संबंध में कुछ कहे। इस कार्य के लिए उन्होंने मुकुंद जी को ठीक किया।

एक दिन जब हरिऔध जी बड़ी प्रसन्न मुद्रा में थे तब मुकुन्द जी ने श्यामनारायण जी की सुधि दिलाई और कहा कि यदि देव पुरस्कार श्यामनारायण जी को प्राप्त हो जाता है तो आप की भी कीर्ति होगो। अन्य लोगों से उन्हें आप ५–१० अंक अधिक दे दें तो उनका बड़ा उपकार होगा।

हरिऔध जी मुकुंद जी की बातें सुनकर बड़े क्रुद्ध हुए और बोले—'तुम कल के लौंडे हमें उचितानुचित की शिक्षा देते हो। हमें क्या यह नही ज्ञात है कि हमारा क्या कर्तव्य है। अब मुझे तुम से अपना कर्तव्य सीखना होगा ! इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण बातें भविष्य में मैं नहीं सुनना चाहता। तुम अपना काम देखो।'

मुकुन्ददेव दुम दबा कर भाग खड़े हुए। उनमें इतना कहाँ साहस कि इसके बाद कुछ कहते।

हरिऔध जी ने देव पुरस्कार में आयी चार-पाँच पुस्तकों को अस्सी अस्सी अंक प्रदान किये। वास्तव में वे सब पुस्तकें एक श्रेणी की थीं। श्यामनारायण जी को जब मुकुंददेव ने सारी बातें बतायीं तो वे थोड़ा रुष्ट हुए और उन्होंने हरिऔध जी के यहाँ आना जाना बहुत कम कर दिया। यही नहीं, एक कवि-गोष्ठी में उन्होने कहीं हरिऔध जी के विरुद्ध एक कविता भी पढ़ी। हरिऔध जी को उसी गोष्ठी में सम्मिलित हुए एक कवि ने आकर सारी बातें कह सुनायीं।

घटना के बहुत दिनों बाद श्यामनारायण जी पुनः हरिऔध जी के यहाँ आये। हरिऔध जी के व्यवहार में कोई अन्तर न था। उन्होंने पूर्व स्नेह के अनुसार ही बातचीत की। कुशल क्षेम पूछा। श्यामनारायण जी के साथ वे सज्जन भी थे जिन्होंने गोष्ठी की सूचना हरिऔध जी को दी थी। दूसरे दिन वे सज्जन पुनः हरिऔध जी के यहाँ प्रतिक्रिया की टोह लेने आये। उन्होंने कहा—'पंडित जी आपने श्यामनारायण जी को कुछ कहा नहीं ! कहने की कौन कहे आपने तो बड़ा ही सज्जनोचित व्यवहार किया।'

हरिऔध जी ने हँस कर कहा—'मैं क्या कहता ! इस संबंध में मेरी क्या नीति है मैं उसे आपको एक कथा सुनाकर समझा दूँ:—

'ईरान का एक शायर था। वह बहुत बूढ़ा हो गया था। लोग समझते थे कि वह सठिया गया है। एक दिन एक युवक कवि उनके यहाँ आया और बोला—'क़िबला मैं आपकी हजो लिखकर ले आया हूँ।'

बूढ़े शायर ने कहा—'हाँ हाँ बेटा सुनाओ।'

युवक कवि ने खूब झूम-झूमकर हजो सुनाना प्रारंभ किया। शायर के सम्मुख लकड़ी का एक छोटा सा सन्दूक रखा था। उन्होंने बड़ी शान्ति से हजों सुना और कविता समाप्त होने पर बड़े ही तटस्थ भाव से उन्होने युवक को सन्दूक से ५ दीनार निकाल कर दिया। युवक स्तंभित रह गया। बोला—'क़िबला यह क्या! मैंने तो आपकी हजो की और आप मुझे दीनारों का इनाम दे रहे हैं।'

बूढ़े शायर ने बड़ी शान्ति से कहा—बेटा, कोई बात नही तुम इन्हें ले जाओ। मेरे पुरखों ने मुझे जो नसीहत दी है मैं उसी की पाबंदी कर रहा हूँ।

युवक ने कहा–'जनाब, वह क्या नसीहत है मुझे भी बतला दें।'

बूढ़े शायर ने कहा—बेटा वे कहा करते थे कि भूँकनेवाले कुत्ते का मुँह रोटी से बंद कर देना चाहिये। मैंने वही किया है। यह कोई नयी बात नहीं है। युवक शायर बड़ा लज्जित हुआ और वहाँ से उठकर धीरे से खिसक गया।'

'मेरी भी यही नीति है। मैं क्यों भला-बुरा कहूँ! आज नही तो कल क्या वास्तविकता है यह स्पष्ट हो ही जायगी। फिर श्यामनारायण जी तो हमारे पौत्र के समान हैं। उसके कहने का कहाँ तक बुरा माना जा सकता है! अपना ही बच्चा यदि जंघा पर बैठ कर मल त्याग कर देता है तो जंघा को काटा नहीं जाता।'

वे सज्जन हरिऔध जी की बातें सुनकर बड़े प्रभावित हुए और वहाँ से चले गये।

जो भी हो श्यामनारायण जी हरिऔध जी के परम प्रिय पात्र और मुख्य शिष्य रहे हैं। यह हिन्दी-संसार भली भाँति जानता है। आज श्यामनारायण जी ने हिन्दी-संसार में अभूतपूर्व कीर्ति भी प्राप्त की है। वीर काव्य के वे अप्रतिम महाकवि है इसमे कोई संदेह नहीं।

हरिऔध की शिष्य-शृंखला की एक कड़ी श्री गुरुभक्त सिह 'भक्त' भी हैं। यद्यपि वे स्पष्ट रूप से यह स्वीकार नहीं करना चाहते कि वे हरिऔध के शिष्य हैं। परंतु मैं अनेक घटनाओं का साक्षी रहा हूँ। अतः यह कहने का साहस कर रहा हूँ कि हरिऔध जी ने 'भक्त' जी के 'नूरजहाँ' काव्य के शोधन में जितना परिश्रम किया था उतना संभवतः उन्होंने किसी अन्य ग्रन्थ के लिए नहीं किया था। भक्त जी 'नूरजहाँ' की पांडुलिपि के संशोधनार्थ कई महीने तक हरिऔध जी के साथ उन्हीं के निवासस्थान पर अतिथि के रूप में रह चुके हैं। 'नूरजहाँ' का संशोधन कार्य प्रातःकाल ७ बजे से १० बजे तक और रात्रि में ७ से लेकर ९ बजे तक कई महीनों तक चलता रहा। उसकी सैकड़ों पंक्तियों में आमूल परिवर्तन किये गये। इस बात का रहस्योद्‌घाटन 'नूरजहाँ' की प्रथम पांडुलिपि देखने से हो सकता है। हरिऔध जी का भक्त जी के साथ बड़ा स्नेह का संबंध रहा है। वे उन्हें अपनी मुहावरेदार कविता का प्रतिनिधि मानते रहे हैं। भक्त जी भी हरिऔध जी से देव पुरस्कार के कारण ही रुष्ट हुए। स्वाभाविक था। वे यह चाहते थे कि हरिऔध जी उन्हें सहायता करें। परंतु हरिऔध जी न्याय और निर्णय के सम्मुख किसी की कुछ भी सुनने के लिए तैयार

नहीं थे। फलतः भक्त जी को भी निराशा और आक्रोश हुआ।

भक्त जी ने 'नूरजहाँ' की भूमिका में हरिऔध जी द्वारा किये गये श्रम के प्रति किसी प्रकार की कृतज्ञता भी नहीं व्यक्त की है। इसका प्रधान कारण यह था कि वे यह स्वीकार नहीं करना चाहते थे कि किसी ने किसी प्रकार उन्हें सहायता प्रदान की है।

अवश्य ही भक्त जी पर हरिऔध जी की बोलचाल की भाषा का पूर्ण प्रभाव पड़ा है। इन्हें उर्दू और फारसी का अच्छा ज्ञान है, अतः वे मुहावरेदानी की बारीकियों को समझने की क्षमता रखते हैं। भक्त जी अपने को हिन्दी का 'वर्ड्सवर्थ' कहलाने के लिए बड़े इच्छुक रहते थे, अतः सर्व प्रथम हरिऔध जी से बहुत आग्रह कर उन्होंने अपने को हिन्दी का वर्ड्सवर्थ घोषित कराया।

मेरा अपना विचार है कि भक्त जी ने हिन्दी-साहित्य में प्रकृति का चित्रण बड़ी तन्मयता और भावुकता से किया है। उनकी प्रकृति-निरीक्षण की दृष्टि बड़ी पैनी रही है। प्रकृति के साथ उन्होंने अनेक स्थलों पर तादात्म्य का संबंध स्थापित किया है। यह उनकी बड़ी अभूतपूर्व सफलता है। वे प्रकृति के कवि के रूप में वर्ड्सवर्थ से भी महान हैं। ऊपर भक्त जी के संबंध में जो कुछ भी कहा गया है वह व्यक्ति से संबंध रखता है कवि से नहीं।

हरिऔध जी इन सब बातों को भली भाँति समझते थे, परंतु वे बड़े ही व्यवहार-कुशल व्यक्ति थे, अतः साधारणतया वे ऐसे विवादों में कभी नहीं पड़ना चाहते थे जिससे कटुता उत्पन्न हो और संबंध-विच्छेद की स्थिति उत्पन्न हो जाय। संसार की द्वैधी नीति का उन्हें ज्ञान था परंतु वे अपने को उससे ऊपर रखना चाहते थे।

****

हरिऔध जी की रुचि और स्वभाव वैशिष्ट्य

पत्नी के देहावसान के उपरान्त हरिऔध जी की कवित्व-शक्ति चरमोत्कर्ष को पहुँची। उनके हृदय का कवि विरह की अग्नि में व्याकुल हो आकंठ करुण-रस के स्रोत में निमग्न हो उठा। इस घटना के पूर्व उन्होंने जो भी पद्य-रचनाएँ की थीं वे रुढ़ि और परम्परागत थीं। उनमें न तो मौलिकता थी और न सरस हृदय की कोई नवीन उद्भावना। पत्नी के विरह ने उन्हें प्रिय के प्रवास की अद्भुत अनुभूति प्रदान की और उनकी लेखनी से कविता अजस्र धारा के रूप में फूट पड़ी। हरिऔध जी इसके पूर्व भी कविता करते थे, उनकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं, परंतु पत्नी के देहावसान के बाद ही उनकी कीर्ति का स्तम्भ—'प्रियप्रवास' निर्मित हुआ। जीवन-सहचरी के अभाव में वे कोई आश्रय खोजने लगे और यह आश्रय उन्हें कविता सहचरी में प्राप्त हुआ। इस सहचरी के प्रति अत्यंत निष्ठावान होकर उन्होंने जीवन व्यतीत करना प्रारंभ किया।

हरिऔध जी वास्तविक रूप में सच्चे कवि थे। जब मैं सच्चा कवि कह रहा हूँ तब वर्तमान समय के कवियों के मानदण्ड का आश्रय नहीं ले रहा हूँ। वे पूर्णतः व्यसनहीन और बड़े ही चरित्र-वान कवि थे और कविता को बड़ा शुद्ध और पवित्र दृष्टि से देखते थे। एक एक शब्द का वे मनन करते थे और जिस समय वे लिखने बैठते थे समाधिस्थ हो जाते थे। इसके अनेक उदाहरण हैं।

अधिकतर वे प्रातःकाल काव्य-प्रणयन करते थे। उस समय किसी की भी उपस्थिति उनके लिए बड़ी कष्टकर हो जाया करती थी। यहाँ तक कि वे अपने परिवार के लोगों का भी पास आना सहन नहीं करते थे। एक दिन वे बैठे 'वैदेही वनवास' लिख रहे थे। बड़ी तन्मयावस्था थी। उसी समय किसी कार्यवश मुकुन्द देव उनके सम्मुख गये, उन्होंने कुछ कहा, वे बोले—'कहिये आप कहाँ से आये हैं! थोड़ी देर बैठ जाइये इसके बाद मैं आप से बातचीत करूँगा।' मुकुन्ददेव धीरे से वहाँ से खिसक गये। हरिऔध जी ने जब अपना कार्य समाप्त कर लिया तब उन्होंने अपने सेवक को बुलाया और कहा—'मुझसे एक सज्जन मिलने आये थे। वे कहाँ चले गये! उन्हें बुलाओ।'

सेवक ने कहा—'यहाँ तो कोई आया ही नहीं।' सेवक ने मुकुन्ददेव से सारी बातें कहीं। उन्होंने हरिऔध जी से कहा—'आज आप से मिलने तो कोई नहीं आया था। मैं ही कुछ कहने गया था।' परंतु 'हरिऔध' जी को विश्वास नहीं हुआ। वे बोले—'तुम तो मेरे पास आये ही नहीं।'

तन्मयता की स्थिति में वे इस प्रकार खो से जाते थे और उन्हें यह भी पता नहीं चलता था कि कौन आया और कौन गया। इसी प्रकार एक दिन वे संध्या समय विचारमग्न हो आराम कुर्सी

पर बैठ कर चिंतन में लीन थे। पंडित चन्द्रदत्त जी त्रिपाठी मुकुन्द देव के साथ आये और लगभग आधे घंटे तक वे चुपचाप बैठे रहे। आधे घंटे के बाद ध्यान भंग होने पर हरिऔध जी ने कहा—'कहिये महाराज आप कब आये। कुशल तो हैं।' मुकुन्ददेव और त्रिपाठी जी हँस पड़े। चन्द्रदत्त जी ने कहा—'पंडित जी मैं तो आधे घंटे से बैठा हूँ।' हरिऔध जी को उनकी बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ।

उन्हें मैंने रात्रि के समय एक एक शब्द से घंटों उलझते देखा है। जिन दिनों वे 'वैदेही-वनवास' की रचना कर रहे थे वे एकाएक रात मे उठते और लालटेन की बत्ती तेज कर बॅगला के शब्द-कोश मे शब्दों को देखना प्रारंभ करते और घंटो बैठे रह जाते। वे हिन्दी के शब्द-कोश का कभी प्रयोग नही करते थे। फारसी का एक शेर हरिऔध जी के कवि-चरित्र पर पूरा प्रकाश डालता है :—

बराय पाकिये लफ़्जे शबे बरोज आरन्द।
कि मुर्ग़ माहीओ बाशन्द खुफ़्ता ऊबेदार॥

भावार्थ यह है कि कवि एक सुन्दर शब्द को बैठाने की खोज में उस रात को जाग कर दिन मे परिणत कर देता है, जिसमें नभचर और जलचर तक बेखबर पड़े सोते रहते हैं।

ये पंक्तियाँ हरिऔध जी के कवित्वमय जीवन को सटीक चित्रित करती हैं। लालटेन के धीमे प्रकाश में अत्यधिक जरावस्था में उन्हें जिसने बैठकर लिखते देखा है वही इसका अनुभव कर सकता है कि कविता के प्रति उनके हृदय में कितनी निष्ठा थी और वह कितनी उनकी अनन्य रुचि की वस्तु रही है। यतः वे बड़ी निष्ठा से ईमानदारी के साथ काव्य-रचना करते थे अतः यदि कोई उनके काव्यों की, रचनाओं की कटु आलोचना करता था तो वे अत्यधिक विचलित हो जाते थे और कभी कभी उनके नेत्रों में

आँसू भी छलक आते थे। उनकी सर्वश्रेष्ठ रुचि की वस्तु कविता ही थी।

कविता के अतिरिक्त उन्हें संगीत से भी बड़ा प्रेम था। वे एकान्त में कभी कभी स्वतः तो गुनगुनाते ही थे परंतु उन्हें संगीत सुनने का बड़ा शौक था। यह लोग कम जानते हैं कि हरिऔध जी बड़ी अच्छी ढोलक बजाते थे और जब वे निजामाबाद में रहते थे तब संगत में होने वाले सभी संगीतोत्सव में बड़ी कुशलता से अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। कवि तो थे ही साथ ही बड़े ही सुसंस्कृत रुचि के रसिक थे। बिना किसी बनावट के वे वेश्या का गायन भी सुनने के लिए तत्पर रहते थे और महफिलो मे जाने मे उन्हे सकोच नहीं होता था। यही नहीं वे संगीत सुनने स्वयं जाते थे और बड़ी सरलता से वे अपने बच्चों को भी संगीत सुनाने के लिए साथ ले जाते थे।

हरिऔध जी हिन्दू विश्व-विद्यालय के चोरमहल छात्रावास में रहते थे। उनके साथ उनके भतीजे भी रहा करते थे। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पंडित रामनारायण जी मिश्र भी उसी छात्रावास मे रहते थे। वे पक्के आर्यसमाजी थे। वेश्या-नृत्य अथवा संगीत के प्रति उन्हे रूढ़िगत घृणा थी। काशी मे किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के यहाँ संगीत-गोष्ठी का आयोजन किया गया था। हरिऔध जी भी उस गोष्ठी में आमंत्रित किये गये थे। उन्होंने अपने भतीजों से भी संध्या समय साथ चलने के लिए कहा। कहीं से पंडित रामनारायण जी को हरिऔध जी के कार्यक्रम का पता लग गया। उन्होंने हरिऔध जी से कहा—'आप का इस प्रकार की गोष्ठियों में जाना ठीक नहीं। फिर आप बच्चों को भी साथ ले जा रहे हैं, यह तो नितांत अनुचित है।' हरिऔध जी की दलील

यह थी कि संगीत का रसास्वादन बुरा नहीं। वेश्यावृत्ति अवश्य बुरी है। गायन-वादन कला है और एक अच्छी कला है अतः यदि बच्चे साथ जाते हैं तो इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं। परंतु पंडित रामनारायण जी को वे अपने विचारों से संतुष्ट नहीं कर सके। पंडित रामनारायण जी प्रारंभ में बड़े कट्टर चरमपथी विचार के सज्जन थे। वे बाल रखना, तेल लगाना और दर्पण देखना भी विलासिता समझते थे। हरिऔध जी इस प्रकार की बातों में तनिक भी विश्वास नहीं करते थे। अतः दोनों में स्पष्ट मतभेद हो गया। कुछ दिनों के बाद जब मिश्र जी ने हरिऔध जी के सरल रसिक स्वभाव को भली भाँति समझ लिया तो उनका भ्रम दूर हुआ।

सुकंठ कंठ की मधुर तान उनके हृदय पर मोहिनी मंत्र का प्रभाव डालती थी। वे विह्वल हो उठते थे। काशीस्थित मामूर-गंज मुहल्ले में जिस कोठी में हरिऔध जी रहा करते थे उसकी चहारदीवारी जेलों की चहारदीवारी को मात करती थीं। संध्या समय, अंधकार के बढ़ते हुए प्रभाव के समय जब नगर के काम काज से छुट्टी पाकर लोग घर की ओर आया करते थे तब प्रति दिन एक व्यक्ति के सुकंठ कंठ का संगीत उन्हें मोहित कर लेता था। वह ग्वाला था और बड़ी मस्ती के साथ टीप लेता था। वह सुकंठ था और उसके स्वर में बड़ा ही हृदयस्पर्शी कम्पन था। एक दिन उसने तान छेड़ी और गा उठा :—

परग परग भुइयौं भारी, लषन कहँ छोड़ि आयो जनक-दुलारी।

संगीत की ध्वनि चहारदीवारी पार कर हरिऔध जी के कानों से आकर टकराई, वे तड़प उठे और वाह! वाह!! कह कर पंक्तियों की आवृत्ति करने लगे। ये पंक्तियाँ उनके हृदय में

ऐसी गड़ीं कि वे उन्हें कभी न भूल सके। संध्या समय जब वे पूर्ण निश्चिन्त होकर अपनी आराम कुर्सी पर बैठते तो कुर्सी के हत्थों पर ताल देते हुए बड़ी पतली आवाज में बरबस गा उठते:-

परग परग मुइयाँ भारी, लषन कहँ छोड़ि आयो जनक-दुलारी।

गाते गाते वे रुक जाते और अपने अवरुद्ध कंठ को साफ कर लेते। संगीत में उन्हें परमानन्द का अनुभव होता था।

हरिऔध जी को आतिथ्य-सत्कार में भी बड़ा आनन्द आता था। जो भी अतिथि उनके यहाँ आता था उसके लिए वे विशेष रूप से व्यवस्था करते थे। उनकी यह उत्कट इच्छा रहती थी कि अभ्यागत को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाये। कभी कभी वे इतनी सतर्कता रखते थे कि अतिथि को बड़ा संकोच होने लगता था और वह यह अनुभव करने लगता था कि वह किसी सुन्दर स्थान में बंदी है। अतिथि के भोजन आदि के समय वे स्वतः प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण करते थे। उन्हें खाने पीने का उतना शौक न था जितना खिलाने का। पर्वों और उत्सवों के दिन वे अपने मित्रों को भोजन के लिए अवश्य निमंत्रित करते थे। कौन कौन सी वस्तुएँ बननी चाहिये इसकी तालिका वे स्वतः बड़े उत्साह से बनाते थे।

हरिऔध जी को यदि किसी वस्तु की लिप्सा थी तो यश की। वे अपनी कीर्ति के लिए, यश के लिए, सब कुछ त्यागने के लिए तैय्यार रहते थे। उनका संयमी जीवन, उनकी सच्चरित्रता और साहित्य के लिए जीवनार्पण यश के लिए ही था। उनके विरुद्ध यदि कोई आलोचना प्रकाशित हो जाती थी तो वे प्रतिवाद तो कभी भी न करते थे परंतु उनका हृदय बड़ा दुःखी होता था और वे महीनों अन्यमनस्क हो जाते थे। आर्थिक संकट होने पर भी

समय समय पर अपने यश के लिए उन्होंने मुक्तहस्त होकर दान दिया है। यहाँ तक कि एक साहित्यिक को जिनका मैं नाम नहीं लिखना चाहता उन्हें एक बार उन्होंने पाँच सौ रुपये पुरस्कार स्वरूप अथवा सहायता स्वरूप प्रदान किया था।

'सर्व भूत हिते रतः' में वे केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से विश्वास नहीं करते थे। यह सिद्धान्त उनके जीवन में मूर्त रूप में वर्तमान था। किसी को वे पीड़ित, दुःखी और कष्ट में देखकर इतने द्रवित हो जाते थे कि उनकी आँखों से अश्रु प्रवाहित होने लगता था। अपनी सामर्थ्य भर वे गरीब को, दुखी को तथा विशेषकर छात्रों को बराबर सहायता प्रदान करते थे। उनके कार्यों से अप्रत्यक्ष रूप में किसी की भले ही हानि हो गयी हो परन्तु जानकर उन्होंने किसी को किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाने का साहस नहीं किया।

जहाँ तक धार्मिक विश्वास की बात है धर्म के उदार सार्वभौम सिद्धान्तों में उनका विश्वास था। 'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान् मा प्रमदः। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' का वे अक्षरशः पालन करते थे। सनातन-धर्म के प्रति उनका अनुराग था परंतु इस अनुराग के कारण अन्य धर्मों से उनका विराग न था। वे सनातनधर्मी थे परंतु संकीर्णता में विश्वास नहीं करते थे। हज़रत मुहम्मद अथवा महात्मा ईसा की बातों को, उनके विचारों को, कभी कभी वे बड़ी भावुकता से व्यक्त करते थे। परंतु सबसे अधिक हज़रत मंसूर के प्रति उनकी रुचि थी। मंसूर की जीवनगाथा कहते कहते वे प्रेमविह्वल हो जाया करते थे। मंसूर की साहसिकता, शरीर के प्रति विरक्ति, आत्मा के प्रति अटल विश्वास उनमें विचित्र प्रकार का उत्साह उत्पन्न कर देता था। अपने जीवन के अन्तिम काल में उन्हें कहीं से बाइबिल का

हिन्दी अनुवाद प्राप्त हो गया था। उसे भी अवकाश के समय वे बड़ी लगन के साथ पढ़ते थे।

अनेक अवसरों पर हरिऔध जी को बुरा भला कहनेवाले भी उनकी शुभ कामना के लिए उनके पास आते थे। वे यह समझते थे कि हरिऔध जी लाल पीले होंगे और झंझट खड़ा करेंगे। परंतु ऐसे अवसरों पर तो हरिऔध जी और भी अधिक सतर्क रहा करते थे। अपने निन्दक की भी वे बड़े प्रेम से आवभगत करते थे। इस संबंध में एक घटना उल्लेखनीय है। काशी से पंडित कान्तानाथ जी पांडेय 'चोंच' 'अलबेला' नामक पत्र निकालते थे। उस पत्र में 'हरिऔध' जी पर उन्होंने न जाने किस कारण बड़ा कीचड़ उछाला और उसमें उनकी पर्याप्त खिल्ली उड़ाई गयी। परंतु किसी कार्यवश 'चोंच' जी (अब 'राजहंस' जी) आजमगढ़ उनके निवासस्थान पर पहुँचे। हरिऔध जी ने उनका यथावत् स्वागत किया और बड़े प्रेम से मिले। परंतु उन्हे जो कुछ भोजन कराया गया वह बाजार से मँगाकर। घर के लोगों ने लाख कहा पर हरिऔध जी न माने। उन्होंने कहा—'तुम लोग समझते नहीं दुनिया बड़ी विचित्र है। यदि कहीं कुछ हो जायगा तो 'चोंच' जी यही कहेंगे कि 'हरिऔध' जी ने हमे विष दिला दिया।' उन्हें अपनी अपकीर्ति का बड़ा भय रहता था। उन्होंने बाह्य लोकाचार के अनुसार पांडेय जी का हर प्रकार से स्वागत सत्कार किया परंतु वे ऐसे किसी कार्य को करने के लिए तैयार न थे जिससे उन्हें या किसी को हरिऔध जी की सदाशयता पर संदेह हो।

हरिऔध जी लिखने पढ़ने के लिए भी बड़ी विशिष्ट सामग्री का प्रयोग करते थे। उनकी सारी पांडुलिपियाँ डिमाई आकार के विदेशी आइवरी कागज़ पर ही लिखी जाती थीं। वे स्वतः

अपनी पांडुलिपियाँ तैयार करते थे। लिखने के पूर्व कागज़ पर लाल रोशनाई से सुन्दर ढंग से हाशिया खींचते थे तथा सदा 'जे' नामक निब का उपयोग करते थे। वे साधारण कलम का ही उपयोग करते थे परंतु अपना कलम किसी को छूने तक न देते थे।

अपनी पुस्तकों, पत्रिकाओं, यहाँ तक कि समाचारपत्रों को भी वे प्राण से भी अधिक मूल्यवान समझते थे। भारतेन्दु-काल की पत्र-पत्रिकाएँ भी उन्होंने अपने जीवन काल में इस प्रकार सँजो कर रखी थीं कि ऐसा ज्ञात होता था मानों अभी वे प्रेस से बाहर छपकर आ रही हैं। वे गर्मी की छुट्टियों में अपने पुस्तकालय की सब पुस्तकों का स्वयं निरीक्षण करते थे और उन्हें सँभालकर रखते थे। यदि किसी पुस्तक का पृष्ठ फट या मुड़ जाता था तो वे बड़े दुखी हो जाते थे और उनकी आँखें भर आती थीं। वे सदा यही कहा करते थे कि मेरे बाद मेरी पुस्तकों की रक्षा करना ही हमारा सबसे बड़ा श्राद्ध होगा।

खेद है कि उनकी मृत्यु के बाद उनकी पुस्तकों की बड़ी दुर्दशा हुई। कुछ तो रद्दी में बिकीं कुछ इधर उधर हो गयीं। परिवार के सदस्यों के दुराग्रह के कारण उनका सर्वनाश हुआ और जो कुछ थोड़ी बहुत बचीं वे बड़ी कठिनाई से आजमगढ़ नगर-पालिका द्वारा संचालित 'हरिऔध पुस्तकालय' को दी जा सकीं। यह भी तब संभव हुआ जब हरिऔध जी के अनुज पंडित गुरु-सेवक जी ने अथक परिश्रम किया और परिवार के सदस्यों के दुराग्रह को समाप्त कर सके।

'हरिऔध' जी को अपने हाथ से अपना काम करने पर ही संतोष होता था। वे अत्यधिक व्यस्त रहने पर भी स्वतः प्रत्येक पत्र का उत्तर अपने हाथ से ही लिखते थे। यही नहीं वे

बड़ी सतर्कता से पत्रादि लिखते और यदि कहीं धब्बा लग जाता तो उसे चाकू से खुरच कर ठीक कर देते थे। उन्हें सफाई बहुत पसंद थी। साधारण से साधारण व्यक्ति के पत्र का उत्तर वे अवश्य देते। अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक जिस पत्र-पत्रिका ने भी उनसे कविता माँगी वे सहर्ष उसे अपनी कविता भेज देते थे। कई बार लोगों ने कहा भी—'पंडित जी आप ऐसे साधारण पत्रों में क्यों कविता भेजते है जो सूचीपत्र की कोटि के हैं।' उनका उत्तर यही होता कि मैं किसी को हतोत्साहित नहीं करना चाहता। इस बात से अधिक उन्हें यह चिता रहती थी कि कोई उन्हे अभिमानी या दंभी न समझ ले।

'हरिऔध' जी अत्यंत साधारण कुल मे जन्म लेकर इतने महान हुए यह उनके अध्यवसाय का परिणाम था। जेठ, वैशाख की भयंकर दोपहरी में जब कि सब लोग विश्राम के लिए आतुर हो जाते हैं तब वे बैठकर लिखते पढ़ते रहते थे।

उनके हाथ की पांडुलिपियाँ देखने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि किस सतर्कता से वे अपनी रचनाएँ लिखते थे। उनके लिखने में कहीं भी काटा-कूटी नहीं होती थी। उनके प्रत्येक अक्षर मोती के समान चमकते दीख पड़ते हैं। वे घसीट कर या असावधानता-पूर्वक एक शब्द भी नहीं लिखते थे। वे अपनी रचनाओं में बहुत कम संशोधन किया करते थे। यहाँ तक कि कविताओं में भी वे संभवतः दो एक शब्द ही कभी बदलते थे। उनकी लेखनी बड़ी ही स्वाभाविक गति से निर्बाध रूप में चलती थीं। वे प्रातःकाल ७ बजे से ९ बजे तक यंत्रवत् नियमतः सरस्वती की अर्चना करते थे। यही उनकी संध्या-पूजा और समाधि थी।



****

हरिऔध जी की मित्र मंडली

हरिऔध जी की वृत्तियाँ बहुत कुछ अंतर्मुखी हो चुकी थी और अधिकतर उनका समय एकान्त काव्य-साधना में व्यतीत होता था अतः उनका सामाजिक जीवन बड़ा ही सीमित था। उनके पास इतना समय न था कि वे सभा सोसाइटियों के सदस्य हो कर पद लोलुपता के लिए इधर उधर दौड़ते। गभीर व्यक्तियों का साहचर्य ही उन्हें प्रिय था। आजमगढ़ में जब तक वे रहे तब तक अधिक समय उनका सरकारी कामों में ही व्यतीत होता था। वहाँ वे अधिक मित्र न बना सके। आजमगढ़ मे उनके समवयस्क एक मित्र थे पंडित गोविन्द चन्द्र मिश्र। मिश्र जी बड़े ही रसिक और सरस व्यक्ति थे। कचहरी में संभवतः मुहाफिज-दफ्तर थे। कचहरी के प्राणी होने पर भी उनमे साहित्यिक जीवन के प्रति रुचि थी और वे मध्यकालीन अथवा रीतिकालीन साहित्य के बड़े पारखी थे।

आजमगढ़ की सनातनधर्म-सभा के तो मिश्र जी प्राण ही थे। वे उन्नाव जिले के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। जबतक वे आजमगढ़ रहे धार्मिक कार्यों में बड़े उत्साह के साथ योग देते थे। उनके ही प्रयास से आर्य समाजी जलसों का उत्तर देने के लिए बड़ी धूम-धाम से सनातनियो का अखाड़ा भी जमता था। यह सब तो साधारण हलचल के कार्य थे। आजमगढ़ में हरिऔध जी जब तक रहे तब तक वे नित्य प्रति संध्या समय उनके निवास-स्थान पर आ जाते थे और दोनों व्यक्ति घंटो काव्य-रस का

आस्वादन करते। यह नित्यप्रति का कार्यक्रम था। जब हरिऔध जी काशी चले आये तब आजमगढ़ वे गर्मी की छुट्टियों में ही जाते थे। जब तक हरिऔध जी आजमगढ़ रहते तब तक मिश्र जी नित्यप्रति उनके पास आते थे। दोनों व्यक्तियों में बड़ा अटूट स्नेह था।

हरिऔध जी के सहयोग से मिश्र जी ने आजमगढ़ में एक संस्कृत कालेज की स्थापना की। उस कालेज का नाम 'सरस्वती पाठशाला' है। आज भी वह पाठशाला सुचारु रूप से चल रही है और पंडित गोविन्द चन्द्र जी तथा हरिऔध जी की एक स्थायी कीर्ति के रूप में वर्तमान है।

काशी आने पर और उसके पूर्व भी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी से हरिऔध जी की बड़ी घनिष्ठता हो चुकी थी परंतु वे उन्हें सदा अपना बड़ा भाई कह कर आदर किया करते थे। काशी में उनकी तीन व्यक्तियों से बड़ी घनिष्ठता और मैत्री थी। वे सज्जन थे—पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल, लाला भगवान दीन जी और जगन्नाथ दास जी 'रत्नाकर'।

हरिऔध जी, शुक्ल जी और लाला जी तीनों व्यक्ति एक साथ काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में काम करते थे अतः साथ रहने का पर्याप्त अवसर मिलता था। तीनों में खूब हँसी मजाक भी होता था।

एक बार हरिऔध जी, लाला जी और शुक्ल जी एक इक्के पर कालेज आ रहे थे। मार्ग में कुछ लड़के पतंग उड़ा रहे थे। एक लड़के की पतंग इक्के पर आकर गिरी। लाला जी ने मुस्कराते हुए कहा—'उपाध्याय जी लीजिए, कटी पतंग आ गयी आप उड़ाइये।'

हरिऔध जी ने कहा—लाला जी मुझे कटी पतंग उड़ाने का शौक नहीं है। आप ही इसे उड़ाइये।' तीनों महानुभाव अट्टहास

कर उठे। हरिऔध जी में अत्यधिक प्रत्युत्पन्नमतित्व था। वे किसी बात का किस समय क्या उत्तर देना चाहिये यह खूब जानते थे।

जिन दिनों हरिऔध जी मामूरगंज स्थित गोसाईं रामपुरी की कोठी में रहा करते थे उन दिनों संध्या को बहुधा 'रत्नाकर' जी उनसे मिलने के लिए आया करते थे। रत्नाकर जी काशी-निवासी थे। सौंदर्य-प्रिय और बाग़-बगीचों के शौकीन व्यक्ति थे। वे घंटो बगीचे में शिला पर बैठकर हरिऔध जी से वार्तालाप करते रहते। दोनों अपनी अपनी रचनाएँ सुनाते और काव्य-रस का आनन्द लेते। जीवन के अन्तिम दिनों में रत्नाकर जी ने महा-कवि सूरदास के सूरसागर का संपादन का कार्यभार अपने हाथों मे लिया था। परंतु बीच मे उनकी दशा शोचनीय हो गयी। हरिऔध जी जब उनसे भेंट करने गये तब उन्होने बड़े कातर शब्दो मे उनसे कहा—'उपाध्याय जी, जीवन की अन्तिम अभिलाषा थी कि सूरसागर का मैं सम्पादन पूर्ण कर लूँ। परंतु विधि को मेरी इच्छा स्वीकार नहीं। मुझे बड़ी चिंता है कि मेरे बाद मेरे इस कार्य को कौन पूरा करेगा! मेरी बड़ी अभिलाषा है कि यदि मैं न रहा तो आप मेरे इस अन्तिम अनुरोध पर कृपा कर मेरा कार्य पूरा कर दीजियेगा।'

अपने मित्र की दशा देख कर हरिऔध जी को बड़ा दुःख हुआ। इस प्रकार के दृश्य उनके लिए असहनीय हुआ करते थे। अश्रुपूर्ण नेत्रों से उन्होंने कहा—'भाई रत्नाकर जी आप दुखी न हों। आप शीघ्र अच्छे होंगे और भगवान की कृपा से आप अपना कार्य पूर्ण करेंगे।'

परंतु रत्नाकर जी को अपने स्वास्थ्य-लाभ का विश्वास न था। हुआ भी यही। कुछ दिनों के बाद वे स्वर्गवासी हुए और हरिऔध

जी ने उनकी इच्छानुसार 'सूरसागर' के सम्पादन का कार्य किया। वह 'सूरसागर' नागरी प्रचारणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित हुआ है।

शुक्ल जी और हरिऔध जी दोनों बहुत दिनों तक काशी-स्थित दुर्गाकुंड मुहल्ले में रहा करते थे। दोनों कभी कभी तांगे पर साथ ही कालेज आया जाया करते थे। सन् १९४० की बात है, हिन्दी-विभाग में हरिऔध जी, शुक्ल जी तथा अन्य कई अध्यापक साथ बैठे बात चीत कर रहे थे। किसी प्रसंगवश हरिऔध जी ने शुक्ल जी से पूछा—'शुक्ल जी आप की क्या अवस्था हुई ?'

शुक्ल जी अपनी मूँछों के अन्दर ही मुस्कराते हुए बोले—'उपाध्याय जी अभी तो मुझे देर है। आप चलिए वहाँ हम लोगों के लिए भी स्थान बनाइये। उसके बाद तो मैं आऊँगा ही।'

हरिऔध जी ने कहा—'हाँ हाँ ठीक है, भाई मैं तो अब बहुत वृद्ध हो चुका हूँ। मेरा क्या ! मेरे तो दिन अब इने गिने हैं ही।'

दुर्भाग्य की बात हरिऔध जी और शुक्ल जी में जिस दिन यह वार्ता हुई उसी रात को शुक्ल जी को श्वास का बड़ा भयंकर दौरा हुआ। उनकी आँखों से निद्रा विलीन हो गयी। रात मे ही डाक्टर बुलाया गया और उन्हें दिखलाया गया। शुक्ल जी ने नींद न आने की शिकायत की। डाक्टर ने उन्हें नींद आने की दवा दी। वे उस दवा को खाकर जो सोये फिर वे कभी न उठे और महानिद्रा की गोद में विलीन हो गये।

दूसरे दिन प्रातः काल हरिऔध जी को शुक्ल जी के स्वर्गवास का समाचार मिला। वे बैठे लिख रहे थे। उनके हाथ से कलम छूटकर गिर गया और वे हतप्रभ हो गये। उनके नेत्रों से अश्रु निकल पड़े। थोड़ी देर तक वे पाषाणवत् निर्जीव बने से बैठे रहे। उस दिन उनकी दशा ऐसी थी कि कहा नहीं जा सकता।

मृत्यु की काली छाया का उनपर भी प्रभाव पड़ रहा था। रत्नाकर जी न रहे, लाला जी पहले ही जा चुके थे। शुक्ल जी की मृत्यु के बाद तो उनकी मित्र मंडली ही समाप्त हो गयी।

हरिऔध जी की मित्र मंडली का यह वर्णन थोड़ा अपूर्ण सा है। हरिऔध जी के मुहल्ले—सदावर्ती—में कुछ गोलवारा साहु लोग रहते हैं। उनके विषय में कुछ न लिखना बड़ा अन्याय होगा और संभवतः हरिऔध जी की मित्र मंडली का पूरा चित्र भी सामने न आ सकेगा। इन गोलवारा साहुओं में दो भाई श्री शिव-प्रसाद साहु और श्री हरप्रसाद साहु हैं। गत वर्ष श्री हरप्रसाद साहु का देहान्त हो गया। श्री शिवप्रसाद जी अभी वर्तमान हैं। इन लोगों को हरिऔध जी के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वे हरिऔध जी को देवता समझते थे और अपनी सामर्थ्य भर तो नहीं श्रद्धा भर उनका सत्कार भी करते थे। इन लोगों से साहित्य का कोई संबंध न था। ये लोग चलते फिरते समाचार-पत्र के समान थे। आजमगढ़ भर का समाचार हरिऔध जी को इन महानुभावों से प्राप्त होता था। इन लोगों के एक बड़े भाई थे श्री रघुवीर साहु। उन्होंने बड़ा सुन्दर मंदिर बनवाया था। श्रावण के दिनों में उस मंदिर में बड़े उत्साह के साथ झूलनोत्सव होता था और प्रति दिन गायक तथा गायिकाओं की व्यवस्था होती थी। श्री रघुवीर साहु हरिऔध जी को अपना बड़ा घनिष्ठ हितैषी समझते थे। उनकी मृत्यु के बाद उनकी पत्नी भी हरिऔध जी के लिए कभी कभी फल फूल भेजा करती थीं। एक दिन बड़ी विचित्र घटना हुई।

हरिऔध जी अपने पुत्र के निवासस्थान पर संध्या समय नीम के वृक्ष के नीचे कुर्सी पर बैठे हुए थे। स्वर्गीय श्री रघुवीर साहु

के मन्दिर का एक सेवक आया और उसने कहा—'पंडित जी, दुलहिन जी ने अपना सब गहना और रुपया जो आप के पास पुजारी के द्वारा भेजा था माँगा है। 'हरिऔध' जी सेवक की बात सुनते ही बहुत घबड़ा गये। उन्होंने कहा—'कैसा गहना और कैसा रुपया ! तुम बड़े मूर्ख हो। हमसे इन सब वस्तुओं से क्या संबंध ! न तो हमने ये वस्तुएँ मँगायी थीं और न मेरे पास आयी। यह क्या बेहूदगी है !' हरिऔध जी बहुत क्रोधित हो गये।

सेवक बेचारा वहाँ से भाग खड़ा हुआ। हरिऔध जी ने उसे डाँट कर भगा तो दिया परंतु उन्हें कुछ रहस्य समझ में न आया। वे बड़े चिंतित रहे। उन्होंने अपने भाग्नेय पंडित विश्वनाथ तिवारी जी को बुलाया और कहा—'क्या बात है सब पता लगा कर हमें बतलाओ।'

पंडित विश्वनाथ जी साहु जी के घर गये और उपर्युक्त घटना का क्या रहस्य है पता लगाने लगे। घर में जाने पर पता लगा कि दुलहिन जी ने बहुत अधिक अफीम खा ली थी। उस अफीम के नशे में ही उन्होंने यह सब कुछ कर डाला था। न तो उन्होंने किसी को गहना दिया था और न रुपये।

उस दिन से हरिऔध जी रघुवीर साहु के घरवालों से बड़े रुष्ट हो गये। इन तीनों भाइयों मे सबसे अधिक मनोरंजक व्यक्ति थे बाबू हरप्रसाद साहु। शहर में वे बैरिस्टर कहलाते थे। वे उन क़ाजियों मे थे जो शहर के अंदेशे से बराबर दुबले रहा करते हैं। हरिऔध जी के यहाॅ जो भी शुभ कार्य या उत्सव हुआ करते थे वे उसके प्रधान परामर्शदाता रहा करते थे।



****

हरिऔध जी के विश्वासपात्र तथा हनुमान

हरिऔध जी के बहनोई पंडित जगन्नाथ प्रसाद तिवारी प्रौढ़ावस्था में प्लेग के शिकार हुए। उनकी गृहस्थी साधारण सी थी। उन्होंने अपनी मृत्यु के समय अपने पुत्र पंडित विश्वनाथ जी का हाथ पकड़ाकर कहा था—'भाई अयोध्यासिंह, विश्वनाथ को भी अपने पुत्र सूर्यनारायण की भाँति समझना। आज से वह आप के धर्म के पीछे है।' इस घटना के पूर्व और इसके उपरांत हरिऔध जी अपने भागिनेय पंडित विश्वनाथ जी पर बड़ा स्नेह रखते थे और यदि यह कहें कि अपने पुत्र-पौत्रों से भी अधिक उनका विश्वास करते थे तो कोई अत्युक्ति की बात न होगी।

पंडित विश्वनाथ जी साधारण शिक्षा प्राप्त व्यक्ति है परंतु वे यदि बहुपठित नहीं तो बहुश्रुत व्यक्ति तो अवश्य हैं। जीवन-संघर्ष ने उनके जीवन में अनेक गुण उत्पन्न कर दिये हैं। वे बड़े ही व्यवहार-कुशल और नीति सम्पन्न व्यक्ति हैं। उन्हें भी अपने मातुल के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वे हर प्रकार से हरिऔध जी की सेवा में लगे रहते थे यतः हरिऔध जी उन्हीं के निवासस्थान

पर रहते थे अतः उन्हें हरिऔध जी को बहुत निकट से देखने और समझने का अवसर मिला था। घर का जितना कार्य होता था, चाहे वह वस्त्र खरीदने का हो चाहे अन्य कोई, वे पंडित विश्वनाथ जी को ही सब कार्य सौंपते थे। पंडित विश्वनाथ जी बड़े ही मृदुभाषी व्यक्ति हैं अतः उनकी मृदुभाषिता और व्यवहार-कुशलता के कारण हरिऔध जी उन्हें बहुत चाहते थे। जब तक हरिऔध जी उनके निवासस्थान पर रहे उन्हें गृहस्थी के खर्चे के लिए कुछ न कुछ बराबर दिया करते थे। यही नहीं, जब हरिऔध जी का अपना परिवार भी आजमगढ़ आकर रहने लगा तब वे इस संकोच में कि दुनिया उन्हें बुरा न कहने लगे वे अपना पूर्व संबंध बनाये रहे। हरिऔध जी जब आजमगढ़ छोड़ कर काशी रहने लगे तब प्रति मास दस रुपये आजीवन विश्वनाथ जी को देते रहे।

हरिऔध जी अपनी भगिनी को स्नेह की मूर्ति समझते थे। हरिऔध जी यदि भोजपुरी में किसी से बोलते थे तो उन्हीं से। जब पाटे पर हरिऔध जी भोजन करने बैठते थे तब वे उनके पास आकर बैठ जाती थीं और उन्हें परिवार की सब घटनाएँ सुनाया करती थीं। घर में क्या हो रहा है, किसको किस वस्तु की आवश्यकता है, ये सब बातें हरिऔध जी को उन्हीं से ज्ञात होती थीं। यदि किसी का कोई काम अटकता था, या किसी को किसी बात की आज्ञा लेनी होती थी तो वह चुपचाप उनसे अपनी बातें कह देता था। वे उस व्यक्ति की बड़ी कुशलता से वकालत करती थीं और हरिऔध जी को राजी कर लिया करती थीं। हरिऔध जी उनकी बातों को कभी टालते न थे।

लगभग ४० वर्ष की अवस्था में पत्नी के देहावसान के बाद हरिऔध जी बड़े भयंकर रूप मे बीमार पड़े। उनके जीवन का

वह बड़ा ही संकट पूर्ण काल था। उसके उपरान्त तो उन्होंने अपना जीवन इतना नियमित बना लिया था कि उन्हें कभी रोग-ग्रस्त होते किसी ने नहीं देखा। सम्भवतः इसी ४० वर्ष की अवस्था में ही उन्हे किसी होमियोपैथिक डाक्टर ने सलाह दी थी कि वे 'सलफर' और 'नक्सवामिका' नामक दवाइयों का बराबर सेवन करते रहें। इन दवाओं से उन्हें कोई लाभ होता था या नहीं मैं नही कह सकता, परंतु उनको संतोष तो अवश्य ही होता था। उपर्युक्त दो दवाओं के अतिरिक्त वे कभी किसी प्रकार की दवा न लेते थे।

हरिऔध जी अर्श के रोगी और कृशकाय थे, परंतु साधारणतया उन्होंने अपने स्वास्थ्य की अपने संयम से बहुत ही अच्छा बना रखा था। ५० वर्ष की अवस्था के बाद तो जब कोई उनसे पूछता—'पंडित जी, आप सकुशल तो हैं, आपका स्वास्थ्य ठीक तो है!' तब वे सदा यही कहते—'अब पचास को अवस्था है, जितने दिन चल जायँ बहुत है।' वे कभी यह नहीं कहते थे कि हमारा स्वास्थ्य ठीक है। उनमें यह मानसिक ग्रंथि उत्पन्न हो गयी थी। इस काल्पनिक मनःस्थिति से एक लाभ अवश्य होता था। वे सदा बहुत सतर्क रहते थे और अपने जीवन की नियमितता में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होने देते थे।

उनके इस नियमित जीवन का ही परिणाम था कि ४० वर्ष की अवस्था के बाद उन्हें कभी ज्वर नहीं आया। पाँच-दस वर्ष में कभी शीत का प्रकोप होता था। यदि कभी स्वास्थ्य खराब भी होता था तो वे दवा मँगाकर रख अवश्य लेते थे परंतु खाते न थे। उन्हें सदा यह संदेह बना रहता था कि कहीं औषधि हानि न पहुँचा दे।

सर्वप्रथम पंडित चन्द्रदत्त जी वैद्य ने उनके हृदय में रस और आयुर्वेदीय औषधियों के प्रति आस्था उत्पन्न करने का यत्न किया। अवस्था के कारण जब स्वास्थ्य में क्रमिक ह्रास होने लगा तब चंद्रदत्त जी ने उन्हें कुछ आयुर्वेदीय औषधियों के उपयोग करने की सलाह दी। बहुत दिनों तक तो वे मुक्ता आदि मँगाकर रख लेते थे और उनका उपयोग नहीं करते थे। परंतु पंडित चंद्रदत्त जी के अत्यधिक आग्रह करने पर उन्होंने आयुर्वेदीय औषधियों का कुछ सेवन किया। उससे उन्हें लाभ भी हुआ। स्वास्थ्य ठीक रहने पर वे किसी प्रकार की दवा आदि लेने के पक्ष में नही थे। पंडित चन्द्रदत्त जी की प्रतिभा, क्षमता और योग्यता की वे सदा सराहना किया करते थे।

निजामाबाद में हरिऔध जी को पैतृक भूमि और गृह आदि थे। माता-पिता और पत्नी के देहान्त के बाद उन्होने निजामाबाद को पूर्णतः त्याग दिया था। वे कभी वहाँ जाते तक न थे। उनका कहना था कि पहले के निजामाबाद की स्मृति से मुझे बड़ी पीड़ा होती है अत. मैं वहाँ नहीं जाना चाहता। जमीदारी से कुछ न कुछ आय होती थी। कुछ सीर भी थी। अतः वहाँ की व्यवस्था के लिए किसी न किसी की आवश्यकता थी। हरिऔध जी ने वहीं के एक ब्राह्मण बहरायची पांडेय को वहाँ का सारा कार्य सौप दिया था। बहरायची पांडेय हरिऔध जी को 'भैया' कहा करते थे और लच्छेदार बातें करने मे बड़े ही पटु थे। काम कम करना और बातें अधिक करना उनकी विशेषता थी। वे अपने व्यवहार से तथा बातों से हरिऔध जी को बड़ा प्रसन्न रखते थे। हरिऔध जी की किसी कार्य के लिए आज्ञा होने पर वे ऐसा नाटक करते थे कि ऐसा प्रतीत होता था मानों वे अत्यंत व्यस्त

हैं और बड़ी सच्चाई से काम कर रहे हैं। वे अपने को 'हरिऔध' जी का हनुमान कहा करते थे। जमींदारी के मामले में बहरायची पांडेय जो भी निर्णय करते थे वही अन्तिम निर्णय होता था।

एक कार्य के लिए और भी बहरायची की पूछ होती थी। हरिऔध जी को सदा यह आशंका रहती थी कि उनकी तबियत किसी क्षण खराब हो सकती है अतः वे अकेले कभी यात्रा नही करते थे। जब तक कोई उनके साथ न हो उनका कहीं जाना असंभव था। जाने की योजनाएँ कई दिनों पहले बन जाती थी परंतु जाने के दिन भी वे बड़ी अन्यमनस्कता से यात्रा करते थे। जब किसी का साथ नहीं मिलता था और यात्रा करना अनिबार्य होता था तब वे बहरायची पांडेय को अपने साथ लेकर कहीं जाया करते थे। बहरायची पांडेय हरिऔध जी की सेवा और देख भाल तो करते ही थे उनका मनबहलाव भी करते थे।

हरिऔध जी अपने भतीजे डाक्टर भूदेव शर्मा (श्री गुरु-सेवक जी के कनिष्ठ पुत्र) की सरलता और मृदु स्वभाव से भी बड़े प्रभावित रहते थे। विश्वविद्यालय के कार्य भार से मुक्त होने पर वे एक वर्ष तक काशी में रहे। भूदेव जी भी उन्हीं के साथ रहा करते थे। समय समय पर हरिऔध जी उनसे भी अपने रोगों के संबंध में राय लिया करते थे। भूदेव जी से वे अत्यधिक प्रसन्न रहा करते थे। भूदेव जी भी अपने पितृव्य का बड़ा आदर करते थे और उन्हें संतुष्ट रखते थे।



****

खड्गविलास प्रेस से संबंध विच्छेद

पटना स्थित खड्गविलास प्रेस के स्वामी बाबू रामदीन सिंह जी, तथा उनके बाद राय बहादुर बाबू रामरणविजय सिह ने हरिऔध जी के साथ बड़ा स्नेहपूर्ण संबंध रखा। हरिऔध जी को उन महानुभावों से कोई विशेष आर्थिक लाभ तो नही हुआ परंतु उन्हें सम्मान अवश्य मिलता रहा। एक बार किसी कारण हरिऔध जी रामरणविजय सिह जी से रुष्ट हो गये और उन्होंने रायबहादुर साहब को बड़ा कड़ा पत्र लिखा। रायबहादुर साहब ने हरिऔध जी को लिखा—

'मुझे इसका दुख है कि मेरे व्यवहार से आपको कष्ट हुआ। यदि मैं आपको संतुष्ट न रख सका, आपके कष्ट का कारण हुआ तो मेरे स्वर्गीय पिता की आत्मा को कैसे शांति मिलेगी और मैं तो कहीं का न रहूँगा।'

बाबू रामरणविजय सिह बड़े ही प्रभावशाली व्यक्ति थे। वे ब्रिटिश शासन-काल में विधान सभा के सदस्य थे। उन्होंने पर्याप्त वैभव, यश और ऐश्वर्य प्राप्त किया था लेकिन फिर भी वे हरिऔध जी के सम्मुख सदा नतमस्तक रहते थे। हरिऔध जी ने भी कभी उनसे कुछ नहीं कहा। हरिऔध जी के ग्रंथों के अनेक संस्करण

छपे, बिके परंतु जो कुछ भी बाबू साहब ने दे दिया या भेज दिया उसीको वे बहुत कुछ समझते थे।

बाबू रामरणविजय सिह के बाद परिस्थितियों में विचित्र परिवर्तन हुए। खड्गविलास प्रेस का कार्य बाबू रामजी सिह देखते थे, उनमे कुछ विनय की भावना भी थी, वे 'हरिऔध' जी का आदर भी करते थे परंतु बाबू शार्ङ्गधर सिह जी की वृत्ति कुछ और ही थी। वे नेता है और अपने को राजनीति का कुशल पंडित समझते थे। कार्य तो बाबू रामजी सिह देखते थे परंतु नीति-निर्धारण का कार्य श्री शार्ङ्गधर सिह जी ही करते थे। बाबू रामरणविजय सिह ने मृत्यु के पहले यह इच्छा व्यक्त की थी कि हरिऔध जी के साथ निश्चित रायल्टी पर सम्पूर्ण पुस्तकों की लिखापढ़ी हो जाय। हरिऔध जी को इस प्रकार के व्यवहार मे कुछ सकोच होता था। इसी संकोच के कारण मामला सुलझ भी न पाया और रामरणविजय सिह जी स्वर्गवासी हो गये। रायल्टी का जो कुछ भी उन्होंने निर्धारण किया था उसके ही अनुसार खड्गविलास प्रेस के यहाँ हरिऔध जी का पर्याप्त बकाया हो गया। इस संबंध मे जब वे पत्र भेजते थे तब या तो उत्तर नही आता था और यदि आता भी था तो बड़ा ही ऊटपटाँग। हरिऔध जी ने दुखी होकर श्री शार्ङ्गधर सिह जी को एक बहुत लम्बा पत्र भेजा और उसमें लिखा कि यदि यही स्थिति रही तो लाचार होकर मुझे आप लोगों से संबंध-विच्छेद कर लेना ही होगा।

इस पत्र के बाद बाबू शार्ङ्गधर सिंह जी ने अपनी शतरंज की गोटी फेंकी और यह प्रचारित कराया कि 'प्रियप्रवास' तो 'हरिऔध' जी का लिखा ग्रंथ ही नहीं है। उसे तो हम लोगों ने प्राचीन साहित्य की पांडुलिपियों में प्राप्त किया था। उनके नाम से इस

लिए छपा दिया गया था क्योंकि लेखक अज्ञात था। यही नहीं, उन्होंने अपनी वकालती प्रतिभा का भी प्रदर्शन किया। हरिऔध जी के सभी ग्रथों के मुख पृष्ठ पर अंग्रेजी में (All rights reserved) छपा रहता था। उन्होने कहलाया कि हरिऔध जी का न तो हमारे यहाॅ कुछ बकाया है और न हमारे यहाँ से छपी पुस्तकों पर उनका कोई अधिकार है क्योंकि हम लोगों ने पहले ही सब अधिकार ले लिया था।

पटना विश्वविद्यालय में रामदीन रीडरशिप के कुछ भाषण हुआ करते है। हरिऔध जी ने भी एक वर्ष तक भाषण किया था और उनके भाषण 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' नाम से पुस्तकाकार छपे। शार्ङ्गधर जी का कहना था कि यतः हम लोगों के प्रयत्नों से हरिऔध जी को यह अवसर मिला था अतः यह रुपया रायल्टी मे काट लिया जायगा।

इस प्रकार की अनेक दलीलें सामने आयीं। इस प्रकार का विचित्र व्यवहार होने पर भी हरिऔध जी खड्गविलास प्रेस से संबंध विच्छेद करने को तैयार नहीं होते थे। उन्हें आशा थी कि एक न एक दिन वे लोग उचित मार्ग पर आ ही जायेंगे और कुछ न कुछ समझौता हो जायगा। यह लिखा-पढ़ी तथा पत्राचार अनेक वर्षों तक चलता रहा। अन्त में बिहार के एक स्वनामधन्य नेता जो आज अत्यंत प्रतिष्ठित और पूज्य पद पर आसीन हैं उनके बीच-बचाव से बाह्य रूप में यह मामला समाप्त होता दीख पड़ा, परंतु भीतर ही भीतर वे लोग पैतरेबाजी करते ही रहे।

सन् १९३९ मे हरिऔध जी का 'वैदेही वनवास' नामक महा-काव्य पूर्ण हो चुका था। वे प्रकाशक की खोज में थे। वे खड्ग-विलास प्रेस वालों के व्यवहार से अत्यधिक दुखी हो चुके थे,

अतः ऐसा प्रकाशक चाहते थे जो सज्जन हो और जिसके साथ सुचारु रूप से संबंध निर्वाह हो सके। वैदेही वनवास के प्रकाशन का अधिकार देने में भी उन्होंने अनेक प्रतिबंध लगा रखे थे। उन सब में एक प्रतिबंध बड़ा ही विचित्र था जिसे कोई भी स्वीकार करने को तैयार नही होता था।

हरिऔध जी की एक स्वाभाविक दुर्बलता थी। उनके पुत्र तो उनके आश्रित थे ही, बड़े पौत्र श्री केशवदेव जी भी पढ़ना-लिखना छोड़कर उनके आश्रित हो गये थे। सीमित आय थी, व्यय का भार अत्यधिक था। वे यह चाहते थे कि श्री केशवदेव जी किसी कार्य से लग जायँ तो बड़ा अच्छा हो। दूसरी बात यह थी कि हरिऔध जी की यह उत्कट अभिलाषा रहती थी कि उनके पुत्र, पौत्र, भतीजे आदि किसी प्रकार उच्च पद पर पहुँच जायँ। कोई बेकार न रह जाय। वे उनकी योग्यता अथवा अयोग्यता के संबध में विचार करने के लिए तैयार नही होते थे। अवश्य ही यह स्वभाव की दुर्बलता थी। वे भी इसे समझते थे।

लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से 'माधुरी' पत्रिका का प्रकाशन होता था। बिहार के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिक पंडित नन्दकिशोर तिवारी उन दिनों उसके सम्पादक थे। तिवारी जी हरिऔध जी को पिता तुल्य मानते थे और उन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। नवलकिशोर प्रेस वालों को कहीं 'वैदेही वनवास' के संबंध में सूचना मिली और उन लोगों ने पत्र-व्यवहार आरंभ किया। पत्र-व्यवहार के कारण अधिक विलम्ब न हो इसलिए उन लोगों ने तिवारी जी को काशी भेजा। वास्तव में वे लोग पुस्तक प्रकाशित करने के लिए बहुत आतुर थे।

नन्दकिशोर जी उन शर्तों का निर्णय और पक्की लिखापढ़ी

करा देना चाहते थे जिन पर पुस्तक प्रकाशन का अधिकार दिया जाने वाला था। संध्या समय 'वैदेही बनवास' के संबंध में वार्तालाप प्रारंभ हुआ। सब बातें लगभग तय हो गयीं। अन्त में हरिऔध जी ने कहा—'तिवारी जी, इन सब शर्तों के अतिरिक्त मेरी एक शर्त यह भी है कि नवलकिशोर प्रेस के स्वामी हमारे पौत्र केशव देव को ५०) रुपये का कोई काम दें।'

तिवारी जी ने कहा—'पंडित जी, श्री केशवदेव जी की क्या योग्यता है ? वे कहाँ तक पढ़े-लिखे हैं ? वे क्या काम कर सकते है, यदि आप मुझे बतला दें तो मैं प्रयत्न करूँगा कि उन्हें कोई कार्य मिल जाय। परंतु पुस्तक-प्रकाशन के लिए यह शर्त नहीं होनी चाहिये और न कोई प्रकाशक इस शर्त को स्वीकार करेगा।'

हरिऔध जी ने कहा—'यदि उन्हें या आपको मेरी यह शर्त मान्य नहीं है तो बात करना ही व्यर्थ है। योग्यता आदि का प्रश्न नहीं। नवलकिशोर प्रेस वालों को केशवदेव को कोई न कोई कार्य देना ही होगा।'

नन्दकिशोर जी भी कुछ अक्खड़ स्वभाव के व्यक्ति हैं। उन्होंने कहा—'पंडित जी, यह तो अन्याय है। बिना योग्यता अथवा कार्य-क्षमता समझे कोई किसी को अपने यहाँ कैसे नियुक्त कर लेगा, आप ही सोचें ! ठीक है यदि आप पुस्तक नहीं देना चाहते तो मुझे आज्ञा दें मैं विदा होऊँ।'

नन्दकिशोर जी की वाणी में कुछ निराशा और कुछ क्रोध का अंश था।

हरिऔध जी ने कहा—'आप व्यर्थ में नाराज़ हो रहे हैं। आप चले कैसे जायँगे ! पुस्तक लेने-देने की बात और है, आप हमारे यहाँ से बिना खाये-पीये कैसे जा सकते है! यह नहीं हो सकता"

हरिऔध जी का वात्सल्य-भाव देखकर तिवारी जी कुछ शान्त हुए। फिर दोनों में विचार-विनिमय चला। हरिऔध जी अपनी बात किसी प्रकार स्वीकार करा लेना चाहते थे परंतु नन्दकिशोर जी की ऐसी स्थिति थी कि वे वचन नहीं दे सकते थे, अतः चले गये।

इस घटना के बाद भी अनेक प्रकाशक आये परंतु किसी से पटरी नहीं बैठी। इसका फल यह हुआ कि 'वैदेही वनवास' सन् १९४० तक अप्रकाशित ही पड़ा रहा। अन्त में हरिऔध जी के पौत्र मुकुंद-देव ने हरिऔध जी को एक प्रकाशक ढूँढकर दिया। मुकुन्ददेव उन दिनों काशी विश्वविद्यालय के टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में पढ़ते थे। काशी स्थित हिन्दी-साहित्य-कुटीर के स्वामी श्री द्वारकादास उपनाम राजाबाबू के यहाँ से पंडित सीताराम चतुर्वेदी की 'भाषा की शिक्षा' नामक पुस्तक प्रकाशित हो रही थी। वे नित्य प्रति संध्या को छात्रावास में आते थे और लगभग १० बजे रात्रि तक वहीं रह कर प्रूफ संशोधन करा कर घर जाया करते थे। उनका मुकुंददेव से वहीं परिचय हुआ और उन्होंने हरिऔध जी के 'वैदेही वनवास' के संबंध में उन्हें सारी बातें बतायीं। वे पुस्तक प्रकाशित करने के लिए तैयार हो गये। दूसरे दिन मुकुंददेव उन्हें लेकर हरिऔध जी के यहाँ आये और 'वैदेही वनवास' को प्रकाशनार्थ देने के लिए प्रार्थना की। 'हरिऔध' जी ने नहीं तो नहीं किया परंतु हाँ भी नहीं किया।

बाबू द्वारकादास चक्कर काटते रहे। महीनों हो गये परंतु कोई निर्णय न हुआ। अंत में एक दिन उन्होंने हताश होकर मुकुन्ददेव से कहा—'भाई मैंने बड़ी ध्रुव तपस्या की अब तो मेरे में शक्ति नहीं कि शहर से ६–७ मील रोज दौड़कर आऊँ। मैं तो हताश हो चुका हूँ।

कुन्ददेव ने उन्हें समझाया और शीघ्र निर्णय करा देने का वचन दिया। बाबू द्वारकादास पुनः कलैया करने लगे। मुकुंद-देव ने बड़े यत्न से हरिऔध जी की सब शंकाओं का समाधान किया और द्वारकादास जी को उसी सप्ताह 'वैदेही वनवास' प्रकाशित करने के लिए प्राप्त हो गया। द्वारकादास जी को वही प्रसन्नता हुई जो रंक को निधि प्राप्त हो जाने में होती है।

पुस्तक का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। द्वारकादास जी ने बड़ी लगन से और बड़ा परिश्रम कर 'वैदेही वनवास' प्रकाशित किया। पुस्तक बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाशित हुई। पुस्तक जब छप कर हरिऔध जी के हाथों में आई तो वे बड़े ही प्रसन्न हुए। इसके पूर्व खड्गविलास प्रेस में उनकी जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं उनका कलेवर, टाइप, कागज सब कुछ निकृष्ट कोटि का होता था। द्वारकादास को उन्होंने बहुत धन्यवाद दिया और सच्चे हृदय से फूलने-फलने का आशीर्वाद भी दिया।

इस घटना के उपरांत द्वारकादास जी ने अपनी ईमानदारी, सद्व्यवहार और विनम्रता से हरिऔध जी को मोह लिया। 'प्रियप्रवास' आदि का अभी तक कुछ निर्णय नहीं हुआ था। हरिऔध जी की ममता खड्गविलास प्रेस से संबंध-विच्छेद नहीं होने देना चाहती थी। परंतु मुकुंददेव के घोर आग्रह और अपनी आर्थिक हानि के कारण अन्त में हरिऔध जी ने द्वारकादास जी को 'प्रियप्रवास' भी प्रकाशित करने के लिए दे ही दिया। द्वारका-दास जी हरिऔध जी की कोई बात कभी टालते न थे। जब कभी हरिऔध जी ने धन माँगा, चाहे रायल्टी रही या न रही उन्होंने उन्हें रुपये भेजे। इस कारण हरिऔध जी विशेष रूप से द्वारकादास जी से प्रसन्न रहे। द्वारकादास जी के प्रति उनका

****

पेन्शन का वरदान और अभिशाप

हिन्दी के उन साहित्यिकों की कैसी हीनावस्था है जो केवल साहित्यिक हैं और साहित्य ही जिनके जीविकोपार्जन का माध्यम है, यह किसी से छिपा नहीं है । एक ओर तो हिन्दी के साहित्यकार प्रकाशकों के मायाजाल में फँसे हैं और दूसरी ओर उनकी पुस्तकें इतनी बिकती भी नही कि उनकी जीविका चल सके । सरकार से दान कोश के लिए शोर-गुल मचाना आज का धर्म हो गया है । आज भी जब कि हमारी राष्ट्रीय सरकार है तब इन साहित्यिकों की क्या अवस्था है यह सब लोग जानते हैं । निराला जी, शिवपूजन जी, नजरुल इस्लाम आदि न जाने कितने ऐसे साहित्यिक हैं जिन्होंने धनाभाव से पीड़ित रहने पर भी साहित्य-साधना में अपने को गला दिया, और आज जब उनकी अवस्था जर्जर हो गयी तब उनके लिए हाय हाय मच रही है । सरकार भी उन्हे सहायता दे रही है और जनता भी जो कुछ कर सकती है कर रही है । परंतु यह बातें कितनी प्रतिष्ठा की है यह विचारणीय है !

द्विवेदी युग के अनेक साहित्यिक ऐसे रहे हैं जिन्होंने अपनी रचना का पुरस्कार कभी स्वीकार नहीं किया । उन्होंने अपनी पुस्तकों की रायल्टी नही ली और यदि कभी कही से कुछ मिल गया तो उसे दान कर दिया । प्रसाद जी, हरिऔध जी आदि उन्हीं लोगों में थे । इन लोगों ने साहित्यिक-यात्राओं या लेखादि के लिए कभी किसी से धन स्वीकार नहीं किया । वे हिन्दी को पूज्य

और उसको बेंचना महान अपराध समझते थे। परिणाम यह था कि जिन प्रकाशको ने भी प्रारभ मे इनकी रचनाएँ प्रकाशित की उनको तो बन आयी परतु ये लोग अपने त्याग, अपने सिद्धान्त के कारण अभाव-ग्रस्त जीवन ही व्यतीत करते रहे।

'हरिऔध' जी थोडी भिन्न प्रकृति के व्यक्ति थे। वे 'मँगनो भलो न बाप से जो विधि राखै टेक' सिद्धान्त को मानते थे। वे कभी किसी के सम्मुख हाथ नही फैलाना चाहते थे। भयकर परिस्थितियो मे भी उन्होने बडे सतोष के साथ, बडे धैर्य के साथ दुर्दिन व्यतीत किया था। उन्हे केवल एक सहारा था और इस सहारे का उन्हे बडा भरोसा था। वह सहारा था पेन्शन। वे सरकारी नौकरी मे थे। वहाँ से जब मुक्त हुए तब उन्हे ४५) रुपये प्रति मास पेन्शन मिलती थी। हिन्दू विश्वविद्यालय मे भी वे अवैतनिक रूप मे ही कार्य करते रहे अत ये ४५) रुपये ही उनकी स्थायी आय थी और जो रुपये सवारी और मकान के लिए विश्वविद्यालय से प्राप्त होता था वह अधिकतर सवारी और मकान के किराये मे ही समाप्त हो जाता था।

गृहस्थी के झझटो से जब कभी वे ऊब कर विचलित हो जाते तब वे कह उठते—'मैं किसी का मुहताज नही हूँ। वृद्धावस्था में भी सरकार मुझे ४५) रुपये पेन्शन देती है, यह मेरे लिए पर्याप्त है। मै किसी के सम्मुख क्यो हाथ पसारूँ।' उनके ऊपर पूरे परिवार का बोझ था। घर मे वास्तव मे वे ही कमाते थे और सब खाते थे। यह परिस्थिति उनके जीवन के सध्याकाल तक चली। अत ऐसे व्यक्ति को क्या कठिनाइयाँ हो सकती है इसका अनुमान सहज मे ही लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त कारणो से वे अपनी पेन्शन को बडा महत्व देते थे,

और किसी भी स्थिति मे ऐसा न तो कोई कार्य करना चाहते थे जिससे कि उनकी पेन्शन पर ऑच आये और न सरकार रुष्ट हो। यही कारण था कि वे कभी प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रिय कार्यों मे योग न दे सके। उनमे देश के प्रति, देश के नेताओ के प्रति बडी श्रद्धा थी, परतु यह श्रद्धा दबी रह गयी। यदि उनकी रचनाओं मे प्रकट भी हुई है तो अव्यक्त रूप मे। कवि-सम्मेलनो और कवि-गोष्ठियो मे भी इसी लिए वे सभापति के रूप मे लोगो को ऐसी रचनाऍ नही पढ़ने देते थे जो सरकार विरोधी होती थी। वे इस प्रकार के किसी भी विवाद मे नही पडना चाहते थे। स्वदेशी से उन्हे प्रेम था परतु वे मोटा कपडा कभी नही पहनते थे, उन्हे उत्तम कपडो के पहनने का अभ्यास था। स्वदेशी वस्तुओ का प्रयोग भी करते थे परतु ब्रिटिश अथवा विदेशी वस्तुओ के वहिष्कार का ढिढोरा नही पीटना चाहते थे, क्योकि उसके कारण प्रत्यक्ष रूप से उनकी हानि हो सकती थी।

यही क्या, जब राष्ट्रिय आन्दोलन बहुत उग्र रूप धारण कर रहा था और बच्चो तक पर उसका प्रभाव पड रहा था तब वे बडे चितित रहते थे। यदि कही घर के किसी बच्चे ने 'इनकलाब जिन्दाबाद' कह दिया या 'झडा ऊँचा रहे हमारा' गाना प्रारभ किया तो वे बड़े स्नेह से बच्चे को अपने पास बुलाते और कहते—'बेटा यह सब क्या तुम कहते हो।' तुम गाओ—'गाइये गणपति जग वदन।' वे गाते और बच्चो को गाना सिखाते। इस प्रकार वे उनका ध्यान दूसरी ओर लगाना चाहते थे। उन दिनो ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर चारो ओर घूमा करते थे। उन्हे यह आशका लगी रहती थी कि कही कोई उनके विरुद्ध सरकार तक शिकायत न पहुँचा दे।

पेन्शन इस दृष्टि से अभिशाप सिद्ध हुई। उसने उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास मे बडी बाधा पहुँचाई। सभवत यह बाधा दूर हो गयी होती यदि पारिवारिक झझटो से वे स्वतत्र रहे होते, परतु यह उनके लिए जीवन-पर्यंत सभव न हो सका।

पडित श्यामनारायण पाडेय गर्मी की छुट्टियो मे सदा उनके साथ आजमगढ़ रहा करते थे। कही न कही कवि-गोष्ठी आदि हो जाया करती थी। किसी ने एक दिन आकर उपाध्याय जी से कह दिया कि श्यामनारायण जी ने अमुक स्थान पर विद्रोहात्मक कविता पढी है। पुलिस के लोग उनके पीछे पडे हुए है। इतना पर्याप्त था। हरिऔध जी बडे चितित हुए। उन्होने श्यामनारायण जी से कहा कि आप तत्काल कही ऐसे स्थान पर चले जाइये जहाँ आप को खतरा न हो। साथ ही यहाँ रहने पर मेरे ऊपर भी विपत्ति आ सकती है। घर के लोगो ने उन्हे समझाना चाहा कि कोई कठिनाई की बात नही है, आप तनिक न घबडाये, परतु वे किसी की बात सुनने के लिए तैयार न थे। उन्हे तब शाति हुई जब उन्होने श्यामनारायण जी को ऐसे स्थान पर भेज दिया जहाँ उन्हे कोई कठिनाई नही हो सकती थी।

सभा समितियो से दूर रहने का एक यह भी कारण था। वे यह व्यक्त नही होने देना चाहते थे कि उनके हृदय मे देश के प्रति अनुराग है। देश के नेताओ को जब पुलिस यातनाएँ देती थी, जेलो मे उन्हे कष्ट होता था तब वे बडे उद्विग्न होते थे और उनका हृदय रो उठता था, परतु वे मुँह से कुछ कह सकने मे लाचारी का अनुभव करते रहे।

यह मेरा अपना विचार है कि हरिऔध जी की प्रतिभा का यदि स्वतत्र रूप से विकास हुआ होता और परिस्थितियो ने उन्हे

इस प्रकार सीमित घेरे मे बदी न बना दिया होता तो वे और भी अधिक प्रभावशाली रूप मे साहित्य-क्षेत्र मे कार्य कर पाते। उनकी एक अच्छाई या बुराई यह भी थी कि वे दलबदी मे विश्वास नही करते थे। अपना दल बना कर दूसरो के दल से युद्ध करना, तू तू, मै मै करना अथवा साहित्यिक गुडई मे उनका विश्वास न था। आज इसी का युग है। प्रत्येक साहित्यिक अपना दल बनाकर दूसरे दल के नेता की पगडी उछालता है। यह उनके समय मे भी होता था।

हरिऔध जी के समय मे एक दल ऐसा था जो लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिको की पगडी उछालकर, उन्हे गाली देकर यश की चोटी पर पहुँचना चाहता था। इस प्रकार के कार्य से उन्हे कुछ यश तो प्राप्त हुआ ही परतु ऐसे लोग साहित्य-क्षेत्र मे कुछ ही दिनो मे पूर्णत नगण्य हो गये। भले ही राजनीतिक क्षेत्रो मे घुस-पैठकर वे चाँदी काट रहे हो। दलबदी की बात तो दूर, जब उनके विरुद्ध कोई कुछ लिखता था तब हिन्दी-साहित्य के अनेक साहित्यिक गण उसकी निन्दा करते थे। हरिऔध जी से जब कोई विवाद का उत्तर देने के लिए कहता तो वे स्पष्ट रूप मे कह देते कि मुझे इन झगडो मे नहीं पडना है। मैने सच्चे भाव से अपनी भावनाएँ व्यक्त की है, उसका जो चाहे जैसा अर्थ लगावे। यह ससार है, मै किसी का मुँह बद नहीं कर सकता। यही हाल स्वर्गीय शुक्ल जी का भी था। उन्होने भी अपने तीर्थ के पडे नही तैयार किये। परिणाम यह हुआ कि उनका भी झडा लेकर शोर मचानेवाले लोग नही दीख पड रहे है और न उनकी जयतियो अथवा स्मारक की धूम-धाम है।



*!***!*!****!****!*!****!*****!****!***!******

अन्तिम झाँकी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से वृद्धावस्था के कारण वे सन् १९४१ मे कार्य मुक्त हुए। वृद्धावस्था ने उन्हे जर्जर कर दिया था। सन् १९४१ तक वे महिला-विद्यालय मे ५–६ घटे तक पढ़ाया करते थे। सच्ची बात तो यह है कि वे कार्य मुक्त नही होना चाहते थे। पढने-लिखने और पढाने मे उन्हे लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता था। परंतु अवस्था का प्रभाव बडी तीव्र गति से बढ़ रहा था। उस समय उनकी ७५ वर्ष की अवस्था थी अत विश्वविद्यालय के अधिकारियो ने उन्हे विश्राम लेने के लिए कहा। मालवीय जी महाराज तथा तत्कालीन उपकुलपति डाक्टर राधाकृष्णन् ने भी कहा—'पडित जी, अब आपको विश्राम करना चाहिये। हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए आपकी सेवाएँ अत्यत अमूल्य रही हैं और साथ ही आप ऐसा त्यागी और कार्यनिष्ठ महानुभाव

मिलना कठिन है फिर भी इस अवस्था मे आपसे काम लेना बडा भारी अन्याय होगा।'

हरिऔध जी के पौत्र मुकुंददेव सन् १९४१ तक उनके साथ ही रहे। इसी वर्ष उनकी रामगढ राज्य में प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्ति हो गयी। हरिऔध जी की बडी इच्छा थी कि वे काशी छोडकर रामगढ न जायँ। उस समय उनकी अवस्था केवल २२ वर्ष की थी। हरिऔध जी यह चाहते थे कि वे हिन्दी मे एम० ए० कर ले और काशी में ही कही उन्हे कोई काम मिल जाय। हरिऔध जी की अवस्था मुकुन्ददेव देख रहे थे। वे यह चाहते थे कि शीघ्र ही किसी हीले से लग जायँ जिससे हरिऔध जी को जीवन मे थोडी शांति प्राप्त हो सके। अत उन्होंने रामगढ जाने का निश्चय किया।

हरिऔध जी के अनुज पंडित गुरुसेवक जी उपाध्याय की यह बडी इच्छा रही कि हरिऔध जी अपने जीवन का बचा हुआ समय उनके साथ हजारीबाग जहाँ वे रामगढ राज्य मे दीवान थे, रह कर सुख से व्यतीत करे। मुकुंददेव के रामगढ चले जाने से हरिऔध जी को बडी असुविधा हुई। हरिऔध जी काशी मे अकेले रहना नही चाहते थे, अत उन्होंने अपने जीवन के शेष दिन अपने निवासस्थान आजमगढ मे ही व्यतीत करने का निश्चय किया। यद्यपि वे यह समझते थे कि वहाँ सुखमय जीवन नहीं व्यतीत कर सकेंगे तथापि उन्हे परिवार की ममता अपनी ओर खीच रही थी।

सन् १९४१ मे हरिऔधजी काशी से आजमगढ चले गये और वहीं पूर्ववत् अपने भागिनेय पंडित विश्वनाथ तिवारी के यहाँ दिन मे और अपने पुत्र के यहाँ रात मे रहने लगे। हरिऔध जी

का सम्पूर्ण जीवन व्यस्तता का जीवन रहा अत कार्य से पूर्णत मुक्ति उनके लिए कष्टकर हो गयी। उनमे विचित्र प्रकार की घबडाहट बनी रहती थी। स्वास्थ्य भी ठीक नही रहता था। सर्वोपरि आर्थिक कठिनाइयो और घर मे पैसो की छीना-झपटी उनके लिए और भी अधिक कारुणिक थी। उन्हे इससे बडा कष्ट होने लगा। उनके स्वभाव मे भी कुछ परिवर्तन के चिह्न दीख पडने लगे। जहॉ पहले हरिऔध जी कुछ भी इधर-उधर की वस्तुऍ खाते तक न थे वहॉ अब वे चटपटी चीजो के शौकीन हो गये। अमरूद और खट्टी चीजे जो कभी भी वे स्पर्श तक न करते थे, उन्हे भी खाने की इच्छा होने लगी। सयम का बधन शिथिल हो गया। उनमे विस्मृति का विकास शीघ्रता से होने लगा। वे धीरे-धीरे जीवन की बाते भूलने लगे। यही नहीं, उन्हे घर के झझटो से भी विराग-सा होता गया। कौन कहॉ हे, क्या कर रहा है इसकी चिता वे छोडने लगे। यह विस्मृति का प्रभाव था। यहॉ तक कि कुछ दिनो के बाद जब मुकुददेव आये और उन्होने चरणस्पर्श किया तब उन्होने कहा—'आइये, आइये, कहॉ से आ रहे है! आप सकुशल तो है। कैसे कष्ट किया!' आदि।

मुकुददेव के यह कहने पर—'मै मुकुद हूँ।' हरिऔध जी ने पुन कहा—'हॉ हॉ मै पहचान रहा हूँ। आप आजकल कहॉ हैं। आपके कितने पुत्र है।'

इस प्रकार उनमे 'निसियान'—फारसी का 'विस्मृति' के लिए शब्द जिसका हरिऔध जी उपयोग किया करते थे—का विकास हो रहा था। एक दृष्टि से यह अच्छा भी था। इसके कारण वे व्यर्थ की चिताओ से मुक्त हो रहे थे और उन्हे घर गृहस्थी से पूर्णत विराग हो रहा था। यह तो पारिवारिक स्थिति थी।

आजमगढ आने पर अब उनमें इतनी शक्ति नही थी कि वे बहुत अधिक परिश्रम कर सके या बहुत अधिक लिख-पढ सके। अत उन्होने प्रति दिन ५ दोहे लिखने का नियम बना लिया था। प्रात काल नित्य-कर्म से निवृत्त होने पर वे अपनी चौकी पर बैठ जाते और बडी शाति से ५ दोहे लिख कर अपनी पाडुलिपि को बक्स मे रख देते थे। इस कार्य के बाद वे विभिन्न स्थानो से आई हुई हिन्दी की पत्र पत्रिकाओ का अवलोकन करते थे। दोपहर मे भोजन के उपरात लगभग आधे घटे झपकी भी ले लेते थे। उसके बाद पुन वे पत्र-पत्रिकाओ के देखने मे अपना समय व्यतीत करते थे। गभीर साहित्य पढने की न तो उनमे शक्ति थी और न अब उनकी इच्छा ही करती थी।

विस्मृति के जो भी लक्षण थे वे बातचीत मे ही प्रकट होते थे। जब वे अधिक बातचीत करते तो बात की शृखला टूट जाती और वे झट पूछ बैठते—'हॉ मैं क्या कह रहा था ! अब मुझे विस्मृति बहुत हो जाती है।' लिखने पढने मे अभी किसी प्रकार का अन्तर न था। आने वाले सब पत्रो का वे स्वत उत्तर लिखते थे और सब बातें ठीक ठीक लिखते थे। हॉ, अन्तिम दिनो में दौर्बल्य के कारण उनके हाथ में कुछ कपन होने लगा था। उस समय भी यदि कोई कहता—'लाइये मै पत्र लिख दूॅ' तो वे तैयार न होते थे। उस अवस्था मे भी वे यह सोचते थे कि कही उन्हे कोई दभी न समझ ले। मृत्यु के दो चार दिनो पूर्व तक उनकी यही स्थिति रही। उनके नियम मे किसी प्रकार का अन्तर नही उत्पन्न हुआ। भोजन मे अवश्य व्यतिक्रम हो रहा था और अब वे मनमानी वस्तुऍ खाने लगे थे। सयम के स्थान पर रुचि को अधिक प्राथमिकता प्राप्त हो गयी थी।

हरिऔध जी को एक बात से बडा सतोष हो गया था। श्री केशवदेव जी अब कमा-खा लेते थे और उन्होने कुछ विभूति भी एकत्र कर ली थी। इसका उन्हे बडा हर्ष था। उनकी ओर से वे पूर्णत चिता मुक्त थे। लोगो से वे अपने मन की भावना यदा-कदा व्यक्त भी किया करते थे।

हरिऔध जी के जीवन के अन्तिम ६ वर्ष घोर असाहित्यिक वातावरण मे व्यतीत हुए। मुहल्ले के लोगो से बातचीत करना और परिवार के ताने-बाने मे ही लीन रहना उनका मुख्य कार्य हो गया था। सर्वोपरि सब की आवश्यकताओ की पूर्ति का भी उत्तरदायित्व वे निभाते चल रहे थे। मृत्यु का आतक भी विस्मृत हो गया था। वे इस सबध मे कुछ सोचते तक न थे। अब यदि उनसे कोई पूछता—'आपका स्वास्थ्य कैसा है ?' तो यह नही कहते थे कि खराब है। वे प्रश्नोत्तर मे यही कहते कि ठीक चल रहा है कोई विशेष बात नही है। विस्मृति के कारण मृत्यु का जो भय दूर हुआ वह उनके लिए बडा ही सुखकर रहा। जीवित रहने की स्पृहा, मृत्यु के अनुभव की जिज्ञासा और उसके बाद क्या होगा इसकी उत्सुकता अब पूर्णत समाप्त हो गयी थी।

अब उन्हे किसी से पर्दा न था। वे बहू-बेटियो से भी बात करते थे और पर्दे का आग्रह न करते थे। कुछ बातो मे तो बच्चो की सी उनकी मनोवृत्ति हो गयी थी। पडित विश्वनाथ जी बडी सतर्कता से अपने मातुल की सेवा करते थे। उनके पुत्र श्री सूर्य-नारायण जी भी पिता के अन्तिम दिनो का विचार कर सेवा में रत हुए। कालरूपी कीडा धीरे-धीरे आयु को कुतर रहा था। जरावस्था हाहाकार कर उठी। हरिऔध जी का शरीर पूर्णत शिथिल हो गया। उनके लिए चलना-फिरना कठिन हो गया।

वे किसी का सहारा लेकर चलना स्वीकार न करते थे। उनके पग अब लडखडाने लगे थे। इस दशा मे भी वे अपने शरीर के लिए किसी की सहायता लेने को तैयार न होते थे। निदान एक दिन अपने भागिनेय के यहाँ से वे अपने घर आ रहे थे, मार्ग में पैर लडखडाये और वे गिर पडे। कुछ चोट आई परन्तु पुन उठकर वे घर चले आये। तबीअत अच्छी न थी। खाना पीना बहुत कम हो गया था। किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती थी। किसी प्रकार रात व्यतीत हुई।

प्रात काल होने पर वे पुन अपने समय से उठ गये और शौच के लिए गये। शौच से लौटते समय ही या शौच के समय ही उन पर लकवे का साधारण आक्रमण हुआ। वे उठ कर चले परतु गिर पडे, चल न सके। अपनी बेबसी पर वे कराह उठे। आँखो से आँसू लुढक पडे। किसी प्रकार लोगों ने उन्हें लाकर पलँग पर लिटाया। वे चुपचाप लेटे रहे। परिवार वालो ने समझ लिया कि अब अन्तिम क्षण समीप है। पडित चन्द्रदत्त जी वैद्य को बुलाया गया। वे आये और उन्होने पूछा—'पडित जी कैसी तबीअत है।'

हरिऔध जी ने कहा—'वैद्य जी मुझे कमर के पास बडा दर्द हो रहा है। उठते नही बनता। दम घुट रहा है कुछ दवा दीजिये।'

वैद्य जी ने देखा नाडी की गति अत्यत मन्द हो रही है। उन्होने हरिऔध जी को औषधि दी।

हरिऔध जी की चेतना बनी रही। घर के लोगों ने भोजन के लिए पूछा। उन्होने कहा—'अभी ठहरो, कपडे नहीं बदले हैं। कपडे बदल लेने पर भोजन करूँगा।' उठने की उनमे शक्ति न थी और न किसी के उठाने से वे उठते ही थे। शरीर पूर्णत. शिथिल

हो गया था। अन्त मे उन्होने थोडा सा गाय का दूध लिया। मध्याह्न के बाद दशा बिगडने लगी और हृदय की गति अव्यवस्थित होने लगी। क्रमश चेतना लुप्त होने लगी। अपराह्न होते-होते हरिऔध जी की आँखे मुँद गयी और लगभग ५ बजे सध्या समय वे इस धराधाम को छोडकर चल दिये। होली का दिन था, रग मे भग हो गया। ६ मार्च सन् १९४७ को उन्होने महाप्रस्थान किया।

रात्रि मे बारह बजे लोग होलिका-दहन कर रहे थे। इधर काशी के मणिकर्णिका घाट पर अग्नि के महाज्वाल ने उनके पार्थिव शरीर को समेट लिया। क्षण भर मे देखते-देखते भस्म की केवल एक ढेरी मात्र शेष रह गयी।

द्वितीय खण्ड

(साहित्यिक जीवन)

* *

कृष्ण काव्य की परम्परा और हरिऔध जी की प्राथमिक रचनाएँ

"धर्म की रसात्मक अनुभूति-भक्ति—हिन्दू जाति की सजीवनी शक्ति रही है। युगो से यह जाति भक्ति को जीवन मे बडा उच्च स्थान देती आयी है। इस भक्ति के आलम्बन विशेष कर ईश्वर के दो महान अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम राम और योगिराज कृष्ण रहे है। भक्ति का प्रादुर्भाव विद्वानो के अनुसार उपनिषद् काल मे ही हो गया था। प्रसिद्ध इतिहासकार भण्डारकर महोदय का विचार है कि भारत मे ईसा से लगभग पॉच सौ वर्ष पूर्व वैष्णव धर्म का जन्म हो चुका था। ईसामसीह के दो सौ वर्ष पूर्व तो वासुदेव धर्म का देश पर पर्याप्त प्रभाव था। इस धर्म के कारण हिन्दुओ मे भक्ति-भावना दृढ हो गयी। इतिहासकारो का मत है कि ईसा से लगभग सौ वर्ष पूर्व भगवान कृष्ण के गोपाल रूप की अर्चना प्रारभ हुई। ईसा के आठ सौ वर्ष बाद तक भागवत धर्म का साधारण परिवर्तनो के साथ यही रूप प्रचलित रहा।

ग्यारहवी शती के उपरान्त स्वामी निम्बादित्य ने भगवान कृष्ण की उपासना के साथ ही श्रीमती राधा की उपासना भी प्रारभ कराई। भक्ति रस के इस स्रोत का समष्टि रूप से भारतीय

समाज और व्यष्टि रूप से हिन्दी साहित्य पर भी प्रभाव पडा। यही नही, इस भक्ति की धारा ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र को कृष्ण-भक्ति मे आकठ निमज्जित कर दिया।

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र मे भक्ति-काव्य की धारा लगभग चौदहवी शती में प्रवाहित हुई और मैथिल कोकिल विद्यापति ठाकुर कृष्ण काव्य के प्रथम हिन्दी कवि है। महाकवि विद्यापति जयदेव जी की प्रतिमूर्ति थे। उन्होने जयदेव जी के गीत गोविन्द की शैली और भावुकता लेकर अपने प्रगीतो की रचना की। उनके प्रगीतो मे भावुकता मूर्तिमती हो गयी। जयदेव की कोमल कान्त पदावली का स्पष्ट प्रतिविम्ब उनकी रचनाओ मे प्रतिविम्बित हो गया। विद्यापति की पदावली मे जो गीतात्मकता है वह जयदेव जी के 'गीत गोविन्द' का ही प्रभाव है।

विद्यापति की समस्त रचनाएँ मुक्तक है। प्रत्येक प्रगीत का स्वतत्र रूप है। इन गीतो मे सगीत के शास्त्रीय रूप का भी निर्वाह हुआ है। इन प्रगीतों मे शृगार रस की प्रधानता है और शृगार रस के वे अन्यतम उदाहरण है। विद्यापति के इस शृगारी वर्णन के नायक नायिका राधाकृष्ण है।

विद्यापति के बाद विष्णु, राम रूप की उपासना प्रारभ हुई। ग्यारहवी शती मे भगवान राम की उपासना स्वामी रामानुजाचार्य जी ने प्रचारित की। उनके बाद १५ वी शती मे स्वामी रामानन्द जी ने भगवान राम के नाम का माहात्म्य लोगो को बतलाया। परतु रामानन्द जी के कुछ शिष्यो ने भक्ति का प्रचार तो किया परतु इस भक्ति का स्वरूप कुछ दूसरा ही था। कबीर और उनके बाद अन्य सत कवियो ने राम के निर्गुण रूप की उपासना पर जोर दिया। इस भक्ति का हृदय से कोई सबध न था। यह

भक्ति ज्ञान पर आश्रित थी। अत इस भक्ति में रहस्यात्मकता थी और वह निराकार ब्रह्म की समर्थक थी।

इसी काल के आस पास मलिक मुहम्मद जायसी तथा उनके पूर्व कुछ सूफी सतो ने फारस के एकेश्वरवाद के आधार पर भक्ति की धारा बहायी। इन सूफी सतो की भक्ति प्रेम मूलक थी। कबीर का निर्गुणवाद तथा सूफी कवियों का एकेश्वरवाद जनता की समझ के परे था। जनता की बुद्धि भक्ति के इन रूपो को न तो समझ सकी और न उसका हृदय इस प्रकार की भक्ति मे रम सका।

इन निर्गुणियो के उपरान्त स्वामी रामानन्द जी के राम की उपासना की गोस्वामी तुलसीदास द्वारा स्थापना हुई। गोस्वामी जी ने वास्तव मे स्वामी रामानद जी के मत का बडी सरसता से प्रचार किया। तुलसी ने राम नाम का माहात्म्य इस प्रकार प्रतिपादित किया कि जनता राम की भक्ति मे डूब गयी। कहना चाहे तो कह सकते हैं कि तुलसी ने अपने राम द्वारा हिन्दू जाति और समाज को राममय कर दिया।

गोस्वामी जी के पूर्व महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने हिन्दू समाज को भक्ति की ओर उन्मुख किया। महाप्रभु जी ने भगवान के सगुण रूप की आराधना प्रारभ की और पुष्टिमार्ग की स्थापना की। उनके पुष्टिमार्ग से जनता बडी प्रभावित हुई और उनके बाल गोपाल रूपी कृष्ण ने जनता के मन को मोह लिया। महाप्रभु वल्लभाचार्य की बाते सीधी थी और वे हृदय का स्पर्श करती थी। इनकी साधना का मार्ग भी जटिल न था।

इधर श्री वल्लभाचार्य जी कृष्ण के बाल रूप की उपासना का सहृदयता से प्रचार कर रहे थे उधर मागधी भाषा-प्रान्त मे

चैतन्य महाप्रभु भगवान कृष्ण के यश का बडी धूमधाम से गान कर रहे थे। उस क्षेत्र मे कृष्ण से सबध रखनेवाली अनेक भक्ति पूर्ण रचनाएँ हुईं।

इस प्रकार हम देखते है कि सोलहवी शती मे हिन्दी भाषी तथा मागधी भाषी दोनो प्रान्तो मे कृष्ण भक्ति का बडी प्रबलता से प्रचार हो रहा था। मरुभूमि राजस्थान मे भक्ति की प्रेम-मयी धारा ने मीरॉ को गिरधर गोपाल के प्रेम मे मस्त कर दिया। श्री वल्लभाचार्य जी के सिद्धान्तो का प्रचार उनके पुत्र गोसाई विट्ठलनाथ जी ने किया। गोसाईं विट्ठलनाथ जी के 'अष्ट छाप' नाम से प्रसिद्ध आठ शिष्यो ने कृष्ण-गान की धूम मचा दी। इन शिष्यो के हृदय से कृष्ण भक्ति के जो उद्गार प्रकट हुए उन्होने हिन्दू समाज मे नयी चेतना फूॅकी। इनकी रचनाओ से कृष्ण-साहित्य का भाडार अगाध हो गया। 'अष्ट-छाप' मे महाकवि सूरदास सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण-काव्य की परम्परा में मैथिल कोकिल विद्यापति के उपरान्त सूरदास इसके प्रमुख कवि और भक्त हुए है। सूरदास जी की लेखनी ने ब्रज-मडल, ब्रज-भाषा और ब्रजनाथ तीनो का भाग्योदय करा दिया। सूरदास जी की समस्त रचनाऍ ब्रज भाषा मे है। सर्व प्रथम महाकवि सूरदास जी ने ही ब्रज भाषा को काव्य भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित किया। कहा जाता है सूरदास जी ने सवा लाख पद्यो की रचना की। अधिकतर उनकी समस्त रचनाऍ सूरसागर मे सग्रहीत है। सूर-सागर ही उनका एक मात्र प्रामाणिक ग्रथ उपलब्ध हो सका है।

महाकवि सूरदास की साहित्य-सर्जना मुक्तक के रूप मे हुई। उन्होने भी प्रगीतो की रचना की और इन प्रगीतो द्वारा शृगार रस का स्रोत प्रवाहित किया। एक प्रकार से देखा जाय तो सूरदास

जी ने भी विद्यापति की शैली का अनुसरण किया। सूरदास का शृगार विद्यापति के शृगार से कुछ भिन्न है। सूरदास जी ने शृगार को भक्ति के साथ मिश्रित कर दिया। इस मिश्रण से उनके काव्यो मे विचित्र प्रकार की अपूर्वता उत्पन्न हुई। जहाँ विद्यापति के कृष्ण काम केलि के चतुर नायक है, कला पटु प्रेमी है वहाँ सूरदास के कृष्ण मे ईश्वरीय भावना का भी आरोप है। मनुष्य रूप मे भी उन्होने भगवान कृष्ण का गुण-गान किया है और उन्हे उलहने सुनाये है।

सूरदास जी ने कृष्ण का यशगान कुछ क्षेत्रो तक ही सीमित रखा। उन्होने कृष्ण के उन्ही रूपो का वर्णन किया है जिनसे वात्सल्य और शृगार की भावना उद्वेलित हो सके। सूर के श्रीकृष्ण योगेश्वर कृष्ण नही, महाभारत के क्रातदर्शी नेता नही। उनके दीन बन्धुत्व रूप का विकास सूर की वाणी द्वारा नही होता। वे हमारे सम्मुख आततायी कस का वध करने वाले लोक सग्रही कृष्ण के रूप मे नही आते। सूरदास के कृष्ण तो यशोदा के लाडिले, गोपियो के प्राण-वल्लभ, माखन चोर कृष्ण है, जो अपनी अनेक लीलाओ द्वारा जनता के हृदय में माधुर्य-भाव उत्पन्न करते है। कृष्ण के माधुर्य रूप की उपासना सूर की विशिष्टता है। इसमे कोई सदेह नही कि सूर ने कृष्ण के जिस जीवन-पक्ष का भी चित्रण किया है वह अप्रतिम है, अनुपम है और अत्यत हृदय-स्पर्शी है। उन्हे मार्मिक स्थलो की बडी सूक्ष्म पहचान थी। उनकी पीयूषमयी शब्दावली मे अद्भुत चमत्कार है। सूर के कृष्ण गोपिकाओ की दूध-दही की चोरी करते है, उनकी बडी हानि करते है तो भी वे माखनचोर गोपियो के हृदय में गडे रहते है। उनके रूप की रस माधुरी का जब वे पान नही कर पाती तब वे विह्वल हो जाती हैं और उनकी विकलता अकथनीय हो जाती है।

सूर ने अपने गीतो द्वारा रूप को, सौदर्य को मूर्तिमान कर दिया। इस सौदर्य के साथ भक्ति का जो सयोग हुआ उसने हिन्दू जनता को बडा प्रभावित किया। आश्रयहीन निराश हिन्दू जनता को सूर की वाणी, सूर की सरल भक्ति से बड़ी सात्वना मिली। निराश हिन्दू जाति के लिए यह बहुत बडी आशा प्राप्त हुई। अधकार में उनके सम्मुख प्रकाश की एक ज्योति उत्पन्न होती दीख पडी। सूर के काव्य से, उनके गीतो से, जनता का मनोरजन भी हुआ। सूर के गातो और उनकी भक्ति का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू जनता उनके माग की ओर आकर्षित होकर उसी पर चल पडी। श्री वल्लभाचार्य तथा गोसाईं विट्ठलनाथ जी के अनेक शिष्यो ने बडे उत्साह से कृष्ण भक्ति का गान गाया और उसका प्रबल वेग से प्रचार किया। अष्ट छाप के कवियो ने कृष्ण के वात्सल्य रूप का बडे हृदयस्पर्शी ढग से प्रचार किया। उनकी अनुभूति, उनकी सच्ची भावुकता और मर्म स्पर्श करने की अद्भुत क्षमता ने कृष्ण के बाल रूप का बडा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। इन कवियो की रचनाओ मे सयोग शृगार का अद्भुत चित्र प्रकट हुआ है। हिन्दी साहित्य मे सयोग शृगार के ये चित्र अनुपम है और उन चित्रो की समता के चित्रो का साहित्य मे अन्यत्र दर्शन नही होता।

यही बात उनके विप्रलभ शृगार के चित्रो के सबध में भी कही जा सकती है। विरह से मर्माहत गोपियो का कारुणिक रूप, उद्धव के साथ उनका हृदयस्पर्शी विचार-विनिमय इन गीतो मे साकार हो गया है। बडी ही तन्मयता से इन कवियो ने गोपियो के विरह का गान किया है।

कहने का अर्थ यह है कि सोलहवी शती मे कृष्ण काव्य का स्वर्ण युग था और वह उच्च शिखर पर पहुँच चुका था। कृष्ण काव्य

की व्यापकता का विस्तार हुआ और अभी तो यह हृदय पक्ष तक ही सीमित था परतु इस काल मे कलात्मक विकास भी हुआ। क्या हृदय पक्ष और क्या कला पक्ष दोनो दृष्टियो से कृष्ण काव्य के चरमोत्कर्ष का यह काल रहा है। इन कवियो की एक और भी विशेषता है। उन्होने अपने काव्य के लिए जिस भाषा का उपयोग किया है वह व्यावहारिक भाषा से बहुत कुछ मिलती-जुलती रही। भाषा ने साहित्यिक और व्यवस्थित रूप तो धारण कर लिया परतु जनता की भाषा से उसका सबध विच्छेद नहीं हुआ।

समय के परिवर्तन के साथ कृष्ण के वर्णन मे भी विचित्र परिवर्तन हुए। यवनो का साम्राज्य जब पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया, जब हिन्दू जनता उनके सम्पर्क मे आने लगी और उनमे आपस मे विचार-विनिमय होने लगा तब हिन्दुओ के विचारो में भी परिवर्तन हुआ। भारतीय उच्च आदर्शों का क्रमिक ह्रास प्रारभ हुआ। हिन्दुओ का न तो कोई अस्तित्व ही रह गया और न व्यक्तित्व ही। मुगलो ने अपना पूर्ण प्रभाव जमा लिया। इधर उधर जो बचे-खुचे हिन्दू राजा रह गये थे उनका अपना स्वतत्र व्यक्तित्व न था। वे भी अपने यवन स्वामियो की अनुकृति करते थे। चारो ओर भौतिकता का वातावरण फैल गया। आध्यात्मिक भावना का ह्रास हुआ ओर जनता छिछले भोग विलास और कामुकता की ओर टूट पडी। इसका जो अपेक्षित परिणाम होना था वही हुआ। कृष्ण के जीवन मे सूर तथा उनके सहयोगियो ने जो ईश्वरीय शक्तियों का आरोप कर उन्हें उच्च आसन पर बैठाया था वह आसन ही धराशायी हो गया। कृष्ण की ईश्वरीयता समाप्त होने लगी और उन्हे रसिया का बाना पहन कर जनता के सम्मुख आना पडा।

मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपने आचरण और वृत्तियो के अनुसार ही अपने विचारों का निर्माण करता है। उसके आचरण और वृत्ति का प्रतिविम्ब उसके चितन पर भी पडता है। वे भगवान कृष्ण जो हिन्दू जनता के सबल थे, प्रेम और श्रद्धा के आश्रय थे, विलासी कन्हैया के रूप में सामने आये। इसमें कोई अस्वाभाविकता न थी। वे जनता की तत्कालीन भावना के प्रतीक रूप मे सम्मुख आ रहे थे। दूषित भावनाओ के फलस्वरूप अश्लील भावनाएँ जागरित हुई। विशुद्धता के लिए कोई स्थान न रह गया। यत्र तत्र कही कही कृष्ण की भक्तिमूर्ति का भी दर्शन हो जाता था। परतु वह रूप अब नगण्य हो रहा था।

साहित्य का जीवन से घनिष्ठ सबध है। जब जीवन विकृत हो गया तब साहित्य अछूता कैसे रह सकता था ! विलासी भावना का मूर्त रूप साहित्य क्षेत्र मे भी प्रतिविम्बित हुआ। प्रत्येक कवि कला की कलैया खेलने लगा। काव्य का व्यायाम प्रारभ हुआ। कविता का सहज रूप, हृदयस्पर्शी रूप समाप्त हो गया। स्वाभाविक गति से काव्य का विकास कुठित हो गया। उक्ति-वैचित्र्य, अलकार आदि से काव्य का स्वाभाविक रूप दब कर विकृत होने लगा। कला की अभिव्यक्ति के लिए कवि बेपर की उडान लेने लगे। इन सब कलाबाजियो से बडी हानि हुई। कृष्ण काव्य की स्वाभाविक धारा जो विद्यापति के काल से सहज रूप में प्रवाहित हुई थी वह अवरुद्ध हो गयी। घनानन्द आदि कुछ कवियो को छोडकर अधिकतर कवि 'गुल गुली गलीचे' पर ही उछल-कूद करने में अपने साहित्यिक जीवन की इतिश्री समझने लगे।

सोलहवीं शती से लेकर उन्नीसवी शती तक कृष्ण के सबध में जो भी रचनाएँ हुईं उनमें उद्देश्य की भिन्नता अवश्य थी परतु

एक दृष्टि से उनमे समानता थी। कृष्ण काव्य की सम्पूर्ण रचनाएँ ब्रज भाषा मे लिखी गयी। भाव पक्ष को प्राधान्य देने वाले कवियो ने अधिकतर पद्यो का आश्रय लेकर अपने भाव व्यक्त किये है। कला पक्ष को प्रमुखता देने वाले दरबारी अथवा दरबार से प्रभावित कवियो ने कवित्त, दोहा और सवैया को अपने भावो को व्यक्त करने का माध्यम बनाया है।

भारतेन्दु युग तक कृष्ण काव्य की परम्परा का एक निश्चित रूप है। भारतेन्दु बाबू ने भी रसिया और अवतारी कृष्ण के चित्रो का चित्रण किया है। उपर्युक्त विवेचना का एक प्रमुख उद्देश्य है। मै यह स्पष्ट करना चाहता था कि कृष्ण-काव्य की हमारे साहित्य मे एक परम्परा है। कृष्ण को विभिन्न कवियो ने नाना रूपो मे वर्णित किया है। वे कही परब्रह्म के रूप मे और कही साधारण मानव के रूप मे चित्रित किये गये हैं। प्रज्ञा चक्षु महाकवि सूरदास ने भी कृष्ण के ब्रह्म ओर मानवीय रूप दोनो का वर्णन किया है। उनके अतिरिक्त अन्य कवियो ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया है। सूरदास जी के परब्रह्म कृष्ण का रूप देखिये –

"जो सुख होत गोपालहिं गाये।
सो न होत जप तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये।
दिये लेत नहिं चार पदारथ चरन कमल चित लाये।
तीन लोक तृन सम करि लेखत नद नँदन उर आये।
बसी बट वृन्दावन जमुना तजि बैकुण्ठ को जाये।
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आये।

अथवा

चरन कमल बदो हरि राई।
जाकी कृपा पगु गिरि लघै, अधे को सब कछु दरसाई।

बहिरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रक चले सिर छत्र धराई ।
सूरदास स्वामी करुनामय बार बार वदौ तेहि पाई ।"

अब महाकवि सूरदास जी द्वारा अकित मानव रूप का चित्रण देखिए —

"भीतर तै बाहिर लो आवत ।
घर आँगन अति चलन सुगम भयौ देहरी में अटकावत ।
गिरि गिरि परत जाति नही उलँघी अति स्रम होत न धावत ।
अहुठ पैग बसुधा सब कीन्हीं धाम अवधि बिरमावत ।

*　　*　　*　　*

यशोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोई कछु गावै ।
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुआवै ।
तू काहे न बेग ही आवै ताको कान्ह बुलावै ।"

इसी प्रकार नरोत्तमदास जी ने कृष्ण के मानव रूप का बड़ा हृदयग्राही रूप वर्णित किया है —

"ऐसे बेहाल बेवाइन सों पग कटक जाल लगे पुनि जोये ।
हाय, महा दुख पायो सखा, तुम आये इतै न कितै दिन खोये ।
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करि कै करुना निधि रोये ।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल से पग धोये ।"

कृष्ण-काव्य-परम्परा की इस पीठिका के आधार पर जब हम हरिऔध जी की प्रारंभिक रचनाओ का अध्ययन करते हैं तब हमें यह ज्ञात होता है कि उनकी प्रारंभिक कविताओ में कृष्ण काव्य की परम्परा का ही निर्वाह हुआ है। उसमें न तो कोई नवीनता है और न हृदय स्पर्शिता। परम्परा मात्र का निर्वाह ही उन तुकबंदियों अथवा समस्यापूर्तियों में हुआ है।

हम 'व्यक्तित्व खड' में हरिऔध जी के सस्कारो की चर्चा कर चुके हैं। उनके हृदय में कृष्ण के प्रति किस प्रकार अनुराग उत्पन्न हुआ इसकी चर्चा भी की जा चुकी है। उन सस्कारो के फल-स्वरूप हरिऔध जी की प्राथमिक रचनाएँ ईश्वर-विषयक हुई। परतु उन सस्कारो में वह शक्ति नही थी जो हरिऔध जी को मौलिकता प्रदान करती या उन्हे ऐसे काव्य-प्रणयन की प्रेरणा देती जो अमरत्व प्रदान करता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि हरिऔध जी की प्रथम रचना—'हरिऔध-शतक' (कृष्ण शतक) है। इस पुस्तिका मे कृष्ण के सबध में सौ दोहों का सग्रह है। इन दोहो के द्वारा कवि हरिऔध ने प्रचलित परम्परा के अनुसार भगवान कृष्ण के ईश्वर रूप की अर्चना की है —

'नमत निगुण निरलेप अज, निराकार निरद्वन्द्व।
माया रहित विकार-बिन, कृष्ण सच्चिदानन्द ।।

नहि प्रमाद या में कछू, ताको है उन्माद।
कृष्ण ब्रह्मता में करत, जो बावरो विवाद ।।

ससि, सूरज नभ, अनिल, जल, दसों दिसा, यहि बात।
काल पाइ गोपाल तजि, काल सकल को खात ।।

जाकी माया दाम में, बँधे बिरचि लखाहिं।
प्रेम डार गोपिन बँधे, सो डोलत ब्रज माँहिं ।।'

लगभग सत्रह वर्ष की अवस्था में हरिऔध जी ने इस शतक की रचना की थी। इन दोहो मे न तो किसी प्रकार की मौलिकता है और न कोई विचित्र उद्‌भावना। इन दोहो में अनुभूति का भी कोई प्रभाव नही दीख पडता। ये पद्य केवल शब्दो के सग्रह मात्र हैं। इनमें प्राण का पूर्णत: अभाव है। परतु इन दोहो से हम

इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हरिऔध जी की कृष्ण के प्रति क्या भावना थी और उन्होने उनके किस रूप के अकन की चेष्टा की।

उपर्युक्त सग्रह के बाद हरिऔध जी के दो ग्रन्थ—रुक्मिणी परिणय और प्रद्युम्न विजय व्यायोग—प्रकाशित हुए। इन ग्रथो को देखकर छतरपुर नरेश हरिऔध जी से मिलने का उत्सुक हुए और उन्होने अपने दीवान पडित श्यामबिहारी मिश्र (मिश्र बधु) के द्वारा उन्हे अपने यहा आने का निमत्रण भेजा। हरिऔध जी छतरपुर महाराज की आज्ञा का शीघ्र पालन न कर सके। अत महाराज ने स्वत उलाहनो से भरा एक लम्बा पत्र भेजा और साथ ही उन्होने तत्कालीन आजमगढ के कलक्टर को हरिऔध जी को अवकाश प्रदान करने के लिए लिखा। अवकाश प्राप्त होने पर हरिऔध जी छतरपुर गये।

हरिऔध जी का 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' नाटक की दृष्टि से सफल नाटक नही कहा जा सकता। नाट्यशास्त्र के आवश्यक तत्वो का भी उसमें अभाव है परतु कविता की दृष्टि से अथवा काव्य-रसिको की दृष्टि में उसका कुछ महत्व अवश्य है। इस व्यायोग की कविता भी प्राचीन परिपाटी की है। 'रुक्मिणी परिणय' का भी यही हाल है। इस नाटक में कवि ने रुक्मिणी द्वारा कृष्ण का पति रूप में वरण किया जाना दिखलाया है। इन नाटको द्वारा हरिऔध जी की कृष्ण गुण गान की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। अवश्य ही इन नाटकों में भावुकता, सरसता और प्रवाह का दर्शन होता है। नाट्यशास्त्र के तत्व इस नाटक मे भी नही वर्तमान है। नाटको में औत्सुक्य की भावना का जो क्रमिक विकास और चरम सीमा पर पहुँचने पर उसका जो क्रमिक शमन होता है, इन तत्वो का इन नाटको में पूर्णतया अभाव है।

यही नही, नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक के विकास के पाँच प्रधान तत्व होते है—(१) आरम्भ (२) यत्न (३) प्रत्याशा (४) नियताप्ति और (५) फलागम। इन पाँचो तत्वो के साथ नाटक मे पाँच सधियाँ होती है—मुख सधि, प्रति मुख सधि, गर्भ सधि, अवमर्श सधि और उपसहार सधि।

उपर्युक्त सधियो का भी नाटक मे पूर्णत निर्वाह नही हुआ है। विशेषकर अवरूश सधि पर नाटक की रोचकता निर्भर करती है। सघर्ष द्वारा नाटक की कथा का विकास होता है। घटनाओ अथवा नाटक मे बाधाएँ न उत्पन्न हो तो नाटक के दर्शक अथवा पाठक के हृदय में नाटक के दृश्यो के प्रति औत्सुक्य भाव का जागरण नही होगा। 'रुक्मिणी परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' इन दोनो नाटको मे इस सधि पर ध्यान नहीं दिया गया है। परिणामत इनमे नाटक के कारण जो औत्सुक्य भाव उत्पन्न होना चाहिये वह शिथिल रह जाता है। 'रुक्मिणी परिणय' नाटक की दृष्टि से चाहे सफल न हो परन्तु उसकी एक विशेषता महत्व की है। इस नाटक मे कृष्ण एक मानव के रूप मे अथवा एक अवतारी पुरुष के रूप मे चित्रित हुए है।

हुई थी कि वे कृष्ण को ईश्वर के अतिरिक्त स्पष्ट रूप से मानव समझ रहे हो। घूम-फिर कर कृष्ण के ईश्वरत्व, ब्रह्मत्व की झाँकी दीख पडती है। वे उस प्राचीन परम्परा से अपने को पूर्णत पृथक नही कर सके है। कृष्ण को परब्रह्म और मानव रूप में चित्रित करने वाली उनकी कुछ रचनाएँ देखिये—

(१)

"भजहु जन जदुपति कमला नाथ।
सेस सुरेस गनेस सम्भु अज जेहि पद नावत माथ।
सनकादिक नारद निगमागम बरनत जाको गाथ।"

(२)

"अमल अनादि अज अजित अरूप अखि-
लेस जग भूप ज्योति अगम जगैया को।
तीन लोक विदित अनादि वन्दनीय विभु
सन्त जन काज नाना वपुख धरैया को।
'हरिऔध' ताप उपतापहिं हरैया महाँ
पातक कदन पापी पुजन तरैया को।
जन वर दैया, सुख दैया करवैया काज-
मैं तो जानों एक बलराम जू के भैया को।"

(३)

"जगत में प्रकट प्रताप तिहारो।
बन तृण तें विरञ्चि लौं जदुवर तेरो प्रबल पसारो।
तेज तिहारोई सूरज शशि त्यों तारन मैं राजै।
निराधार नभ तेरे ही बल तिनको ब्यूह विराजै।"

(४)

"कैसे मजु बाँसुरी की सुरति बिसारि दीजै,
कैसे याद कीजै नहिं बचन रसाल को।
मन्द मुसकानि कैसे चित पै चढ़ैना कबौं
कैसे छूटि जावै ध्यान लटकीली चाल को।
'हरिऔध' की सों सबै करिहौ तिहारी कही,
केवल बतैये इतौ छोरि सब ख्याल को।
कैसे वह साँवरो सरूप हिय में ते कढ़ै
ऊधो किमि भूलै हास मण्डल गोपाल को।"

(५)

"बावरी ह्वै जाती बार बार कहि बेदन को,
बिलखि बिलखि जो बिहार थल रोती ना।
पीर उठे हियरो हमारो टूक टूक होत,
ध्याइ प्राननाथ जो कसक निज खोती ना।
'हरिऔध' प्राननाथ गमन विदेस कीने,
नैन नसि जात जो सपन सँग सोती ना।
तनु जरि जात जो न असुआँ ढरत ऊधो,
प्रान कढ़ि जात जो प्रतीति उर होती ना।"

(६)

"वारि के भरे हूँ तोख लहत न कैसहूँ है,
हँसिबो न जानें ऐसी महत उदासी है।
लोक लाज हूँ ते काज राखत कछू ना कबौं,
गाज के परे हूँ तेरी पूरन उपासी है।

'हरिऔध' औरन की चाह सपनेहूँ नाहिं,
तेरे प्रेम बूँद ही की अनुदिन आसी है।
उघरी ये अँखियाँ हमारी ऐन चातकी सी,
ऐरे घनस्याम तेरे रूप रस प्यासी है।"

'हरिऔध' जी की उपर्युक्त रचनाओ का थोडा विश्लेषण अपेक्षित है। प्रथम तीन पदो मे कृष्ण के परब्रह्म रूप का वर्णन है। स्पष्ट रूप से उन पदो में नीरसता का अनुभव होता है। उन पदो के पढने मात्र से ऐसा लगता है मानो कवि अपने हृदय के विचार न व्यक्त कर परम्परा की बातो का वर्णन कर रहा है। उपर्युक्त प्रथम तीन रचनाएँ न तो हृदय का स्पर्श करती है और न हृदय में भक्ति का सचार। हृदय से निकली हुई सच्ची भक्ति से अनुप्राणित वाणी ही मर्म का स्पर्श कर सकती है। हरिऔध जी के उपर्युक्त तीन पदो की पक्तियो मे भक्ति की अनुभूति की अभिव्यक्ति नही है, अत उनमे सरसता का अभाव है।

इसके विपरीत ४, ५ ओर ६ वे पद्यो में सरसता है ओर वे हृदय का स्पर्श करते है। कृष्ण के मानव रूप का जब उन्होंने वर्णन प्रारभ किया तब उनकी अनुभूति ने उनके हृदय के साथ योग दिया। उनकी अनुभूतियो ने पद्य में सरसता उत्पन्न कर दी है। इन कविताओ में हरिऔध जी के कवि रूप का आभास दीख पडता है। दूसरी बात यह भी है कि क्रमश उनकी अनुभूति भावो को किस प्रकार प्रौढता प्रदान कर रही है इसका भी उदाहरण प्राप्त हो जाता है।

—❀—

****

हरिऔध जी का कथा साहित्य

हरिऔध जी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुके थे। उनके कुछ अनूदित, कुछ पद्य-ग्रन्थ ओर दो नाटक प्रकाशित हो चुके थे। इन पुस्तकों ने उनके लिए प्रतिष्ठा का द्वार उन्मुक्त कर दिया था। यही नही, उनकी प्रतिभा का विकास हो रहा था। उनकी अनुभूति सूक्ष्म विपयो तक अब पहुँच रही थी। भाषा-गठन मे भी धीरे धीरे प्रौढता उत्पन्न हो रही थी। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओ मे उनके नाटको और पद्य-ग्रन्थो की प्रशसात्मक आलोचनाएँ भी प्रकाशित हो रही थीं, इस कारण उनका उत्साह भी बढ रहा था और वे सच्ची लगन से साहित्य-क्षेत्र मे अग्रसर हो रहे थे।

बँगला का उन्हे ज्ञान हो चुका था। हिन्दी मे उस समय ऐसे ग्रन्थ नही थे जो प्रतिभा की ग्रन्थियो को खोल पाते। बग-भाषा का साहित्य उस समय भी बडा समुन्नत था। उसमें अनेक उद्भट कवि तथा कथाकार हो चुके थे। हरिऔध जी ने बग-साहित्य का मथन प्रारभ किया। विशेषकर बकिम बाबू के ग्रन्थो का वे बडे चाव से अध्ययन कर रहे थे। यह अध्ययन उनकी तपस्या थी और वास्तव मे उन्हे दिन रात का पता नही चलता था। बकिम बाबू के ग्रथो मे देश-सेवा की भावना ओतप्रोत है। उनकी इस भावना तथा लोक-सग्रही भाव का हरिऔध जी पर बडा गभीर प्रभाव पडा।

हरिऔध जी इन दिनो कविताएँ लिख रहे थे और धीरे धीरे उनकी प्रवृत्ति अवस्थानुकूल शृगार रस की ओर प्रवृत्त हो रही थी। परन्तु बकिम बाबू के ग्रन्थो के अध्ययन ने अकुश का कार्य किया। उन्होंने आत्मचिन्तन और अपने कार्यों का सर्वेक्षण प्रारभ किया। उनके सम्मुख दो मार्ग थे। एक तो प्राचीन परम्परा से चले आते शृगार रस के नख-शिख मे बँधे रह कर तेली के बैल के समान चक्कर काटना और दूसरा मार्ग था इस वात्याचक्र से बाहर निकल कर देश काल की परिस्थितियो के अनुसार साहित्य का सर्जन करना। हरिऔध जी को अपने मार्ग का निर्द्धारण करने मे बहुत ऊहापोह की आवश्यकता नही हुई। उन्हे अपना मार्ग निश्चित करने का एक सुयोग भी प्राप्त हो गया।

हम पहले ही कह आये है कि किस प्रकार डाक्टर ग्रियर्सन की प्रेरणा पर महाराज कुमार बाबू रामदीन सिह जी ने हरिऔध जी को ठेठ हिन्दी मे कोई पुस्तक लिखने की प्रार्थना की। ठेठ हिन्दी की पुस्तक गद्य मे ही हो सकती थी। पद्यात्मक ठेठ हिन्दी से डाक्टर ग्रियर्सन की इच्छा की पूर्ति भी न होती। दूसरी बात यह थी कि ठेठ हिन्दी के गद्य मे भी क्या लिखा जाय। निबध, लेख अथवा आत्मकथाएँ नीरस ओर आकर्षण-हीन हो जातीं, अत हरिऔध जी ने ठेठ हिन्दी के लिए किसी कथा का सहारा लेना अधिक उपयुक्त समझा और यह था भी ठीक। इस प्रकार के साहित्य मे जन साधारण का भी मनोरजन और आकर्षण था। अत हरिऔध जी की प्रवृत्ति कथा साहित्य की ओर उन्मुख हुई।

हरिऔध जी ने कथा साहित्य की रचना के हेतु लेखनी तो उठायी परतु उसके साथ ही उन्हे अपने निश्चित उद्देश्य का भी ध्यान रखना था। साध्य तो ठेठ हिन्दी थी। कथा तो एक साधन

मात्र थी। निदान उन्होने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' नामक एक छोटा सा उपन्यास लिखा। पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है कि हरिऔध जी का उद्देश्य उपन्यास लिखने का न था। वे तो ठेठ हिन्दी का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए सम्मुख आये थे। साध्य और साधन मे भिन्नता होने पर भी कभी कभी दोनो के योग से अद्भुत वस्तु का निर्माण सभव हो जाता है। हरिऔध जी के साथ भी यही हुआ। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' नामक ग्रन्थ ने हरिऔध जी की विचार-दिशा मे परिवर्तन किया और उनकी साहित्यिक प्रतिभा को एक नये मोड पर ला खडा किया। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' हरिऔध जी की भावी रचनाओ के मूल्याकन मे बडा सहायक सिद्ध होगा। इस ग्रथ से हमे उस दिशा का सकेत मिलता है जिस दिशा मे भविष्य में हरिऔध जी की वृत्तियाँ रमने वाली थी। डाक्टर ग्रियर्सन के अनुरोध पर ठेठ हिन्दी में ही हरिऔध जी ने अपने दूसरे उपन्यास 'अधखिला फूल' की भी रचना की।

ठेठ हिन्दी क्या है! उसका क्या रूप होना चाहिये! इस सबध मे हरिऔध जी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"ठेठ हिन्दी वह है—जैसा शिक्षित लोग आपस मे बोलते चालते है, भाषा वैसी ही हो गँवारू न होने पाये। उसमे दूसरी भाषा अरबी, फारसी, तुरकी, और अग्रेजी इत्यादि का कोई शब्द शुद्ध रूप में या अपभ्रश रूप मे न हो। भाषा अपभ्रश सस्कृत शब्दो से बनी हो, और यदि कोई सस्कृत शब्द उसमें आवे भी तो वही जो अत्यन्त प्रचलित हो, और जिसको एक साधारण जन भी बोलता हो।"

उपर्युक्त उद्धरण से ठेठ हिन्दी के रूप का पाठक को बोध हो जायगा। इस सबध मे ठेठ हिन्दी की प्रेरणा प्रदान करने वाले

डाक्टर ग्रियर्सन की क्या विचारधारा है उसे भी समझ लेना चाहिये। डाक्टर ग्रियर्सन कहते हैं —

'ठेठ हिन्दी सस्कृत की पौत्री है, हम यह कह सकते है कि सस्कृत की पुत्री प्राकृत और प्राकृत की पुत्री ठेठ हिन्दी है।

अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी भी दूसरी भाषाओ से शब्द ग्रहण करती है। जब वह किसी विशेष विचार को प्रकट करना चाहती है और देखती है कि उसके पास उपयुक्त शब्द नहीं है उस समय वह प्राय आवश्यक शब्द सस्कृत से उधार लेती है। प्रत्येक ठेठ शब्द अर्थात वह शब्द, जो प्राकृत-प्रसूत है, तद्भव कहलाता है। उधार लिया हुआ प्रत्येक शब्द जो प्राकृत से उत्पन्न नहीं है और इस कारण ठेठ नहीं है, तत्सम कहलाता है, यदि तद्भव शब्द न मिलते हो तो तत्सम शब्द का प्रयोग करने मे कोई आपत्ति नहीं। 'पाप' तत्सम है। ठीक इस अर्थ का द्योतक कोई तद्भव शब्द नहीं है। अतएव यथास्थान 'पाप' का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु जहाँ एक ही अर्थ के दो शब्द है एक तद्भव (अर्थात् ठेठ) और दूसरा तत्सम, वहाँ तद्भव शब्द का ही प्रयोग होना चाहिये। 'हाथ' के लिए तद्भव शब्द 'हाथ' और तत्सम शब्द 'हस्त' है। अतएव 'हस्त' के स्थान पर 'हाथ' का प्रयोग होना ही सगत है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक तत्सम शब्द उधार लिया हुआ है। यह उधार हिन्दी को अपनी दादी से लेना पडता है। यदि मै अपने सम्बधियो और मित्रो से ऋण लेने की आदत डालूँ तो मै विनष्ट हो जाऊँगा। इसी प्रकार यदि हिन्दी उस अवस्था मे भी जब कि उसके लिए ऋण लेना नितान्त आवश्यक नहीं है ऋण लेने का स्वभाव डालती रही तो वह भी विनष्ट हो जायगी। इस कारण मै बलपूर्वक यह सम्मति देता हूँ कि हिन्दी

के लेखक जहाॅ तक सभव हो ठेठ शब्दो अर्थात् तद्भव शब्दो का प्रयोग करें। क्योंकि वे हिन्दी के स्वाभाविक अग अथवा अश भूत साधन है। उधार लिए हुए सस्कृत शब्दो का जितना ही कम प्रयोग हो उतना ही अच्छा।"

डाक्टर ग्रियर्सन महोदय के विचार कितने समीचीन है इसकी आलोचना की अपेक्षा नही। भाषा बहते हुए नीर के समान है, विकासशील है। उसे अन्य भाषाओ के शब्दो को आत्मसात् करने की क्षमता बढानी ही होगी। यदि भाषा ऐसा नही करती तो वह अद्यतन नही रह सकती और न ज्ञान-विज्ञान के प्रचार का माध्यम ही हो सकती है। इसके लिए डाक्टर साहब ने भी छूट दी है। जो हो, इस प्रकार की हिन्दी पुस्तक लिखने का हरिऔध जी का एक प्रमुख उद्देश्य था। वह यह चाहते थे कि जो गोरे साहब विलायत से अफसर बन कर भारत आते है उन्हे भी ऐसी हिन्दी का ज्ञान हो जाय जो साधारण जनता की भाषा है। सस्कृत से बोझिल पुस्तकीय भाषा उनके अधिक काम की न थी। उनका उद्देश्य था कि इस प्रकार की ठेठ हिन्दी के माध्यम से गोरे साहब जनता से सम्पर्क बढा सके। यही कारण था कि पुस्तक प्रकाशित होते ही 'सिविल सर्विस' के पाठ्यक्रम मे ग्रहीत हो गयी। डाक्टर ग्रियर्सन का यही महत् उद्देश्य था।

ठेठ हिन्दी के सबध मे हरिऔध जी और डाक्टर ग्रियर्सन के मत ज्ञात हो जाने पर अब पुस्तक के सबध मे विचार कर लेना आवश्यक है।

'ठेठ हिन्दी का ठाट' नामक उपन्यास की कथावस्तु अत्यत सरल है। सामाजिक रूढियो और कुरीतियो के कारण देवबाला का विवाह देवनन्दन के साथ असभव हो जाता है। परन्तु विवाह-

सूत्र में न बँध सकने पर भी दोनो एक दूसरे को नहीं भूल पाते। दोनो के हृदय मे एक दूसरे की स्मृति और स्नेह वर्तमान रहता है। देवनन्दन का प्रेम नि स्वार्थ और त्यागमय है। उसके नि स्वार्थ तथा त्यागमय प्रेम का रूप उस समय प्रकट होता है जिस समय देवबाला भयकर सकटो में पड जाती है और उसे असह्य दु ख भोगने पडते है। हारऔध जी की स्वभावजन्य तथा सस्कारजन्य करुणा कारुणिक प्रसगो के समय उद्वेलित हो उठती है। यत उपन्यास का कथा प्रसग कारुणिक है अत उनकी सहृदयता उमड पडी है। उनकी इस सहृदयता ने उपन्यास के पात्रो के चरित्र को बडा ही सजीव और प्रभावकर बना दिया है।

मै पहले ही कह चुका हूँ कि हरिऔध जी की काव्य-कला के विकास की दृष्टि से इस पुस्तक का बडा महत्व है। इस उपन्यास मे हरिऔध जी के हृदय मे जो क्रान्ति प्रारभ हो रही थी उसका सकेत मिलता है। दूसरी बात यह है कि इस उपन्यास मे हरिऔध जी की वृत्ति समान रूप से प्रकृति और मनुष्य की ओर उन्मुख हुई है। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' का भाषा-वैचित्र्य, पुरुष, नारी और प्रकृति के चित्रण ऐसे है कि उनके सबध में थोडा विस्तार के साथ विचार कर लेना अपेक्षित है।

ठेठ हिन्दी लिखने मे क्या कठिनाई है इसका सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। हिन्दी मे इस प्रकार की 'रानी केतकी की कहानी' नामक पुस्तक ही हरिऔध जी की पुस्तको के पूर्व लिखी गई थी। इशा अल्ला खॉ की रानी केतकी की कहानी ठेठ हिन्दी में लिखी गयी है। पुस्तक छोटी है परतु भाव, भाषा की दृष्टि से अत्यत सुन्दर है। हरिऔध जी की ठेठ हिन्दी का एक उदाहरण देखिए —

'एक एक करके दिन जाने लगे। देवबाला को मरे कई दिन हो गये। पर देवनन्दन अब तक उसको नही भूले है। अब तक वह लडकपन की हँसती खेलती देवबाला, अब तक ब्याह के पहले की बिना घबराहट की लजीली देवबाला, अब तक वह दुखिया रोती कलपती देवबाला उनकी आँखो मे, कलेजे मे, जी मे, रोएँ-रोएँ में घूम रही है। वह सोचते हैं—क्यो ! देवबाला की कोई ऐसी कमाई तो न थी, जिससे उसको इतना दुख मिले।'

हरिऔध जी ने तत्सम शब्दो का कही प्रयोग नही किया है। सम्पूर्ण अनुच्छेद ठेठ हिन्दी मे लिखा गया है परतु भाषा मे किसी प्रकार की कृत्रिमता नही दीख पडती। ठेठ हिन्दी मे भी भाषा की स्वाभाविकता का हरिऔध जी ने पूर्ण रूप से निर्वाह किया है। इसके पूणत विपरीत इसी पुस्तक की भूमिका और समर्पण की भाषा है। भूमिका और समर्पण की भाषा सस्कृत शब्दो का वाग्जाल है। एक ही पुस्तक मे दो भिन्न धाराओ का दर्शन होता है। दोनो भाषाओ मे आकाश पाताल का अतर है। समर्पण की भाषा देखिये —

+ + + महानुभाव की सत्कीर्ति कलकौमुदी, हिमधवलशृग-समूह विमडित हिमाचल से, भारत समुद्र के उत्तालतरग-माला विधौत कन्याकुमारी अन्तरीप तक सुविकीर्ण है। × × × × × आदि।

हरिऔध जी के सम्मुख अधिकतर नारी की करुण मूर्ति का चित्र रहा है। सस्कार से भी उन्हे करुणा प्राप्त हुई थी अत नारी के चरित्र-चित्रण मे उन्हे सदा बडी सफलता मिली है। इस पुस्तक की नायिका, देवबाला का भी उन्होने बडा स्वाभाविक चित्रण किया है। अपने प्रेमी, अपने स्नेही के प्रति नारी की कथा

होती रहती है। देवबाला बडी करुणाजनक स्थिति मे भुवलुठिता होकर रुदन कर रही थी। उसी समय एकाएक देवनदन का उसे दर्शन होता है। देवबाला बडी करुणाजनक स्थिति मे पडी हुई थी। उसके वस्त्र भीगे तथा अस्त-व्यस्त थे। आँखे बद थी। उसके केश मुख के चारो ओर बिखरे हुए थे। सारा शरीर कीचड से सना धरती पर पडा था।

देवनन्दन ने जब उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया तब पहले उसने कुछ सुना ही नही। देवनदन की वाणी सुनने पर बिना कुछ ध्यान दिये वह बोली—'न सताओ हमें, जी भरकर रोने दो, हमारा दुख इसी से हलका होता है। दूसरा कोई उपाय हमारे लिए नही है, हमारे कलेजे का घाव पूरा नही हो सकता।'

देवनदन के बहुत आग्रह करने पर देवबाला ने अपने जी की बेकली का हाल कह सुनाया। बच्चे के रोग-ग्रस्त हो जाने के कारण वह इतनी दुखी थी। देवनदन ने उसका उपचार किया और वह स्वस्थ हो गया। अब तक देवबाला ने देवनदन को पहचाना न था। उसने बडी जिज्ञासा के साथ देवनदन का परिचय जानना चाहा।

देवबाला को जब यह ज्ञात हुआ कि उसकी सहायता करने वाला कोई दूसरा नही देवनन्दन ही है तब वह स्तब्ध रह गयी। देवनदन का जटाजूट युक्त साधु का रूप देखकर और यह जान कर कि उसने विवाह नही किया उसे बडी पीडा हुई।

देवनदन देवबाला के दुख से कातर होकर उसके पति को खोज लाने के लिए निकल पडा। अभाव और निराशा ग्रस्त देवबाला क्षय-ग्रस्त हो गयी। क्रमश उसकी दशा बडी शोचनीय होती गयी।

देवबाला हिन्दू नारी का प्रतीक है। वह आदर्श पत्नी है। अपने दुराचारी पति के नाम पर ही उसने अपना जीवन होम

कर दिया। ऐसी स्थिति मे नारी अपने सतीत्व की रक्षा कर सके यह उसके महान आत्मीय शक्ति का द्योतक है। जीवन की अन्तिम घडी आते देखकर उसे केवल यही कष्ट था कि वह मृत्यु के समय अपने स्वामी का दर्शन नही कर पायेगी।

वह कहती है—'जीजी! एक बात और जी में रह जाती है। क्या अब उनको न देख सकूँगी। इस घडी जो उनको एक बार देख पाती तो सब दिन का दुख भूल जाती, मरने का दुख भूल जाती।'

पति कितना ही नीच क्यो न हो हिन्दू नारी, अवश्य ही प्राचीन सस्कृति का पालन करने वाली भारतीय नारी उसका तिरस्कार नहीं करती थी। उसके प्रति उसका प्रेम किसी प्रकार कम न होता था। यही बात हम देवबाला मे भी देखते है। अपने जीवन का अन्त सन्निकट जानकर अपने पति के अभाव मे, अपने पुत्र की भावी अनाथावस्था की कल्पना कर देवबाला का यह कहना कितना स्वाभाविक है —

"आज मै इसकी धूल झाडती हूँ, मुँह चुमती हूँ, इसको रोते देखकर दुखिया बनती हूँ, हाय! कल इसकी धूल कौन झाडेगा! कौन इसका मुँह चूमेगा! कौन इसको रोते देखकर कलेजा पकड़ेगा! कल यह किसको माँ कहेगा! कौन इसके मुँहको सूखा न देख सकेगी! भूख लगने पर जब यह रोवेगा, प्यास से जब इसका मुँह कुम्हिलावेगा, तब कौन इसको छाती से लगाकर कहेगी, बेटा, मत रोओ, मेरे लाल, मत रोओ, देखो यह कलेऊ है। इसको खाओ। यह पानी तुम्हारे लिए लाई हूँ, इसको पीओ। कल यह बाल खोले, मुँह बिचकाये रोता फिरेगा, धूल मे भरा, भूखा, प्यासा गलियों मे ठोकर खाता फिरेगा।"

माता के हृदय की भावना की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है।

उसे अपने दु ख, अपने कष्ट की चिता नही। उसे तो अपने बच्चे के भावी जीवन की चिता ही सता रही है, परतु दीपक अन्तिम हवाला लेता है। जीवन की ज्योति बुझने के पूर्व निराशा का अधकार दूर हो जाता है और आशा का प्रकाश दीख पडता है। सती के जीवन का अन्त सुखद होना चाहिये अत देवनन्दन, देवबाला के पति रमानाथ को लेकर मृत्यु के पूर्व पहुँच जाता है। देवबाला अपने प्यारे पुत्र को पति की गोद में देकर नारकीय जीवन की यातना से मुक्त हो जाती है।

हरिऔध जी ने अपने इस उपन्यास के लिए जिस प्रकार का कथानक चुना वह अस्वाभाविक नही। हमारे समाज मे अनेक रमानाथ है और अनेक देवबाला के पिता के समान मूर्ख पिता है जो केवल कुलीनता के पीछे दीवाने रह कर वर को चिता न कर अपनी कन्याओ को कुएँ में ढकेल देते है। हरिऔध जी आदर्शवादी व्यक्ति थे। जीवन की पवित्रता मे विश्वास करते थे अत देवनन्दन और देवबाला के प्रेम की पवित्रता का उन्होने सुन्दर ढग से निर्वाह किया है। देवनन्दन के प्रेम मे कामुकता नही।

पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित समाज मे देवबाला का चित्र भले ही अस्वाभाविक प्रतीत हो। आज के युग मे इस प्रकार की आदर्शवादिता को कही प्रश्रय नही। जीवन मे इतना भयकर कष्ट सहने पर भी देवबाला अपने सत्पथ से विचलित नही हुई। अपने पूर्व प्रेमी का दर्शन होने पर भी उसके हृदय में किसी प्रकार की कामुकता का सचार नही होता। वह अपने उसी दुराचारी पति के दर्शन के लिए लालायित है। देवबाला ऐसी अवस्था मे बडी सरलता से देवनन्दन की ओर झुक सकती थी। परतु यदि वह ऐसा करती तो हरिऔध जी के आदर्श हिन्दू नारी का चित्र

ही विकृत हो जाता। देवबाला का चरित्र अद्वितीय है। आज के सघर्ष युग मे पति-पत्नी जब समानता के लिए होड बद रहे हो इस प्रकार के चित्र एकागी होगे। ऐसे चित्रो को पुरुषो के स्वार्थ का पोषक कहा जायगा। परतु वास्तविकता यह है कि हिन्दू नारी ने देवबाला के त्याग तपस्या द्वारा ही पुरुष की कामुकता और दुराचार पर विजय प्राप्त किया था, समानता की आकांक्षा द्वारा नहीं। देवबाला की चरित्र-सृष्टि हिन्दी उपन्यास के लिए एक आदर्श सृष्टि है। नारी के इस सात्विक रूप का वर्तमान उपन्यासो मे अभी विकास नहीं हो सका है। इसका कारण यह है कि आज फ्रायड और युग के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के भव-जाल में फँसकर उपन्यासकार नारी के अद्भुत कामुक रूप चित्रित करने मे ही व्यस्त है।

उत्कट प्रेम के माग मे जब बाधा आती है तब विरक्ति की ओर मनुष्य उन्मुख हो जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण जीवन में प्राप्त हो सकते है। देवनन्दन के जीवन मे भी यही हुआ। देव-बाला के प्रति उसका उत्कट प्रेम था। जब उसमे बाधा उत्पन्न हुई और उसकी इच्छा सफल न हो सकी तो उत्कट विरक्ति हो गयी। उसने त्यागमय जीवन का मार्ग पकडा। उसके सासारिक जीवन का अन्त हो गया। देवनन्दन के विचारो के वातायन से हरिऔध जी की प्रवृत्तियाँ झाँक रही है। उदाहरण लीजिये —

"देस की बुरी रीति जो रमाकान्त के जी को डावाँडोल न करती, नासमझी से जो वह हाड़ ही को सब बातो से बढकर न समझते, झूठे घमंडो के बस उतर कर ब्याह करके लोगो से हँसे जाने का जो उनको डर न होता, तो वह हठ न करते और जो वह हठ न करते तो रमानाथ जैसे क्रूर के साथ देवबाला का

ब्याह न होता, न कभी देवबाला जैसी तिरिया की यह दशा होती। देस की बुरी रीतियो, झूठे घमडो से कितने फूल जो ऐसे ही बिना बेले ही कुम्हला जाते हैं, कितनी लहलही बेलियाँ जो नुच कर सूख कर धूल मे मिल जाती है, नही कहा जा सकता राम। क्या तुम यही चाहते हो, यह देस बुरी रीतियो के बस मे पड ऐसे ही दिन मिट्टी मे मिलता रहे।"

देवनन्दन सासारिक जीवन से विरक्त हो चुका था। उसने विरक्त जीवन के चिह्नो को अपना लिया था। उसकी जटा-जूट बढ गयी थी। इस प्रकार का वेश बिराग का सूचक है। ऐसे व्यक्तियो में किसी प्रकार की अनुरक्ति नही होनी चाहिये। इस प्रकार के जीवन की पवित्रता के निर्वाह के लिए यह आवश्यक था कि वह देवबाला को पूर्णत विस्मृत कर दे। परतु इस सयम मे वह सफल नही हुआ है। उसके हृदय मे द्वन्द्व चल रहा है। उसकी बार बार आने वाली स्मृति को वह अनुचित तथा अपने जीवन के प्रतिकूल समझता है। वह कहता है —

'जब मैंने जग से नाता तोड लिया, जी के उचाट से घर दुआर छोड कर साधू हो गया, अपना ब्याह तक नहीं किया, एक कौडी भी अपने पास नही रखता, जब इस भाँत झमेलो से दूर हूँ, तूँबा और लँगोटी ही से काम रखता हूँ तब फिर एक तिरिया की घडी घडी सुरत किया करना, उसके दुखो को सोच सोच कर मन मारे रहना, देस की बुरी रीत के लिए कलेजा पकडना, आँसू बहाना मुझको न चाहिये। अब इन बखेडो से मुझको कौन काम है।'

हरिऔध जी कपडे रँग कर जगत मे जाल बिछानेवालो को साधु नही समझते। वे समाज मे सत्य, सदाचार और सद्वृत्ति

के प्रचारको को साधु समझते हैं। उनके हृदय की भावना को देवनदन अपनी उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान में व्यक्त करता है। वह कहता है—

'भभूत लगाने से क्या होगा? गेरुआ पहनने से क्या होगा? घर दुआर छोडने से क्या होगा? लॅगोटी किस काम आवेगी? तूँबा क्या करेगा? साधू होने ही से क्या, जो दूसरो का दुख मैं न दूर करूँ, दुखिया को मैं सहारा न दूँ, जिस काम के करने से देस का भला हो उसमे जी न लगाऊँ। देस की बुरी रीति के दूर होने के लिए जतन करना, लोगो के झूठे घमडो को समझा बुझाकर छुडाना, जिससे एक का कौन कहे लाखो का भला होगा, क्या मेरा काम नही है। क्या मेरे साधू होने का यह सबसे बडा फल नही है।'

विरक्त देवनन्दन लोक सग्रही के रूप मे समाजोत्थान के कार्यों मे लग जाता है। उसकी विरक्ति का रचनात्मक विकास होता है। देवनदन के इस स्वरूप का विकसित रूप हमे हरिऔध जी के महाकाव्यो मे दीख पडेगा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अप्रासगिक न होगा कि हरिऔध जी के जीवन के नये दृष्टिकोण के चिह्न देवनदन मे बीज रूप मे दीख पडते है। उन्होने समाज के सम्मुख सच्चे साधुओ का चित्र रखा। उनका विचार था कि जीवन के एक क्षेत्र से विरक्ति का अर्थ अकर्मण्यता नही है। प्रम के कारण विरक्ति होने से यदि मनुष्य अकर्मण्य हो गया तो उसका जीवन ही समाप्त समझना चाहिये। ऐसी विरक्ति की अभिव्यक्ति किसी न किसी प्रकार के रचनात्मक कार्यों में होना आवश्यक है यही हरिऔध जी का विचार था। साधुओ के सबध में 'कपडे रँग कर जो न कपट का जाल बिछाये' नामक

हरिऔध जी की कविता भी उपर्युक्त विचारो को व्यक्त करती है।

'ठेठ हिन्दी का ठाट' की दूसरी विशेषता यह है कि इस ग्रथ में हरिऔध जी ने प्रकृति और मनुष्य के चित्रण मे समान प्रवृत्ति का परिचय दिया है। इस ग्रथ मे उनकी इस प्रवृत्ति का प्रथम बार सकेत मिला। इसके पूर्व जो भी ग्रथ निकले उनमें किसी मे यह बात नही थी। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' मे प्रकृति का बडा मनोहारी चित्रण है। एक उदाहरण लीजिए'—

"आधी रात का समॉ, बडी ॲधियाली रात, सब ओर सन्नाटा, इस पर बादलो की घेर-घार, पसारने पर हाथ भी न सूझता। किसी पेड का एक पत्ता तक न हिलता था। काले काले बादल चुपचाप पूरब से पच्छिम को जा रहे थे। बयार दबे पॉव उन्ही का पीछा किये बहुत ही धीरे धीरे चलती थी और कही कोई आता जाता न था, पखेरू पख तक हिलाते न थे। सब सॉस खीचे, चुप साधे, डरावनी रात के सन्नाटे को और डरावना बना रहे थे।"

'अधखिला फूल' नामक उपन्यास का प्रकृत चित्रण देखिये—

"चॉद कैसा सुन्दर है, उसकी छटा कैसी निराली है, उसकी शीतल किरणे कैसी प्यारी लगती है। जब नीले आकाश मे चारो ओर वह ज्योति फैला कर रस की वर्षा सी करने लगता है, उस घडी उसको देखकर कौन पागल नही होता! ऑखें प्यारी प्यारी छवि देखते रहने पर भी प्यासी रहती है। जी को जान पडता है, उसके ऊपर कोई अमृत ढाल रहा है, दिशाएँ हँसने लगती हैं, पेड की पत्तियॉ खिल जाती है। सारा जग उमग मे डूबने सा लगता है। ऐसे चॉद, ऐसे सुहावने और प्यारे चॉद मे काले काले धब्बे क्यो है! क्या कोई बतलावेगा, आहा! यह कमल सी बडी

बडी आखें कैसी रसीली है। इनकी भोली भाली चितवन कैसी प्यारी है। इनमे मिसिरी किसने मिला दी है। देखो न कैसी हँसती है, कैसी अठखेलियाँ करती है। चाल इनकी कैसी मतवाली है × × ×

छोटे छोटे वाक्यो द्वारा बडो स्वाभाविक भाषा मे लेखक ने प्रकृति का चित्रण किया है। 'अधखिला फूल' और 'ठेठ हिन्दी का ठाट' की भाषा मे थोडा अन्तर है। हरिऔध जी के विचारो मे कुछ परिवर्तन हुआ। अधखिला फूल की भूमिका मे अपने परिवर्तित विचार को व्यक्त करते हुए हरिऔध जी लिखते है —

"जिस समय मैंने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' लिखा था उस समय साधारण लोगो की बोलचाल पर बहुत दृष्टि रखता था और जिन सस्कृत शब्दो को एक साधारण ग्रामीण को मैने बोलचाल के समय काम में लाते देखा उन्ही शुद्ध सस्कृत शब्दो का प्रयोग मैने उक्त ग्रन्थ मे किया। किंतु ये शुद्ध सस्कृत शब्द अधिकतर दो अक्षरो के है, जैसे रोग, दुख, सुख इत्यादि। मैने उस ग्रन्थ मे तीन अक्षर के शुद्ध सस्कृत शब्दो का प्रयोग भी किया है, किन्तु अल्प, उपाय, इत्यादि दो ही चार शब्द इस प्रकार के आये है। कारण इसका यह है कि उस समय तक मैने कतिपय तीन अक्षरा के सस्कृत शब्दो के विषय मे यह निश्चित नहा कर लिया था कि वे शब्द अवश्य सर्वसाधारण की बोलचाल मे व्यवहृत हैं, उस समय ये शब्द मीमासित हो रहे थे। किन्तु अब मैने इन शब्दो के विषय में निश्चय कर लिया है कि ये सब अवश्य सर्वसाधारण की बोलचाल मे आते है। अतएव इस ग्रथ मे मैने इन शब्दो का प्रयोग निस्सकोच किया है—ये तीन अक्षर के शब्द 'चचल' 'आनन्द', 'सुन्दर' इत्यादि हैं।

ठेठ हिन्दी का ठाट की भूमिका में मैंने ठेठ हिन्दी लिखने

में ऐसे शुद्ध सस्कृत शब्दो का प्रयोग करना उत्तम नही समझा कि जिनके स्थान पर अपभ्रश सस्कृत शब्द प्राप्त हो सकते है, और इसी लिए 'कहानी ठेठ हिन्दी' मे जो 'चचल' शब्द का प्रयोग हुआ है उस पर मैने कटाक्ष किया है, किन्तु अब मै इस विचार को समीचीन और युक्ति-सगत नही समझता क्योकि यदि इस नियम को मानकर ठेठ हिन्दी लिखी जावेगी तो उसका परिणाम विस्तृत होने के स्थान पर सकुचित हो जावेगा।"

वास्तविक स्थिति यह है कि भापा-सबधी प्रयोग करते समय उपयुक्त शब्दो की जब खोज की जाती है तब कठिनाई का अनुभव होता है और विवशता के कारण अन्य भाषा के उपयुक्त शब्दो का लेखक उपयोग करता है। यही कारण है कि हरिऔध जी ने उपर्युक्त सस्कृत शब्दो के उपयुक्त पर्यायवाची शब्दो के होने पर भी उन्होने सस्कृत शब्दो का उपयोग किया है।

दूसरी एक और भी विचित्र बात है। 'अधखिला फूल' का समर्पण भी 'ठेठ हिन्दी का ठाट' के ही ढर्रे का है। इस से एक बात और भी स्पष्ट होती है। हरिऔध जी सब विषयो के ठेठ भाषा में लिखने के पक्षपाती न थे और न यह सभव ही हो सकता था। सीधी-सादी कहानी के लिए अवश्य इस प्रकार की भाषा का प्रयोग सभव है। जटिल और वैज्ञानिक तथा अन्य गभीर विषयो की भावाभिव्यक्ति के लिए इस प्रकार की भाषा बहुत उपयुक्त नही हो सकती यह वे स्वत अनुभव कर रहे थे। इस ठेठ भाषा मे जीवन की जटिलता से सबध रखनेवाली जटिल कथाओ की रचना भो कठिन है। हरिऔध जी साधारण तथा सरल कथावस्तु को लेकर चले अत उन्हे सफलता मिल गयी। सफलता तो मिली परतु शब्दो के चयन में अनेक प्रकार

की कठिनाई का भी अनुभव हुआ। यह तो स्वीकार करना ही होगा कि हिन्दी-क्षेत्र में हरिऔध जी के ये प्रयोग उस समय हुए जब भाषा के रूप गठन आदि का निर्णय हो रहा था। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' के अतिरिक्त ठेठ हिन्दी मे कोई अन्य पुस्तक नही लिखी गयी और न किसी ने इस प्रकार का प्रयोग ही किया। इस प्रयोग से यह बात स्पष्ट हो गयी कि ठेठ भाषा मे भी साहित्य का निर्माण हो सकता है परतु यह प्रयत्न साध्य है।

भाषा के सबध में सक्षेप मे विचार हो गया अब हमे यह देखना चाहिये कि हरिऔध जी के 'अधखिला फूल' मे उनकी विचारधारा और भावो का कैसा चित्रण हुआ है ओर इस क्षेत्र मे कैसी प्रगति हुई है। पुस्तक के प्रकृति-चित्रण का हम एक उदाहरण पहले ही प्रस्तुत कर चुके है। इस उपन्यास का नायक देवस्वरूप है और नायिका देवहूती है। देवहूती कामिनीमोहन की ओर आकर्षित होती है परन्तु वह अपने पर सयम स्थापित कर लेती है। देवहूती एक बार कामिनीमोहन के प्रणय का शिकार होती है परतु बडी चतुराई से छल-पूर्ण व्यवहार कर वह उसके जाल से बाहर निकल आती है। किन्तु दूसरी बार कामिनीमोहन ने अपने जाल मे उसे फँसाने का प्रबल प्रयत्न किया। देवस्वरूप का देवहूती से कोई परिचय नही। दोनो एक दूसरे से अपरिचित है। उस समय देवहूती जिस ढग से देवस्वरूप से बातचीत करती है वह उसके चरित्र को बहुत श्रेष्ठ सिद्ध करता है। देवस्वरूप ने जब देवहूती से यह पूछा कि आप को मुझ से बातचीत करने मे कोई आपत्ति तो नही है तब देवहूती ने उत्तर दिया—'मुझको चेत है, आपने उस दिन कहा था, जो लोग धर्म की रक्षा के लिए कभी

कभी इस धरती पर दिखलायी देते है मैं वही हूँ। जो सचमुच आप वही हैं तो आप से बातचीत करने मे मुझे कोई आना-कानी नही है। पर बात इतनी है, इस भाँति आप से बातचीत करते मुझको इस सुनसान घर में जो कोई देख लेगा तो न जाने क्या समझेगा। जो कोई न देखे तो धर्म के विचार से भी किसी सुनसान घर मे किसी पराई स्त्री का पराये पुरुष के साथ रहना और बातचीत करना अच्छा नही है। आप बडे लोग है, इन बातो को सोचकर जो अच्छा जान पडे कीजिए, मै आपसे बहुत कुछ नही कह सकती। देवहूती भी देवबाला के समान ही एक सती नारी है और अपनी पीडा को सतोष के साथ शात भाव से सहती है।

यही नहीं, देवहूती के चरित्र का अत्यत उज्ज्वल रूप उस समय प्रकट होता है जिस समय देवस्वरूप उससे अपनी माता के यहाँ चलने का प्रस्ताव करता है। उसका उत्तर भारतीय सस्कृति मे पली उच्चतम चरित्र वाली नारी का रूप है। वह कहती है कि मेरी माता मेरे डूब मरने की बात सुनकर दुखी ह परतु यह दुख क्षणिक है। दो चार दिन वह रो कलप कर शात हो जायगी। परतु यदि मै आप ऐसे अपरिचित व्यक्ति के साथ कही वहाँ गयी और उसे कुछ सदेह हो गया तो मेरा और उसका जीना दूभर हो जायगा। दूसरे यदि इस प्रकार दो दिन बाद मै अचानक घर चली चलूँ तो माता क्या सोचेगी। आप ऐसे अपरिचित व्यक्ति के साथ मै कही आ जा नही सकती।

देवहूती की इन दो टूक बातो में स्पष्टत चरित्र-बल का ओज और सतीत्व की अनुपम शक्ति है। साधारण रूप मे उसकी बातें रूक्ष प्रतीत होगी। देवहूती और देवबाला हरिऔध की कल्पना की आदर्श नारियाँ है। उसी प्रकार देवनन्दन और देवस्वरूप उनके

विचारो, उनकी भावनाओ का प्रतिनिधित्व करते है। हरिऔध जी का आदर्शवाद मे विश्वास था। समाज मे एक सिद्धान्त के प्रचार और प्रसार के लिए उसका जनता के सम्मुख बार बार आना आवश्यक है। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' मे हम साधुओ के सबध मे उनके विचारो का अवलोकन कर चुके है। इस उपन्यास मे भी देवस्वरूप के माध्यम से उन्होने जनता के सम्मुख अपनी विचार धारा इस प्रकार प्रकट की —

"साधु होना टेढी खीर है, बडा कठिन काम है। सर पर जटा बढाये, भभूत रमाये, गेरुआ पहने, हाथ मे तूँबा चिमटा लिए आप कितनो को देखते हैं, पर क्या वे सभी साधु है। नही वे सभी साधु नही है। भेस उनका साधुओ सा देख लीजिए पर गुण किसी में न पाइयेगा। कोई पेट के लिए भभूत रमाता है, कोई चार पैसे कमाने के लिए जटा बढाता है, कोई लोगो से पुजाने के लिए गेरुआ पहनता है, कोई घर के लोगो से बिगड खडा होता है और झूठमूठ साधुओ का भेस बनाये फिरता है, इन सब लोगो से निराले कुछ ऐसे लोग होते है जो न तो कुछ काम कर सकते न किसी काम मे जी लगाते, जिस काम को वे करना चाहते है, आलस से वही काम उनको पहाड होता है, फिर उनका दिन कटे तो कैसे? वे सब छोड-छाडकर साधु बनने का ढचर निकालते है और इसी बहाने किसी भाँति अपना दिन काटते है।"

ध्यान देने की बात है कि 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' की कथा वस्तु में भाव, विचार और सिद्धान्तो की दृष्टि से बहुत कुछ साम्य है। कथा वस्तु की नवीनता अथवा विभिन्न चरित्रो के मनोवैज्ञानिक विकास की ओर ध्यान नही दिया गया है। इसका प्रधान कारण है इन उपन्यासो का भाषा की दृष्टि से निर्माण।

'ठेठ हिन्दी का ठाट' का देवनदन साधु होकर सामाजिक कार्यों में लग जाता है। देवस्वरूप मे भिन्न प्रकार का विकास होता है और वह आदर्श गृहस्थ के रूप मे गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करता है। हरिऔध जी मनुष्य के जीवन का सर्वोत्तम भाग गार्हस्थ्य जीवन को मानते थे। इन उपन्यासो के नायक-नायिकाओं का विकसित रूप हमे हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही वन-वास' में आगे चलकर मिलेगा। जिन चारित्रिक विशेषताओ का आरोप इन उपन्यासो के नायक-नायिकाओ मे किया गया है उनका बडा निखरा रूप हमे राम-कृष्ण और सीता-राधा में दीख पडेगा।



****

हरिऔध जी का रीति साहित्य

हरिऔध जी ने हिन्दी साहित्य-क्षेत्र मे ब्रज भाषा के कवि के रूप में प्रवेश किया था। परम्परा से चले आते कृष्ण-काव्य-प्रणयन मे किस प्रकार उन्होंने योग दिया इस सबध मे विचार किया जा चुका है। क्रमश उनकी प्रवृत्ति शृगार-रस की ओर किस प्रकार अग्रसर हो रही थी और उस पर किस प्रकार अकुश लगा इन तथ्यो की भी विवेचना हो चुकी है। मै यह कह चुका हूँ कि वे आदर्शवादी व्यक्ति थे। साहित्य के किसी अग की उपेक्षा वे उचित न समझते थे। उन्होने हिन्दी और सस्कृत के काव्य-शास्त्रो का गहन अध्ययन किया था। इन ग्रथो के अध्ययन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि अधिकतर आचार्यो ने शृगार-रस के वर्णन में आवश्यकता से अधिक बल दिया है। यही नही, उनकी चित्तवृत्ति और सारी शक्ति नायक और नायिकाओ के वर्णन मे ही समाप्त हो जाती थी। अन्य रसो का वे स्पर्श मात्र करते थे तथा इस सबध के उनके उदाहरण नीरस और प्रभावहीन होते थे।

शृंगार-रस पर आवश्यकता से अधिक जो ध्यान दिया गया और नायक नायिकाओ के वर्णन में शिष्टता को तिलाजलि देकर अश्लीलता का जिस प्रकार पल्ला पकडा गया वह अवश्य ही निन्दनीय था।

देश की राजनीतिक उथल-पुथल और सामाजिक क्राति से हरिऔध जी पूर्ण रूप से परिचित थे। ब्रज भाषा का प्रभाव भी धीरे धीरे क्षीण हो रहा था। वह काव्य-भाषा के रूप में अब नही प्रयुक्त हो रही थी। अधिकतर कवि खडी बोली में रचना करने लगे थे अत रीति साहित्य की चर्चा करना ही बे-सुरा राग था। ऐसी परिस्थितियो मे ब्रज भाषा के माध्यम से रीति साहित्य का निर्माण अनुपयुक्त कहा जायगा ऐसा हरिऔध जी भी अनुभव कर रहे थे। उन्हे सामाजिक परिवर्तनो का भी बोध था। वे यह देख रहे थे और अनुभव कर रहे थे कि अब खुले बाजार हाव-भाव प्रदर्शन के साथ कवि नायक-नायिकाओ का प्राचीन काल के समान वणन नही कर सकते। वे स्वत इस बात को स्वीकार करते है कि काव्य को समाज का, देश का दर्पण होना चाहिये। उन्ही के शब्दो मे सुनिये —

अश्लील शृगार रस अवश्य निन्दनीय है फिर भी उसकी निदा की सीमा है, जहॉ वह किसी कला का अग होगा, वहॉ उसको उसी दृष्टि से ग्रहण करना होगा।

* * *

मै यह स्वीकार करता हूँ कि प्राचीन प्रणाली का अनुकरण ही आज कल अधिकाश वर्तमान ब्रज भाषा के कवि कर रहे है, निस्सदेह यह एक बहुत बडी त्रुटि है। समय को देखना चाहिये, और सामयिकता को अपनी कृति मे अवश्य स्थान देना चाहिये।

देश-सकटो की उपेक्षा देश-द्रोह है और जाति के कष्टो पर दृष्टि न डालकर अपने रग में मस्त रहना महान अनर्थ है। मातृभूमि की जिसने उचित सेवा समय पर न की वह कुल-कलक है, और जिसने पतित समाज का उद्धार नही किया वह पामर। यह विचार कर ही प्राचीन प्रणाली के कवियो की दृष्टि इधर आकर्षित करने के लिए 'रसकलस' की रचना की गयी। इस ग्रथ में देश प्रेमिका, जाति प्रेमिका और समाज प्रेमिका आदि नाम देकर कुछ ऐसी नायिकाओ की कल्पना की गयी है जो बिलकुल नयी हैं परतु समाज और साहित्य के लिए बडी उपयोगिनी है।'

हरिऔध जी ने किस उद्देश्य से 'रसकलस' की रचना की यह उपयुक्त पक्तियो से स्पष्ट है। उन्होंने ब्रज-भाषा-क्षेत्र मे एक नवीन धारा उत्पन्न करने के लिए तथा शृगार सबधी शिष्ट और स्वस्थ साहित्य-रचना की दृष्टि से 'रसकलस' का निर्माण किया। हरिऔध जी ऐसा व्यक्ति अश्लीलता का स्पर्श तक नही कर सकता था, उसका वर्णन तो बहुत दूर की बात है। दूसरी बात यह है कि रसकलस मे हरिऔध जी की बहुत सी प्रारभिक रचनाओ का सकलन है। आवश्यकतानुसार उन्होंने कुछ पद्यो की रचना कर 'रसकलस' का निर्माण किया। परतु इस रचना का प्रकाशन बहुत विलब से हुआ। हरिऔध जी यह समझते थे कि रीति साहित्य सबधी ग्रथो के प्रकाशन का अब युग नही है और सभव है उसे लोग अन्यथा समझे।

हरिऔध जी की वृद्धावस्था मे यह ग्रथ प्रकाशित हुआ। कुछ लोगो ने ग्रथ के प्रकाशित होते ही हो-हल्ला मचाना प्रारभ किया। कुछ चॉदी के टुकडो की चकाचौध में लोगो ने 'हरिऔध का बुढभस' भी लिख डाला। लेकिन ऐसे लोगो की दलीलें इतनी

थोथी थी कि हिन्दी ससार एक स्वर से उन व्यक्तियो पर टूट पडा और इनमे से एक स्वनामधन्य साहित्यिक तो साहित्य-क्षेत्र छोडकर राजनीतिक क्षेत्र मे खिसक गये । आचार्य शुक्ल ऐसे समर्थ एव महान समालोचक ने 'रसकलस' को 'स्वर्ण-कलश' कहा और यह स्वीकार किया कि रीति साहित्य का यह आदर्श ग्रथ है ।

'रसकलस' शब्द ही ग्रन्थ के विषय को स्पष्ट कर देता है । इस ग्रन्थ मे काव्य के शृगार, हास्य, वीर, रौद्र, करुण, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त, नौ रसो, उनके ९ स्थायी तथा ३३ सचारी भावो, विभावो, आलबन—जिसके अतर्गत है, समस्त नायिका भेद और उनका शिख-नख-वर्णन और उद्दीपन—जिसके अन्तर्गत सखा सखी भेद,क र्म, समय, स्थान, प्रकार और षट्ऋतु वर्णन, ४ प्रकार के अनुभावो—अगज, अयत्नज और स्वभावज, हाव भावादि अलकार आ जाते है,—का बडी सूक्ष्मता के साथ सर्वांगीण विशद तथा सराहनीय वर्णन किया गया है । प्रत्येक के उदाहरण अत्यत उपयुक्त और शिष्ट है ।

पहले कहा जा चुका है कि हरिऔध जी से पूर्व जितने आचार्यो ने रीति सबधी ग्रथ लिखे है उनमे शृगार रस के प्रति आवश्यकता से अधिक ध्यान दिया गया था । अन्य रसो का केवल साधारण परिचय मात्र करा दिया जाता हैं । परतु रस-कलस इस दोष से सर्वथा मुक्त है । इस ग्रथ की विशेषता यह है कि इसमे सब रसो पर समान रूप से ध्यान दिया गया है । शृगार रस-राज है इस लिए उसके समस्त अग-प्रत्यग का विस्तार से वर्णन किया गया है । परतु जो अत्यत अश्लील विषय हैं और जिनको शिष्ट भाषा में व्यक्त करना असभव है उन्हे त्याग दिया

गया है। वे अश्लील विषय जिनका जटिल भाषा में सकेतात्मक रूप में वर्णन करना सभव हो सकता था उनका कवि ने इस प्रकार वर्णन कर दिया है कि रीतिकाव्य-शास्त्र मर्मज्ञ उन्हे समझ ले और उन उदाहरणो द्वारा समाज मे किसी प्रकार की उच्छृखलता न उत्पन्न हो।

हरिऔध जी नौ रस सिद्ध कवि थे। वे समान रूप से विभिन्न रसो को मूर्त रूप प्रदान कर सकने की अद्भुत क्षमता रखते थे। आचार्यत्व के लिए यह गुण आवश्यक भी है। उन्होने जिन रसो के जो भी उदाहरण प्रस्तुत किये है उनमे उस रस का यथोचित परिपाक हुआ है। स्वभावत उनमे सरसता, स्वाभाविकता और प्रसादगुण सम्पन्नता वर्तमान है। अद्भुत-रस के अन्तर्गत कवि ने रहस्यवाद का सहारा लेकर कुछ रचनाएँ की है और रहस्यवाद सबधी अपनी विचारधारा व्यक्त की है।

विषय के सबध मे विचार कर लेने के उपरांत हरिऔध जी के 'रसकलस' की भाषा के सबध मे भी थोडा विचार कर लेना आवश्यक है। भाषा और भाव अन्योन्याश्रित है। रचना-क्षेत्र मे यदि कहना चाहे तो कह सकते हैं कि भावो की अपेक्षा भाषा का प्राधान्य है। कहने को लोग कह दिया करते है कि भाषा भावो का परिधान है। परिधान के अभाव मे तो काम चल सकता है परतु भाषा के अभाव मे भावो की अभिव्यक्ति ही समाप्त हो जाती है। भाषा के अभाव मे विचारो और भावो की अभि-व्यक्ति असभव है। यदि भाव सुन्दरतम हो और उन्हे उपयुक्त भाषा व्यक्त नही करती तो उनका कोई प्रभाव न पडेगा। उन सुन्दर भावो के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जायगी। अत रचना कला मे भाषा का बडा महत्व है। हरिऔध जी ने शब्द साधना की

थी। वे शब्दो की उपयुक्तता का समुचित ज्ञान रखते थे। उपाध्याय जी ने 'रसकलस' की रचना शुद्ध ब्रज भाषा मे की है। उनकी ब्रज भाषा टकसाली है। स्वर्गीय रत्नाकर जी इस काल के ब्रज भाषा के प्रतिनिधि कवि थे। उन्होने ब्रज भाषा का टकसाली रूप निश्चित किया और उन्होने आजन्म ब्रज भाषा मे ही रचना की। परतु यह होते हुए भी उन्होने उसकी प्राचीनता का निर्वाह किया। हरिऔध जी ने इसके विपरीत ब्रज भाषा मे प्राचीनता के निर्वाह के साथ कुछ नवीन विशेषताओ का भी समन्वय किया और इस समन्वय मे वे सफल भी हुए।

हरिऔध जी ने ब्रज भाषा को देश, काल के समयानुकूल बनाया, उसे वह क्षमता प्रदान की जिसके द्वारा वह नवीन भावो को व्यक्त कर सकने मे समर्थ हुई। इस रूप मे भाषा को गठित करने मे उन्हे कही कही विशेष मार्ग का अवलम्बन करना पडा है। उन्होने प्राचीन अप्रचलित रूढिवादी शब्दो का त्याग कर उनके स्थान पर सस्कृत से शब्दो को लेकर ब्रज भाषा की अभिव्यक्ति शक्ति बढाने का प्रयत्न किया। यही नही, इसके द्वारा ब्रज भाषा की शब्द-राशि मे भी वृद्धि हुई। इस प्रकार नवीन शब्दो के प्रयोग से भाषा की भाव व्यजकता भी बढी।

हरिऔध जी प्रयोगवादी कवि थे। नवीन शैली, नवीन भाषा, नवीन विचारो के सबध मे वे निरतर प्रयोग करते रहे। ब्रज भाषा में भी उन्होने नवीन प्रयोग किये। आवश्यक भी है कि कवि नवीन भावो को व्यक्त करने के लिए भाषा मे नवीन शब्दो का प्रयोग करे। वही सफल कवि अथवा लेखक कहा जा सकता है जो भाषा के भाडार की इस प्रकार अभिवृद्धि करता है। शब्दो का सहज प्रयोग बडी कुशलता का कार्य है। यह प्रत्येक व्यक्ति

की क्षमता के परे है। वही लेखक अथवा कवि शब्दो को सहज रूप मे आत्मसात् कर सकता है जिसमें अद्भुत क्षमता होती है। आचार्य शुक्ल जी का भी कहना है कि हरिऔध जी ऐसा शब्द-धनी हमारे हिन्दी-साहित्य में कोई नहीं है। हरिऔध जी का शब्द और भाषा-ज्ञान अप्रतिम था।

'रसकलस' के विषय और भाषा के सबध में विचार कर लेने के पश्चात् ग्रथ की भूमिका पर भी विचार कर लिया जाय। इस भूमिका मे ब्रज भाषा और उसके काव्य पर जो लोग आक्षेप किया करते हैं उनके आक्षेपो का बडी सतर्कता के साथ हरिऔध जी ने उत्तर दिया है। वे व्यर्थ के विवाद मे तो नही पडे हैं परतु उन्होने बडी योग्यता और गभीरता के साथ वितडावादो का समाधान किया है। इसी भूमिका मे शृगार रस पर किये गये अनावश्यक कटाक्षो की निस्सारता भी उन्होने सिद्ध की है। शृगार रस क्यो रसराज है और उसको यह पद क्यो प्राप्त हुआ है इसका वैज्ञानिक रीति से उन्होने बुद्धि सगत विवेचन किया है। इस भूमिका द्वारा रस सिद्धात से सबध रखनेवाले विविध सिद्धान्तो, उनके अनुसार होने वाले साहित्य के क्रमिक विकास आदि पर विचार किया गया है। मूल ग्रथ मे मीमासा सभव न थी अत इसका विवेचन उन्होने पृथक रूप से किया है। हरिऔध जी की भूमिका उनके गहन अध्ययन, गभीर पाडित्य और सूक्ष्म ज्ञान की द्योतक है। आज हिन्दी ससार में 'रसकलस' रस-संबधी सर्वोत्तम ग्रथो में गिना जाता है।

जिस समय रसकलस प्रकाशित हुआ था उस समय हरिऔध जी हिन्दी में अपना विशिष्ट स्थान बना चुके थे। उनकी प्रारभिक रचनाओं में जो विनम्रता दीख पड़ती थी वह अब

आत्म-विश्वास के रूप मे परिणत हो चुकी थी। वे क्या कह रहे है और क्या कहना चाहते हैं इसका उन्हे भली भाँति ज्ञान था। साथ ही वे यह भी जानते थे कि अच्छी से अच्छी वस्तु के विरुद्ध उँगली उठाने वालो की कमी नही। उन्ही अरसिकेषु व्यक्तियों को सबोधित कर वे कहते हैं—

बचन - बिलास ते न जाको मन बिलसत,
छहरत छबि ते न जाकी मति छरी है।
बिबिध रसन ते न जाको चित सरसत,
रुचि की रुचिरता न जाहि रुचिकरी है।
'हरिऔध' भारती न भूलिहूँ लुभैहे ताहि,
जाके उर माहिं भारतीयता न अरी है।
वैभव मैं जाके है अभाव मजु भावना को,
भावुकता नाहिँ जाकी भावना मैं भरी है।

कोकिल की काकली को मान कैसे कैहै काक,
भील कैसे मजु मुकतावलि को पोहैगो।
कैसे बर बारिज बिलोकि मोद पैहै भेक,
बादुर बिभाकर - बिभव कैसे जोहैगो।
'हरिऔध' कैसे 'रसकलस' रुचैगो ताहि,
जाको उर रुचिर रसन ते न सोहैगो।
आँखिन मैं बसत कलक अक ही जो अहै,
कोऊ तो मयक अवलोकि कैसे मोहैगो।

मनुष्य के हृदय में जब क्रोध उत्पन्न हो जाता है तब स्वभावतया मनुष्य के मुख से कठोर और रूक्ष शब्द निकलते हैं। इस भाव को निम्नलिखित पक्तियो में व्यक्त किया गया है—

जैहै जो बिगरि तो पकरि कै रगरि दैहौं,
देखि अनखैहै तो अनख बनि जैहो मै ।
सूधे जो न बोलिहै तो ठोकि ठोंकि सूधौ कैहौं,
बात जो बनाइहै, तो लातहूँ लगैहो मै ।
'हरिऔध' ऐंठिहै, तो ऐंठिबौ रहैगो नाहिं,
दाँत पीसिहै तो दौरि दाँत तोरि दैहो मै ।
आँखि फोरि डारिहौ दिखाइहै जो आँख मोहिं,
कोऊ आँखि काढिहै तो आँखि काढि लैहौ मै ।

उपर्युक्त पद में रौद्र रस का वर्णन है । रौद्र रस के परिपाक के लिए जिन तत्वो की आवश्कता होती है वे सब इसमे वर्तमान हैं।

****

'रसकलस' में नारी सौंदर्य की कल्पना

जिस समय 'रसकलस' प्रकाशित हुआ उस समय राष्ट्रियता की धूम थी। देश-प्रेम के गुण-गान का बाजार गर्म था। नीरस, शुष्क तुकबंदियो ने हिन्दी-साहित्य को एक प्रकार से ढक लिया था। वह ऐसा युग था कि उस समय सौंदर्य की कल्पना करने तक तो ठीक था, उसके सबध मे कुछ लिखना अपने लिए झझट मोल लेना था। शृगार-रस का नाम लेते ही लोगो की भौहे चढ़ जाती थीं। कोई इस प्रकार की बातें सुनने को तैयार न था। इस प्रकार का सामाजिक वातावरण होने पर भी 'हरिऔध' जी 'रसकलस' लेकर हिन्दी जनता के समक्ष आये, यह बडे साहस का काम था। उनकी यह दृढ धारणा थी कि शुद्ध शृगार सत्य है, शिव है और सुन्दर है। अवश्य ही जब शृगार-रस का दुरुपयोग किया जाय, उसके द्वारा कामुक प्रवृत्तियों को उत्तेजन दिया जाय और समाज में उच्छृखलता फैलायी जाय तब उसका जमकर विरोध होना चाहिए। इस प्रसग मे वे महामना मालवीय जी महाराज, आचार्य आनन्द शकर बापू भाई ध्रुव और एक सज्जन के बीच जो विचार विनिमय हुआ था उसका उदाहरण दिया करते थे। एक बार एक सज्जन ने उपर्युक्त महानुभावो के सम्मुख कालिदास का एक श्लोक पढा जो उनके विचार से अश्लील था और घृणित था। आचार्य ध्रुव जी श्लोक सुन कर चुप रहे, कुछ

बोले नही। मालवीय जी महाराज ने आचार्य ध्रुव जी की ओर देखा और कहा —

'कहिये ध्रुव जी इस सबध मे आपके क्या विचार है ?'

ध्रुव जी ने कहा—'महाराज श्लोक तो अश्लील है ही। इस सबध में दो मत नहीं हो सकते।'

मालवीय जी महाराज ने उस श्लोक की पुनरावृत्ति की और ध्रुव जी से पूछा—'आप सच्चे हृदय से कहो कि जो तथ्य इस श्लोक मे कहा गया है वह सत्य है या नही।'

ध्रुव जी ने कहा—'महाराज बात तो ठीक है। जो बात श्लोक मे कही गई है वह पूर्णत सत्य है। इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता।'

मालवीय जी ने कहा—'सत्य कभी अशिव और असुन्दर नहीं हो सकता। हमारी आपकी भावना का प्रतिविम्ब सत्य को कलुषपूर्ण, अशिव और असुन्दर प्रतिविम्बित करता है। साहित्य का यह कार्य है कि वह मानव के सम्मुख सत्य का उद्घाटन करे। सत्य को सत्य रूप मे ग्रहण करने के लिए इसी प्रकार के मानसिक धरातल की आवश्यकता होती है'।

इस प्रसग के यहाँ उल्लेख करने की इस लिए आवश्यकता पडी कि हरिऔध जी का भी यही मत था। वे सौदर्योपासक कवि थे। सौदर्य उनके मन को मोहित करता था परन्तु उनमें आसक्ति का, कामुकता का सचार नही करता था। वे भोले-भाले शिशु के समान सुन्दर रूप और सुन्दर कंठ की ध्वनि सुनते ही थिरक उठते थे और अपने हृद्गत भावो को सब के सम्मुख बिना किसी हिचकिचाहट के व्यक्त कर देते थे।

विधाता ने, चाहे प्रकृति के रूप में अथवा अन्य रूप में, जहाँ

कही भी सौदर्य को जन्म दिया है वह दर्शनीय है, आह्लादकारी है इसे स्वीकार करना होगा। प्रत्येक का हृदय सौंदर्य की ओर आकर्षित होता है। कलुष वृत्ति वाले घटाटोप में अपने भावो को छिपाकर आदर्शवादी बनने का ढोग रचते है, वे उसे समाज में उच्छृखलता फैलाने वाली वस्तु समझते हैं परन्तु ये दलीलें तो अपने मानसिक दोषो के कारण समाज में उत्पन्न होती हैं। साधारणतया कवि अपने को इस प्रकार के बधनो से मुक्त समझता है। सच्चा और साधनापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले कवियो की लेखनी से सौदर्य के जो रूप निर्मित हुए है वे उच्छृंखल अथवा कामोत्तेजक नही और न उनका ध्येय ही यह था।

हरिऔध जी भी शृगार-रस के शुद्ध और सत्य रूप का उद्घाटन करना चाहते थे। नारी के सौदर्य की भी जब उन्होने कल्पना की तब परम्परा का निर्वाह करते हुए भी वे मध्य कालीन कवियो के समान कामकेलि और कामुकता के पक में न गिरे। उन्होने बडी सतर्कता से अपने को इस प्रकार की वृत्तियो से बचाये रखा। नारी के शारीरिक सौदर्य का उन्होने उन्मुक्त हृदय से वर्णन किया है परतु वह सौदर्य बाजारू नही है उसमें शिष्टता है, शालीनता है। वे भी अन्य कवियो के समान नारी के शारीरिक विकास वर्णन मे माधुर्य का अनुभव करते है, परतु उनका अनुभव उच्छृखलता उत्पन्न करनेवाला नही। मुग्धा नायिका के सौन्दर्य का चित्रण करते हुए वे कहते है '—

'पीन भए कुच कामिनी के दोऊ केहरि सी कटि खीन भई है।
बकता भौंहन माहिं ठई मुख पै नव-जोति-कला उनई है।
जोबन अग दिप्यो 'हरिऔध' गये गुन हूँ अब आय कई है।
केस लगे छहरान छवान छ्वै कानन लौ अँखियान गई हैं।'

यह तो नायिका के बाह्य सौंदर्य का वर्णन है। परंतु हरिऔध जी को केवल बाह्य सौंदर्य के वर्णन से संतोष नहीं था। वे मानसिक सौंदर्य को अधिक महत्व देते थे। यही कारण है कि श्रीमती राधा को 'रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका' के रूप में वर्णित कर लेने पर उन्हें संतोष नहीं हुआ। उन्होंने राधा की हृदय-दृढ़ता, स्नेहशीलता, कोमलता, सत्यप्रियता आदि मानसिक सौंदर्य के तत्वों का भी विस्तार के साथ 'प्रियप्रवास' में वर्णन किया।

हरिऔध जी शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह करते हुए रस-ग्रंथ की रचना में प्रवृत्त हुए थे अतः भिन्न प्रकार की नायिकाओं और नायकों का वर्णन करना उनके लिए अनिवार्य सा था। वे उनके वर्णनों से अपने को बचा न सकते थे। परंतु अपने चित्रों के निर्माण में संयम और शिष्टता का उपयोग तो वे कर ही सकते थे, और यही उन्होंने किया भी। हरिऔध जी द्वारा चित्रित एक दूसरी नायिका का आकर्षक और सुन्दर चित्र देखिये —

सकुचित भौंहैं करि सोचति कछू है क्यों
　　कंटकित गात होत क्यों गरवीली को।
ढरकि रहे हैं सेद-कन रोम कूपन सों,
　　छाम ह्वै गयो है तन सकल छबीली को।
'हरिऔध' कहै डूबि डूबि मन काहे जात,
　　गहन लगी क्यों ऊबि ऊबि गति ढीली को।
लहि लहि लाज कौन काज भरि भरि आवैं,
　　रहि रहि आज नैन ललना रसीली को।

समाज में कामवासना को संयमित रखने की दृष्टि से ही विवाह की प्रथा प्रचलित हुई। ऐसे विवाह द्वारा प्राप्त वधू के साथ कामवासना की तृप्ति अथवा मनबहलाव के जितने कार्य होते हैं

वे सयम के अन्तर्गत आते है। समाज इसे सदाचार भी समझता है। ऐसे प्रेमी और प्रेमिक को अपना आलम्बन बनाकर शृगार-रस सत्य और धर्म के बीच समन्वय स्थापित करने का यत्न करता है, परतु समाज मे जो वैवाहिक प्रथा प्रचलित है उससे कठिनाइयाँ भी उत्पन्न होती है, हो सकती है। कन्यादान की प्रथा के कारण अनेक कन्याओ का ऐसे पति के साथ विवाह हो जाता है जिससे वे जीवन भर प्रेम नही कर पाती और वे अन्य से प्रणय निवेदन करती हैं। समाज के बधन ऐसे है कि उत्कट अनुराग होने पर भी वह अपने प्रेमी के साथ व्यक्त रूप से सबध नही स्थापित कर सकती। समाज का यह बधन उसके लिए कितना कठोर और कष्टकर होता है इसका सहज मे अनुभव किया जा सकता है। जीवन की यह विषमता समाज की यह पतितावस्था परकीया नायिकाओ की सृष्टि मे सहायक होती है। जब किसी कारणवश मन असतुष्ट होता है तब नारी का हृदय दूसरा आश्रय खोजता है। स्वभावत स्त्री का पार्थिव शरीर तो पति के साथ रहता है परतु उसका मन अपने प्रियतम के साथ रहता है। सूरदास जी ने इस प्रकार की परकीया नायिका का वर्णन अनेक स्थलो पर किया हे जहाँ गोपियो का शरीर तो पति के साथ हैं परतु उनका मन कृष्ण के साथ है।

भक्ति की मूर्ति मीरा ने अपने जिस परकीया रूप का वर्णन किया है वह एक आदर्श चित्र है। जहाँ एक ओर पुरुषो की लेखनी से प्रसूत परकीया के चित्रो ने नारी समाज को कलकित किया और उन्हे बहुत नीचे गिराया वहाँ दूसरी ओर मीरा ने परकीया का जो चित्र अकित किया है वह बडा ही मार्मिक तथा उसके गौरव को बढाने वाला है। मीरा का परकीया नायिका का रूप देखिये'—

रमैया मै तो थारे रँग राती।
औरों के पिय परदेस बसत है लिख लिख भेजै पाती।
मेरा पिया मेरे हिये बसत है गूँज करूँ दिन राती।
चूवा चोला पहिरि सखी री, मै झुरमुट रमवा जाती।
झुरमुट मे मोहि मोहन मिलिया खोल मिलूँ गल बाटी।
और सखी मद पी पी माती मै बिनु पिया मद माती।
प्रेम भठी को मै मद पीयो, छकी फिरूँ दिन राती।

हरिऔध जी ने भी परकीया नायिका का जो चित्र खीचा है उसमें उसकी व्याकुलता देखिये। इस परकीया के प्रति बरबस पाठक की सहानुभूति हो जाती है—

चहूँ ओर चरचा चबाइन चलायो आनि
पायन परी है खरी बेरी लोक लाज की।
गुरुजन हूँ की भीर तरजन लागी, परी
बरजन ही की बानि आलिन समाज की
हाय। 'हरिऔध' हूँ से अपने पराये भये
सूझति न मोको कोऊ सूरति इलाज की।
कढति न क्यो हूँ रोम रोम मै समाई वह
सूरति सलोनी - मन - भायी ब्रज - राज की।

ब्रजराज से मिलने की इसकी उत्कठा कितनी प्रबल है, उसकी दशा का प्रतिविम्ब कितना स्पष्ट और हृदयस्पर्शी है।

परम्परा और शास्त्रीय सिद्धान्तो के निर्वाह की दृष्टि से जिन नायिकाओ का चित्रण हरिऔध जी ने किया है उनमें से कुछ के उदाहरण प्रस्तुत किये गये है। परतु इन सब कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण हरिऔध जी की नवीन उद्भावनाएँ हैं। हरिऔध जी समय की गति से परिचित थे। देश मे जो सामा-

जिक, राजनीतिक और धार्मिक परिवर्तन हो रहे थे। उनका भी युग-कवि के रूप में उन्हें वर्णन करना था। अत उन्होने लोक-सेविका, देश-प्रेमिका और जाति-प्रेमिका आदि नयी नायिकाओ की सृष्टि की। रीति-काव्य-क्षेत्र मे यह एक क्राति थी। उनकी ये नायिकाएँ त्याग, सेवा और सहनशीलता की प्रतीक है। उनके जीवन मे कामुकता का नाम नही है। ये चित्र हरिऔध जी के आदर्शों और जीवन-सिद्धान्त के पूर्णत अनुकूल है। हरिऔध जी की लोक सेविका का चित्र देखिये —

कल-कानि कलित कुलीन खग कुल कौंहिँ
बाल है बचावति कलेस लेस लासा ते।
बिदलित मानव को दलन निवारति है
दलति रहति दिल दहल दिलासा ते॥
'हरिऔध' दुख अनुभवति दुखित देखि
जीतति है दाँव भाव-पूत-प्रेम पासा ते।
उपवास करति बिलोकि उपवासित को
बनति पिपासित पिपासित-पिपासा ते।

देश-प्रेमिका देश के गौरव का गुणगान कर अपने कोकि तना गौरवित अनुभव करती है —

गौरवित सतत अतीत गौरवो ते होति,
गुरुजन गुरता है कहती कबूलती।
मुदित बनति अवनीतल मै फैलि फैलि,
कीरति की कलित-लता को देख फूलती।
'हरिऔध' प्रकृति-अलौकिकता अवलोकि,
प्रेम के हिंडोरे पै है पुलकित झूलती।

भारत की भारती विभूति ते प्रभावित है,
भामिनि भली है भारतीयता न भूलती।

और यह है उनकी जाति-प्रेमिका का चित्र—

सरसी समाज-सुख सरसिज पुज की है
सुरुचि सलिल की रुचिर सफरी सी है।
नाना कुल-कालिमा-कलुस की कलिंदजा है
कल-करतूत मजु मालिका लरी सी है॥
'हरिऔध' बहु भ्रम-भँवर समूह भरी
सकल कुरीति-सरि सबल तरी-सी है।
जाति-हित-पादप-जमात नव-जीवन है
जाति जन-जीवन सज वन जरी-सी है।

हरिऔध जी के साहित्य का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी के लिए 'रसकलस' का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है। इस ग्रथ मे कृष्ण के सबध मे जो भी कविताएँ है उनमे कृष्ण के साधारण मानव रूप का चित्रण है। इनमे किसी प्रकार की अलौकिकता का दर्शन नही होता और न ईश्वरीय भावना का उनमे आरोप है। नायिका उनको निमत्रित करते हुए कहती है —

मद मद समद गयद की सी चालन सों
ग्वालन लै लालन हमारी गली आइए।
पोखि पोखि प्रानन को सानन सहित इन
कानन को बाँसुरी की तानन सुनाइये॥
'हरिऔध' मोरि मोरि भौंहैं जोरि जोरि दृग
चोरि चोरि चितहूँ हमारो ललचाइए।
मजुल रदन वारो मुद के सदन वारो
मदन कदन वारो बदन दिखाइए।

हरिऔध जी के कृष्ण के क्रमिक विकास का अध्ययन करने मे यह चित्र सहायक होगा। हरिऔध जी की चितनशीलता ने आगे चलकर कृष्ण को पुरुषोत्तम रूपमे किस प्रकार अङ्कित किया है उसका हम आगे अध्ययन करेंगे। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि क्रमश बौद्धिक विकास और नवीन धारणाओ के फल स्वरूप हरिऔध जी ने कृष्ण को पूर्ण मानव के रूप मे देखा। उस मानव के रूप मे जो देश का, समाज का ढाँचा बदल देता है और क्रात दर्शी के रूप मे विश्व मे प्रतिष्ठित होता है।



****

'रसकलस' का कला पक्ष

प्राचीन आचार्यों ने लक्षण-ग्रन्थ की रचना के समय कला पक्ष पर अधिक बल दिया है और भाव पक्ष की ओर उनका ध्यान कम रहा है। इसके विपरीत हरिऔध जी ने अपने 'रस-कलस' में भाव पक्ष को अधिक प्रधानता दी है। स्वाभाविक रचना मे यदि अलकारो की योजना स्वाभाविक रीति से हो जाती है तो उससे काव्य का सौष्ठव द्विगुणित हो जाता है, परतु पाडित्य-प्रदर्शन के लिए यदि भाव पक्ष की अवहेलना कर, कला पक्ष को प्रधानता देकर, जब अलकारो की योजना की जाती है तब कविता आभूषणो से लदी युवती के समान स्वाभाविक सौंदर्य से भी वचित हो जाती है। न तो आभूषणो का सौंदर्य सुखकर रह जाता है और न उसके सौंदर्य का उचित रूप में अनुभव हो पाता है। 'रसकलस' की यह बडी महत्वपूर्ण विशेषता है कि लक्षण-ग्रथ होने पर भी उसकी रचनाओ की स्वाभाविकता कही विनष्ट नहीं हुई है। अलकारो के वात्याचक्र में फॅस कर हरिऔध जी ने केशवदास की तरह दिमागी कसरत करने का प्रयत्न नही किया है। 'रसकलस' के लोकप्रिय होने का एक यह भी कारण है।

'रसकलस' के पदो मे सगीतात्मकता है। भाव और भाषा की एकरूपता के कारण उसकी सगीतात्मकता हृदयस्पर्शी है। जब भाव और भाषा में सामञ्जस्य नही होता तब काव्य के रूप का उचित सतुलित विकास नही होता। भाव-हीन भाषा केवल शब्दो का वाग्जाल होगी और कला का रूप नही निखर सकेगा। ऐसी भाषा प्राणहीन शरीर के समान होगी। यदि भाव पक्ष निर्बल हुआ और भाषा प्रबल हुई तो 'अब्बर देवी जब्बर बकरा' वाली कहावत चरितार्थ होगी। परतु हरिऔध जी शब्द-शिल्पी ही नही भाव-शिल्पी भी रहे है। भाषा और भाव का तुलाधार समान रूप से एक ही स्तर पर रखने में वे सक्षम रहे। शब्दालकारो की योजना से भाषा सगीत और अर्थालकारो की योजना से भाव सगीत का जन्म होता है। क्रमश हम देखेंगे कि हरिऔध जी ने भाषा सगीत और भाव सगीत की उत्पत्ति के लिए साधनो का किस रूप में प्रयोग किया है।

शब्दालकार के कुछ उदाहरण देखिए —

श्लेष

या तिय नथ की बात कछु, कहत बनत है नाहिं।
मुकुत मिलेहूँ देखियत, फँसी नासिका माँहिं॥
तजि ममता निज बरन की मल परिहरि तन दाहि।
करि मुकुतन को सग नथ, नाक विराजत आहि॥
लोक बेद बिपरीत यह, रीति जकत चित जोय।
सुत सेवी मुकतन लखे, अतन उदै तन होय॥

अनुप्रास

उर में हिम सर सों लगत, सिहरत सकल सरीर।
सी सी कहि सिसकत न को, परसत सिसिर समीर॥

बरबस बिबस करै परे, निसि वासर नहिं चैन।
बिसराये हुँ बिसासिनी, तिय बेसर बिसरै न॥

यमक

बरदार बनति कुदारता निवारति है,
अनुदारता हूँ मै उदार दरसति है।
पर-पति पूत को स्वपति-पूत सम जानि,
पावन प्रतीति पूत पग परसति है।
'हरिऔध' परिवार हित नव-नीरज पै,
यिहित-सनेह बर बारि बरसति है।
अनरस हूँ मै रस-बात बिसरति नाहिं,
रसमयी बाल रोस हूँ मै सरसति है।

* * * *

निधरक जन सो है रहत, चूमत अधर रसाल।
बेसर मोती कत चलत, बेसरमो की चाल॥

अर्थालकारो से भी हरिऔध जी ने अपने भावो को प्रभावकर बनाया है। विशेषकर उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का उन्होने अधिक उपयोग किया है। उपर्युक्त तीनो अलकारो में उनकी कविताएँ बडी ओजपूर्ण और मधुर बन पडी है। कुछ उदाहरण देखिये —

उपमा

तुरत तिरोहित अपार उर तम होत,
पग नख तारक प्रगूत ज्योति परसे।
रुचिर विचार मजु सालि बहु बिलसत,
जन अनुकूलता विपुल बारि बरसे।

हरिऔध' सब रस-बलित बनत चित,
दयावान मन के सनेह साथ सरसे।
सकल अभाव, भाव, भूति, भव-भूति होति,
भारती बिभूति भूति मान मुख दर से।

रूपक

बैठी हुती मदिर मै कलित - कुरग - नैनी,
जाको लखि काम-कामिनी को मान किलिगो।
क्यों हूँ कढ्यो तहाँ आइ साँवरो छबीलो छैल,
जाको गान तानन ते ताके कान पिलिगो।
मुख खोलि उझकि झरोखे 'हरिऔध' झाँके,
लोक सुदरी को मजु रूप ऐसो खिलिगो।
नीलिमा गगन मै मगन ह्वै गयो कलक,
आनन उजास मै मयक बिंब मिलिगो।

सदेह

फूले हैं पलास कैधों दहकि दवारि लागी,
कूकै पिक कैधों कठ बधिक प्रवीन को।
उलही धरा पै लसी लतिका ललित कैधो,
जोहि जोहि जालन सो जकरयो जमीन को।
हरिऔध बाहत बिखीले बाँके बानन को,
कैधो विकस्यो है जूह कुसुम-कलीन को।
एरी बन बागन मे बगरयौ बसत कैधों,
पच बान खेलत सिकार बिरहीन को।

अपह्नुति

परि साँसति मैं सीत की हरति रहति है ऊब।
हरे हरे निज दलन मिस हरे हरे कवि दूब।

पदार्थावृत्ति

चोर चैन हर चारुता चोर रुचिर रुचि अक।
है चकोर-चित चोर जग-लोचन चोर मयक।

उपर्युक्त उदाहरण हरिऔध जी की भाषा और भाव सगीत का बोध कराने के लिए पर्याप्त है। 'हरिऔध' जी ने भी प्राचीन कवियो के समान कही कही बडी दूर की उडान ली है। कामिनी के कटीले नयन का दोष उनके सिर नही मढा जा सकता। इनके कटीले नयन का दोष तो कवियो का है क्योकि उन्होने कामिनी के नेत्रो की उपमा कटीले कमल और मीन से दी है। यही कारण है कि आज कामिनी के कटीले नयन रसिको के मन मे गडते है और टीस उत्पन्न करते है। हरिऔध जी कहते है —

किये कटीले कमल औ मीनन को उपमान।
निपट कटीली ह्वै गयी कामिनि की अँखियान॥

यह तो आँखो की बात रही। कामनी के नेत्रो मे काजल की जो रेख लगी है उसे देखकर कवि कितनी दूर की कौडी लाता है। कवि कहता है —

काजर रेख रखैन जी जारन वारी आँख।
काहु जी-जरे के जरे जी की है यह राख।

कवि कहता है, कामिनी की आँखो मे काजर की रेख नही है। कामिनी की आँखे जी को जलाने वाली है। उन्होने किसी का जी जला दिया है। उसी के जले हुए जी की जली हुई यह कारी रेख है। हरिऔध जी की इस प्रकार की उडान 'बिहारी' की कल्पनाओ का स्मरण दिलाती है, परतु 'रसकलस' में इस प्रकार की अद्भुत कल्पनाएँ इनी गिनी ही हैं।



****

'हरिऔध' जी का बाल-साहित्य

मानव-जीवन के क्रमिक विकास का प्रथम सोपान शैशवावस्था है। उसके बाद वह बाल्यावस्था मे पदार्पण करता है। जन्म से ५ वर्ष तक की शैशवावस्था में बच्चा बहुत कुछ माता पर आश्रित रहता है। धीरे-धीरे जब वह हाथ पैर चलाने लगता है तब उसके शारीरिक विकास के साथ ही बौद्धिक और मानसिक विकास होता है। शिशु तथा माता के अत्यत घनिष्ठ सबध को देखकर मनोवैज्ञानिको ने बडी ऊँची उडान ली और 'फ्रायड' तथा उनके अनुवर्ती कुछ मनोविश्लेषक आचार्यों ने उसे कामवासना की सज्ञा दी। उनका कहना है कि माता और पुत्र के इस घनिष्ठ सबध के पीछे कामवासना का प्राथमिक रूप छिपा है। वे और भी आगे बढ़े। उन्होने यहाँ तक कहा कि जब बच्चा माता का स्तन-पान करता है, जब माता के स्नेह के लिए आतुर रहता है, तब उसमें यौन भावना का अश रहता है। मनोविज्ञान के इन आचार्यों की बाते कहाँ तक सत्य हैं कहा नही जा सकता। परतु अन्य मनोविश्लेषण के आचार्यों ने इस प्रकार के विचारो का तीव्रता से खडन किया।

पढ़ने के लिए दिया जाय उनका मनोवैज्ञानिक रीति से परीक्षण कर लेना बडा आवश्यक है।

एक बात और है जिसका ध्यान रखना बडा आवश्यक है। युग के अनुरूप बच्चो के विकास की गति मे भी परिवर्तन होता रहता है। आज से ५० वर्ष पूर्व बच्चो के लिए जो साहित्य लिखा गया था वह वर्तमान समय के बच्चो के लिए उपयुक्त नही कहा जा सकता। व्यक्ति, समाज, देश और विश्व इस अवधि मे अनेक बातो मे आगे बढ़ा है। नयी विचारधारा, नयी रहन-सहन-प्रणाली का क्रमश विकास हो रहा है। बच्चो को इन सब का परिचय कराना आवश्यक होता है। अत समयानुकूल साहित्य का निर्माण ही बच्चो के लिए उपयुक्त होगा। बच्चो की क्या रुचि है इसके निर्णय का अधिकार भी उन्हे ही मिलना चाहिये। सभव है अपने बच्चे के लिए एक अभिभावक जिन पुस्तको अथवा जिस साहित्य का चुनाव करता है वह बच्चे को रुचिकर न हो।

शिक्षा के प्रचार के साथ ही बाल-साहित्य के निर्माण की ओर लोगो का ध्यान गया। सर्वोत्तम बाल-साहित्य का निर्माण गुजराती भाषा मे हुआ है। वहाँ बच्चो की अवस्था और रुचि के अनुकूल अनेक सचित्र पुस्तको का निर्माण हुआ। गुजरात मे बाल-साहित्य की रचना के लिए एक प्रकार से आन्दोलन चला। इस आन्दोलन के मुख्य व्यक्ति नाना भाई गिजु भाई तथा हर भाई थे। इन लोगो ने बाल-साहित्य-क्षेत्र मे बडा प्रशसनीय कार्य किया।

गिजु भाई ने तो बच्चो के लिए पुस्तकों का खजाना ही तैयार कर दिया। उन्होने बच्चो की रुचि के अनुरूप पौराणिक कथाओ के साथ ही लोक कथाओ और परियो की कहानियो की अनेक

बाल पोथियाँ लिखी। उन्होने प्राचीन वस्तुओ को इस रुचिकर ढग से लिखा कि वे बच्चो मे बडी लोक-प्रिय हुई। झवेरचन्द्र मेघाणी ने भी इसी प्रकार बाल-साहित्य की रचना मे योग दिया।

मराठी भाषा मे भी बाल साहित्य का सुन्दर विकास हुआ। वहाँ भी लोक जीवन और सस्कृति से सबध रखने वाली अनेक बाल-पोथियो की रचना हुई। इस क्षेत्र में सबसे अधिक लोक-प्रिय लेखक साने गुरु जी थे। साने गुरु जी महाराष्ट्र प्रान्त के सामाजिक कार्यकर्ता थे। अपने प्रान्त के बच्चो को धार्मिक और सास्कृतिक शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से उन्होने रामायण, महाभारत तथा पुराणो की अनेक घटनाओ के आधार पर कुछ ऐसी पुस्तके लिखी है जिनमे भारत के प्राचीन तथा अर्वाचीन महापुरुषो के जीवन वृत्तान्त है। मराठी मे बाल कविताओ का भी बडा सुन्दर सग्रह है। राजकवि यशवन्त नारायण गगाधर लिमये, भास्कर रामचन्द्र ताबे, गणेश हरि पाटिल आदि अनेक कवि है जिन्होंने मराठी बाल-साहित्य-भाडार को समृद्ध किया।

बॅगला का बाल-साहित्य गुजराती और मराठी के बाल-साहित्य से कुछ भिन्न है। बॅगला के बाल-साहित्य पर अग्रेजी साहित्य का बडा प्रभाव पडा है। अग्रेजी के ढग की वहाँ अनुवादित तथा मौलिक अनेक बाल साहित्य की पुस्तके प्रकाशित हुई। बॅगला के बाल साहित्य को कवीन्द्र रवीन्द्र की रचनाओ से बडी शक्ति प्राप्त हुई। कवीन्द्र ने बाल सुलभ रीति से सरल भाषा मे बच्चो के लिए अनेक पुस्तके और कविताएँ लिखी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पडित रमापति शुक्ल ने उनकी कुछ रचनाओ का हिन्दी में अत्यत सुन्दर अनुवाद भी किया है। रविन्द्रनाथ ठाकुर के अतिरिक्त अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, योगेन्द्र-

नाथ, सुकुमार राय आदि अनेक साहित्यिको ने बॅगला के बाल-साहित्य-निर्माण मे योग दिया।

बाल-साहित्य के उपर्युक्त विवेचन की इस लिए आवश्यकता पडी कि हम अन्य भाषाओ की तुलना में हिन्दी के बाल साहित्य का अध्ययन करे। हिन्दी मे बाल साहित्य का नितान्त अभाव रहा है। बीसवी शती के प्रारभ में तो यह क्षेत्र पूर्णत अछूता रहा। हिन्दी का कोई ऐसा प्राचीन कवि नही दीख पडता जिसने बाल साहित्य की रचना की हो। बालोपयोगी पुस्तको में या पत्र पत्रिकाओ मे यदा कदा कविताएँ दीख पडती थी। किसी कवि की बाल कविताएँ न तो पुस्तकाकार प्रकाशित हुई थी और न बाल कविताओ का कोई सग्रह ही प्रकाशित हुआ था।

हरिऔध जी हिन्दी साहित्य क्षेत्र मे सबसे पहले कवि है जिन्होने बच्चो की आवश्यकता का अनुभव किया और बच्चो के लिए बाल कविताएँ लिखी। बच्चो के लिए जो कविताएँ उन्होने लिखी वे बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित हुई है और वे बच्चो के मनोविज्ञान सबधी आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं। बच्चो की बुद्धि विकसित नही होती। उनकी धारणा शक्ति भी क्षणिक होती है। उनके लिए ऐसी छोटी छोटी कविताओ की आवश्यकता होती है जिन्हे वे बार बार पढ सकें और पढने में आनद का अनुभव कर सके। कविताओ के शब्द ऐसे होने चाहिये जिन्हे बच्चे समझ सके। यदि कविता के समझने में बच्चे को बुद्धि लगानी पडी या कविता अधिक लम्बी हुई तो बच्चे ऊब जाते हैं और उनके प्रति आकर्षण नही रह जाता।

हरिऔध जी की कविताओ मे साधारणतया ये सब विशेषताएँ मिलती है। उन्होने बच्चो के लिए जिन कविताओ की रचना

की है उनका अवस्था के अनुसार विभाजन किया जा सकता है। पॉच, छ वर्ष के बच्चो के लिए उन्होने ऐसी कविताऍ लिखी है जिनमे जानवरो की बोलियो का वर्णन है या ऐसी वस्तुओ का वर्णन है जिन्हे बच्चे बहुत चाहते है। इस अवस्था के उपयुक्त बच्चो के लिए लिखी गयी हरिऔध जी की एक कविता देखिये —

चो चीं ची ची चिड़िया बोले,
भन भन भन भन भँवरा।
कू कू कू कू कोयल बोलै,
पी पी पी पपीहरा।
मीठी बोली मैना बोलै,
सीटी देता सूआ।
तरह तरह की बोली बोलै,
तेरा काकातूआ।
तू ही तू ही तूती बोलै,
बजती है पिपिहरी।
कुकड़ूँकूँ यह मुरगा बोलै,
टि ट्टी टी टिटीहरी।
गुटर गूँ कबूतर बोलै,
काँ काँ काँ काँ कौआ।
किलक किलक कर लाला बोलै,
हू हू हू हू हौआ।

जब बच्चे छ सात वर्ष के हो जाते हैं तब उन्हे बदर, तितली, रेल, कोयल आदि वस्तुओ में आकर्षण होने लगता है। बच्चे बदर का नाच बडी तन्मयता से देखते हैं और मदारी का डमरू

सुनते ही अपना काम-काज छोड कर बदर की करामात देखने लगते हैं। हरिऔध जी के मदारी को बदर नचाते देखिये —

देखो लड़को बदर आया।
एक मदारी उसको लाया॥
कुछ है उसका ढग निराला।
कानों में है उसके बाला॥

फटे पुराने रग बिरगे।
कपडे उसके हैं बेढगे॥
मुँह डरावना आँखें छोटी।
लम्बी दुम थोड़ी सी मोटी॥

भवें कभी वह है मटकाता।
आँखों को है कभी नचाता॥
ऐसा कभी किलकिलाता है।
जैसे अभी काट खाता है॥

दाँतों को है कभी दिखाता।
कूद फाँद है कभी मचाता॥
कभी घुडकता है मुँह बाकर।
सब लोगो को बहुत डराकर॥

कभी छडी लेकर है चलता।
है वह यो ही कभी मचलता॥
है सलाम को हाथ उठाता।
पेट लेटकर है दिखलाता॥

ठुमुक ठुमुक कर कभी नाचता।
कभी कभी है टके माँगता॥

सिखलाता है उसे मदारी।
जो जो बातें बारी बारी॥
वे सब बातें वह करता है।
सदा उसी का दम भरता है॥

यहाँ तक तो कवि ने बन्दर के तमाशे का बडा सजीव वर्णन किया। उसके बाद कवि बच्चो से कुछ काम की बात भी कहना चाहता है। खेल खेल मे शिक्षा की अनेक बाते बच्चे सीख जाते है। कवि भी उन्हे ठीक मार्ग पर चलने की बात कहता है और यह बतलाता है कि यदि पशु अच्छी बातें सीख सकता है तो तुम तो मनुष्य के बच्चे हो, तुम्हे तो और भी शीघ्रता से अच्छी बाते सीखनी चाहिये। कवि बच्चो को सबोधित करते आगे बढता है—

देखो बदर सिखलाने से।
कहने सुनने समझाने से॥
बातें बहुत सीख जाता है।
कई काम कर दिखलाता है॥
फिर लडको तुम मन देने पर।
भला क्या नही सकते हो कर॥
बनो आदमी तुम पढ लिख कर।
नही एक तुम भी हो बदर॥

कवि की दृष्टि बडी सूक्ष्म है। वह संसार की साधारण से साधारण वस्तु की अवहेलना न करने की शिक्षा देता है। एक तिनका जिसे हम नगण्य समझते है वह हमे कितना कष्ट दे सकता है इसे देखिये—

मै घमडों में भरा ऐंठा हुआ।
एक दिन जब था मुँडेरे पर खडा॥

आ अचानक दूर से उड़ता हुआ।
एक तिनका आँख में मेरी पड़ा॥
मै झिझक उठा हुआ बेचैन सा।
लाल होकर आँख भी दुखने लगी।
मूँठ देने लोग कपड़े की लगे।
ऐंठ बेचारी दबे पाँवों भगी॥
जब किसी ढब से निकल तिनका गया।
तब समझ ने यों मुझे ताने दिये॥
ऐंठता तू किस लिए इतना रहा।
एक तिनका है बहुत तेरे लिए॥

बच्चे बगीचो मे उडने वाली तितलियो, जुगनुओ को देखकर उनकी ओर दौडते है ओर उन्हे पकडकर खेलते है। बच्चो का यह खेल उन बेचारे जतुओ के लिए पीडा का विषय बन जाता है। अनेक तितलियॉ और जुगनू अपनी जान से हाथ धो बैठते है। हरिऔध जी जुगनू के कष्ट को न सह सके, उनका हृदय उनके पक्ष में कह उठा—

लो पकड़ लडको जुगनुओं को न तुम।
हाथ में पड है मुसीबत झेलते॥
खेलते तुम लोग अपना खेल हो।
वे विचारे जान पर है खेलते॥
तग लडको जुगनुओं को मत करो।
ये तुम्हें अपना समझते काल है॥
सोच लो तुम हो किसी के लाल तो।
रात के गोदी भरे ये लाल हैं॥

दस ग्यारह वर्ष के बच्चो के लिए ये उपर्युक्त कविताएँ कितनी उपयुक्त है इसका परीक्षण किया जा सकता है। सबसे बडी विशेषता यह है कि इन कविताओ मे क्लिष्ट शब्दो को पास भी फटकने नही दिया गया है। हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में हरिऔध जी की अनुपम प्रतिभा की यह सर्वोपरि विशेषता रही है कि कवि सरल से सरल और कठिन से कठिन भाषा लिख सकने की क्षमता रखता था। हरिऔध जी हिन्दी-साहित्य क्षेत्र मे बाल-साहित्य के जनक है। उनका यह प्रयोग भी सफल हुआ और उनके उपरान्त इस क्षेत्र मे कार्य करने के लिए अनेक कवि और लेखक आये। कुछ ही कवि ऐसे है जो बच्चो के उपयुक्त भाव और भाषा का उस रूप मे प्रयोग कर सकने मे सफल हुए है जिस रूप मे हरिऔध जी सफल हुए।



तृतीय खण्ड

(खड़ी बोली का आदि प्रबंध काव्य)

****

'प्रियप्रवास' के पूर्व देश काल की स्थिति

भारतेन्दु हरिश्चन्द का काल हिन्दी-साहित्य का सधि-काल है। इस काल में कवियो की एक दृष्टि मध्य कालीन कला प्रधान साहित्य पर थी और दूसरी दृष्टि नवीन युग द्वारा उत्पन्न परिस्थितियो पर थी। कलावादियो ने साहित्य-सरिता के जल को अपनी बुद्धि और भावना के बॉध से ऐसा बॉधा कि वह जल स्थिर हो गया और सडने लगा। बौद्धिक व्यायाम जन्य कविता निष्प्राण थी। वाह्याडबर में बडा चाक चिक्य था परतु कविता का अन्तर रस-हीन हो चला था। नायक-नायिकाएँ, उनके सयोग-वियोग के ऊहात्मक हास्यास्पद वर्णन ही कविता के प्रमुख विषय बन गये थे। भाषा सगीत की वेदी पर भाव सगीत का बलिदान चढाया जा रहा था। शृगार रस का प्राधान्य था। अन्य रसो की ओर कोई दृष्टि उठाकर न देखता था। राधा कृष्ण का वात्सल्य पूर्ण अलौकिक रूप रसिया कन्हैया और उनकी सहचरी के रूप मे परिवर्तित हो चुका था। लौकिक वासना तीव्रतम हो चली थी। प्रकृति का उपयोग भी नायक नायिकाओ के भावो को उद्दीप्त करने के लिए किया जा रहा था। कहने का तात्पर्य यह है कि कविता एक घेरे मे इस प्रकार बदी बनायी जा चुकी

थी कि उसका दम घुट रहा था और वह इस धन से मुक्त हो कर स्वतत्र होना चाहती थी।

उपर्युक्त स्थिति अधिक दिनो तक नही चल सकती थी। प्रतिक्रिया वादी शक्तियो ने सिर उठाया। इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नवीन काव्य-चेतना जागृत हुई। इस चेतना के प्राण भारतेन्दु बाबू थे। वे प्रकाश की शिखा लेकर आगे बढे। उनके प्रयत्नो ने साहित्य मे नवजीवन का सचार किया। अग्रेजो का प्रभुत्व पूर्ण रूप से भारत पर स्थापित हो चुका था। सन् १८५७ की क्राति भारतीय हृदय के असतोष का प्रतीक थी। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि यह असतोष कुछ भयकर उथल पुथल करेगा परन्तु राजनीतिक क्रान्ति सफल न हो सकी। हाँ, महारानी विक्टोरिया की घोषणाओ ने असतोष शात करने का प्रयत्न किया था। इसके कारण कही कही राज्य-भक्ति के लक्षण प्रकट होने लगे थे। परतु आश्वासनो का फल न मिलने के कारण ही राजनीतिक क्राति हुई। इस क्रान्ति ने कविता के लिए नवीन मार्ग प्रशस्त किया। भारतेन्दु युग सन् १८६८ से लेकर सन् १८९३ तक माना जाता है। राज्य-भक्ति की कविताओ के साथ ही देश-भक्ति की कविताएँ इस युग में लिखी जाती रहीं। दोनो प्रकार की कविताओ के दर्शन उस युग मे होते हैं। भारतेन्दु बाबू पहले कवि हैं जिन्होने देशभक्ति की ओर कवियो का ध्यान आकर्षित किया। उन्होने कुछ देश-भक्ति-सबधी कविताएँ लिखी जिनमे प्राचीन गौरव का गुण-गान था और वर्तमान काल के प्रति दुख प्रकट किया गया था। देश की गिरती दशा को देखकर उनका हृदय कभी कभी रो उठता था।

विदेशी सभ्यता का प्रभाव भारतीयो के रहन-सहन पर भी

पडा। भारतीय, विदेशी वेश-भूषा अपनाने लगे। अंग्रेजो की नकल करने वाले उपहास की वस्तु होने लगे। यही कारण था कि भारतेन्दु जी के नाटको में इन काले साहबों को सदा विदूषको का कार्य करना पडता था। कहीं कहीं देश की दुर्दशा पर आँसू बहाते समय कवि अंग्रेजो से देश की स्थिति सुधारने की भी प्रार्थना करता है। परतु साथ ही उसे यह ज्ञात था कि इस प्रकार की आशाएँ मिथ्या है। देश की दुर्दशा देख कर जब कुछ लोग आँसू बहाने लगे तब अपनी आन्तरिक बुराइयो पर भी ध्यान गया। समाज मे फैली कुरीतियो की ओर भी लोगो ने ध्यान दिया। बाल विवाह, विधवा-विवाह छूत छात आदि विषय भी कविता के नाटको के विषय हो गये। कुछ कवियो ने शुद्ध प्रकृति-चित्रण की ओर भी ध्यान दिया।

कहने का तात्पर्य यह ह कि भारतेन्दु-युग मे काव्य-क्षेत्र का विस्तार हुआ। सकीर्ण क्षेत्र से निकलकर कविता उन्मुक्त होकर बाहर आई। राज्य-भक्ति, देश-भक्ति, समाज-सुधार और कुरीतियो की भर्त्सना सबधी विषयो की लोक-प्रियता बढने लगी। परतु इस विवेचन का यह अर्थ कदापि न लेना चाहिये कि शृगार रस की कविताओ की समाप्ति हो चुकी थी। रीति कालीन काव्य की रस-धारा मद ता पड गयी परन्तु पूर्ण शुष्क नही हुई थी। अभी वह नवीन भावनाओ के साथ साथ चल रही थी। भारतेन्दु बाबू ने स्वत राधा-कृष्ण सबधी रीति कालीन ढर्रे पर अनेक कविताएँ लिखी और उनके साथी भी इस कार्य मे योग देते थे। समस्या-पूर्ति के तो कई अखाडे निर्मित थे। काशी, निजामाबाद और पटना ये तीन मुख्य केन्द्र थे।

भारतेन्दु युग की काव्य-भाषा ब्रज भाषा ही थी। यत्र तत्र

ब्रज भाषा मिश्रित या पडिताऊ हिन्दी मिश्रित खडी बोली की रचनाएँ भी दीख पडती है परन्तु इस प्रकार की रचनाओ की सख्या नगण्य थी। रचना शैली मे भी परिवर्तन हो गया था। जहाँ पहले कविता कवित्त और सवैयो तक सीमित हो गयी थी वहाँ अब उर्दू की गजलो की भरमार हुई। लावनियाँ लिखी जाने लगी। इन सब शैलियो का प्रयोग भारतेन्दु जी ने स्वत प्रारभ किया।

भारतेन्दु युग में जिन भावो, शैलियो और विचारो का बीजारोपण किया गया था उनका प्रस्फुरण और विकास द्विवेदी युग में हुआ। द्विवेदी युग की अपना कोई खास विशेषता नही ह। द्विवेदी युग एक प्रकार से भारतेन्दु युग की शैली, विचार और भावना का विकास युग कहा जा सकता है। अवश्य ही द्विवेदी जी की दृढता ने, उनकी सयम-शीलता और अकुश ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो को पुष्टि प्रदान की।

यह तो साहित्य-क्षेत्र मे परिवर्तन का सिहावलोकन हुआ। इसी समय सन् १८७५ मे स्वामी दयानन्द जी ने आर्यसमाज की स्थापना की। इस सस्था ने धार्मिक क्षेत्र मे हलचल मचा दी। वैष्णव धर्म की विचारधारा पर भी इसका प्रभाव पडा। यहाँ तक कि 'राधा रानी के गुलाम' भारतेन्दु जी पर भी उसका कुछ प्रभाव पडा। स्वामी दयानन्द जी क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उन्होंने बडी तीव्रता से मूर्ति-पूजा और अवतारवाद का खडन किया। उनके इस प्रचार का बडा प्रभावशाली परिणाम हुआ। स्वामी जी ने राम, कृष्ण को अपने युग का महापुरुष कहा। उनमें किसी प्रकार की अलौकिकता वे मानने को तैयार न थे। नव-युवकों और नवीन शिक्षा से प्रभावित व्यक्तियो पर स्वामी जी

के विचार का बडा प्रभाव पडा। साहित्य तथा काव्य में भी ये भावनाएँ प्रतिविम्बित होने लगी। इधर धार्मिक क्षेत्र मे स्वामी जी का प्रभाव बढ रहा था उधर सामाजिक क्षेत्र मे राजा राममोहन राय अपना ब्रह्म-समाज ले कर उपस्थित हुए। ब्रह्म-समाज ने बग-देशीय जन-जीवन पर बडा प्रभाव डाला। अधविश्वासो, सामाजिक कुरीतियो और रूढ़ियो का मूलोच्छेदन करने के लिए यह समाज कटिबद्ध हो गया। भावना और हृदय पक्ष की वस्तुएँ बुद्धि की तुला पर तौली जाने लगी। सामाजिक बधन छिन्न भिन्न होने लगे।

भारतेन्दु जी की मृत्यु के एक वर्ष बाद अर्थात् सन् १८८५ में जनजीवन मे चेतना उत्पन्न करने के लिए एक और घटना घटी। इसी वर्ष 'अखिल भारतीय काग्रेस' की स्थापना हुई। इस सस्था ने देश-भक्ति की धारा मे जीवन सचार किया और वह द्रुतगति से आगे बढी। महात्मा गाधी जी ने काग्रेस मे प्राण का सचार किया ओर देश-भक्ति की धारा अनेक उपधाराओ मे विभक्त होकर बडी तीव्र गति से आगे बढ चली। देश में देश भक्ति और जन कल्याण की लहर प्रवाहित हुई।

देश-भक्ति की लहर से अग्रेजो का चोकना स्वाभाविक था। उन्होने अपने शासन-यत्र को अत्यत कठोर करना प्रारभ किया। दुर्भाग्य की घडी समीप आती गयी। एक ओर देश को पूर्णत विदेशी रग मे रँगे जाने का प्रयत्न किया जाने लगा दूसरी ओर लोग इस दासता से मुक्त होने का यत्न करने लगे। अग्रेजी शिक्षा ने अपनी भाषा को, अपनी सभ्यता को घृणा की दृष्टि से देखने का वरदान दिया। लोग हिन्दी की हँसी उडाने लगे। 'भाखा' कह कर उसकी खिल्ली उड़ाई जाने लगी। यह सत्य है कि भारतेन्दु युग में भाव

पक्ष पर अवश्य ध्यान दिया गया। विचार की नयी दिशाये भी प्रारभ हो गयी परतु भाषा पर ध्यान नही दिया गया। भाषा का रूप अत्यन्त अव्यवस्थित था। उसका व्याकरण-सम्मत रूप अभी निश्चित नही हुआ था। इस अव्यवस्था के कारण अग्रेजी पढे लिखे साहबो को कठिनाई होती थी। सस्कृत के पडित लोग तो उसके व्याकरण की अव्यवस्था देख कर उसे भाषा की सज्ञा प्रदान करने मे सकोच करते थे।

परतु भाषा का यह अस्थिर रूप बहुत दिनो नही चला। सन् १८९३ मे डाक्टर श्यामसुन्दरदास और पडित रामनारायण जी मिश्र आदि के प्रयत्नो से 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई। उस समय हिन्दी के प्रति युवको की चेतना जागृत हो चली थी। निदान 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन प्रारभ किया। कुछ दिनो तक तो उसका कार्य साधारण रूप मे ही चलता रहा परतु जब आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने उसका सम्पादन-भार अपने हाथो मे लिया तब उसने हिन्दी जगत की अनुपम सेवा की। द्विवेदी जी शुद्ध भाषा के पक्षपाती थे। वे स्वत अथक परिश्रम कर आदर्श भाषा का रूप निश्चित करने के लिए जुट गये। द्विवेदी जी ने व्याकरण की अशुद्धियो पर ध्यान दिया, उन्हे दूर किया और भाषा का व्यवस्थित रूप निश्चित किया।

द्विवेदी जी सस्कृत भाषा के मर्मज्ञ थे। उन्हे मराठी साहित्य का भी अच्छा ज्ञान था। मराठी भाषा ने उन्हे अपनी भाषा का सुधार करने की प्रेरणा दी। मराठी साहित्य मे सस्कृत के वर्ण-वृत्तो की प्रधानता है। अधिकतर वहाँ इतिवृत्तात्मक साहित्य का प्रचार था। स्वभावत द्विवेदी जी पर भी इसका प्रभाव पड़ा।

दूसरी बात यह है कि अब तक गद्य के लिए मिश्रित खडी बोली का प्रयोग होता था और पद्य की रचना मे अधिकतर लोग ब्रज भाषा का उपयोग करते थे। द्विवेदी जी ने यह निश्चय किया कि गद्य और पद्य दोनो के लिए ही जनता द्वारा बोली जाने वाली बोली—खडी बोली—का उपयोग किया जाय। खडी बोली का प्रचार द्विवेदी जी के सत्प्रयत्नो से बडी तीव्र गति से बढा। लोगो की सरल बोल-चाल की भाषा मे साहित्य रचना होने लगी अत काव्य-क्षेत्र मे इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य हो गया।

भारतेन्दु युग मे देश-भक्ति की धारा जो मद गति से प्रवाहित हुई थी वह अग्रेजो को अत्याचारो के कारण वेगवती हुई। विदेशियो के शासन पर किसी को आस्था न रह गयी। गाधी-वादी विचार-धारा ने तो राज्य-भक्ति की भावना को निष्प्राण कर दिया। यदि कोई इस भावना को व्यक्त करने के लिए आगे बढता था तो अगल-बगल झॉक लेता था। देश-भक्ति-सबधी रचनाओ का प्राबल्य हुआ। कवि प्रत्यक्ष रूप से विदेशी सत्ता समाप्त करने के लिए ललकारने लगे। गॉधी-विचार-धारा के कारण साहित्य क्षेत्र मे अहिसा और सत्य का भी उल्लेख होने लगा। कवि की रचनाओ पर युग का प्रतिविम्ब पडता ही है। कवियो की वाणी भी मुक्तकठ से गाधीवादी विचार-धारा का समर्थन करने लगी।

आचार्य द्विवेदी जी के समय हिन्दी साहित्य क्षेत्र मे विभिन्न शैलियॉ प्रचलित थी। हिन्दी के मात्रिक छन्द, उर्दू बह्र और सस्कृत वर्णवृत्तो का पर्याप्त रूप में प्रचार था। इन सब शैलियो मे कविताएँ लिखी जा रही थी। इन्ही दिनो 'काशी नागरी प्रचारणी' के गृह प्रवेशोत्सव के समय हरिऔध जी ने उर्दू बह्र मे लिखी हुई

अपनी एक कविता पढी थी जिसकी चार पक्तियॉ निम्नलिखित हैं —

'चार डग हमने भरे तो क्या किया ।
है पडा मैदान कोसों का अभी ॥
मौलवी ऐसा न होगा एक भी ।
खूब उर्दू जो न होवे जानता ॥'

हरिऔध जी द्विवेदी जी के समय में खडी बोली की ओर झुके। इसके पूर्व वे ब्रज भाषा क्षेत्र मे अपना स्थान बना चुके थे। गद्य के भी उनके कुछ ग्रन्थ तब तक प्रकाशित हो चुके थे। द्विवेदी जी ने जब सस्कृत वर्णवृत्तो मे कविता लिखने की बात कही ओर इस पर बहुत बल दिया तब अनेक लोग सस्कृत-वृत्तो में कविता लिखने लगे। सस्कृत-वर्णवृत्तो मे दो चार कविताएँ लिख लेना सरल था परतु किसी ने इन वृत्तो से प्रबध काव्य लिखने की कल्पना न की थी। इसका प्रधान कारण यह था कि सस्कृत-वृत्तो मे अधिक रचना कर सकना बडा कठिन है। इस कठिनता के होते हुए भी सस्कृत-वृत्तो मे प्रबन्ध काव्य लेकर हरिऔध जी जनता के सम्मुख उपस्थित हुए। यह एक बहुत बडो बात थी। इस दृष्टि से हरिऔध जी की रचनाएँ द्विवेदी जी के समय की रचनाओ से पृथक् दीख पडती है। दूसरी बात यह है कि हरिऔध जी ने वर्णवृत्तो का अपने ढग से उपयोग किया। उनकी अपनी शैली थी और उनकी रचना का अपना एक निराला ढग था। इस विशेषता के कारण भी वे द्विवेदी काल के कवियो से पूर्णत भिन्न दीख पडते है।

'सस्कारों की पृष्ठ-भूमि' के अन्तर्गत हम यह स्पष्ट कर चुके है कि किस प्रकार हरिऔध जी की ईश्वर-सबधी भावनाओ में परिवर्तन हुआ और वे भावुकता से अधिक बुद्धि को किस प्रकार

महत्व देने लगे। निस्सदेह तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक क्रान्तियो ने भी अव्यक्त रूप से उन पर प्रभाव डाला। हरिऔध जी लोक-सग्रही व्यक्ति थे। लोक-मगल की भावना उनके जीवन का मूल मत्र थी अत ईश्वर-सबधी भावना में परिवर्तन होने के कारण यह लोक-सग्रह की भावना और अधिक उद्दीप्त हो उठी। यही कारण है कि राधा और कृष्ण का वे लोक-कल्याणकारी चित्र लेकर जनता के सम्मुख आये। उनके कृष्ण न तो भक्ति काल के कृष्ण थे और न रीति काल के। 'प्रियप्रवास' मे हरिऔध जी राधा और कृष्ण के लौकिक रूप का दर्शन कराते हैं। हरिऔध के राधा-कृष्ण, देश, समाज और जाति के सेवक-सेविका के रूप मे जनता की सेवा का व्रत लेते है। देश की विषम राजनीतिक परिस्थिति देखकर वे उसके उद्धार के लिए, उसे रक्त पात से बचाने के लिए, प्रणय बधन तोड कर सघर्ष के बीच कूद पडते है। उनकी प्रेयसी राधा उनके वियोग में कराहती और करवटें नही बदलती रहतीं। वे अपने स्नेही के उद्देश्य को आगे बढाने के लिए कमर कस कर लोक और समाज-सेविका के रूप मे ससार के बीच कार्य-रत होती है। इस प्रकार हरिऔध जी पर उस समय की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियो का प्रभाव पडा।

प्रत्यक्ष रूप से वे देश के आन्दोलनो में योग न दे सकते थे अत उन्होने अपने सन्देश और अपने नायक-नायिका के [illegible] से नवयुवको मे देश-भक्ति का सचार किया। उन्होने कृष्ण का जो देश-सेवक रूप चित्रित किया है वह गाधी जी की कर्मठता से बहुत कुछ मिलता है। हरिऔध जी किन कारणो से प्रत्यक्ष रूप मे राजनीतिक क्षेत्र मे क्यो नही आये इसके सबध मे लिखा

जा चुका है। परतु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उनमें देश-सेवा कि सच्ची भावना और लगन थी।

एक बात और महत्व की है जिस पर हमे ध्यान देना चाहिये। हरिऔध जी के समय देश-भक्ति की भावना पूर्ण रूप से विकसित न हो पायी थी। अधिकतर लोग जाति-सेवा और समाज-सेवा को ही प्रमुखता प्रदान करते थे। द्विवेदी जी के समय की अधिकतर रचनाएँ जाति और समाज के उत्थान से ही सबध रखनेवाली थी। देश भक्ति की भावना का प्राबल्य तो द्विवेदी युग के बाद की वस्तु है। अधिकतर कवि उस समय हिन्दू समाज और जाति की हीनावस्था पर आँसू बहाते दिखाई पडते है। जब हम भावना क्षेत्र के इस स्तर का ध्यान रख कर हरिऔध जी पर विचार करते है तब यह अनुभव करते है कि हरिऔध जी ने देश-सेवा सबधी जो आदर्श जनता के सम्मुख रखा वह साधारण नही है।



****

'प्रियप्रवास' का वृत्त

हरिऔध जी की पत्नी का देहान्त लगभग सन् १९०५ में हुआ। उसके उपरान्त वे भयकर रूप से रोग-ग्रस्त हुए। लगभग एक, डेढ वर्ष तक वे अस्वस्थ रहे। उनके जीवन का दृष्टिकोण पत्नी के देहान्त के बाद किस प्रकार बदला इसके सबध में 'व्यक्ति' खड में विचार किया जा चुका है। हृदय मे करुणा का जो सस्कार था वह चित्त शात होने पर उद्वेलित हुआ। वे किसी ऐसे इतिवृत्त की ओर झुक रहे थे जो उनके हृदय की करुणा को शाति प्रदान करे और उनकी स्नेहमयी भावनाएँ मूर्त हो सकें। निदान उनका ध्यान राधा-कृष्ण की ओर गया। राधा-कृष्ण का सास्कारिक प्रभाव तो उन पर था ही। परतु जीवन के अनुभव और अध्ययन ने कृष्ण के सस्कार-जन्य चित्र को धुँधला कर दिया और उस चित्र की पीठिका पर राधा-कृष्ण का नवीनतम चित्र विकसित हुआ।

हरिऔध जी का 'प्रियप्रवास' राधा-कृष्ण के उसी नवीनतम

चित्र और चरित्र का वर्णन करता है। १५ अक्टूबर सन् १९०८ को हरिऔध जी ने प्रियप्रवास की रचना आरम्भ की। लगभग ५ वर्ष की गहन तपस्या के उपरान्त २४ फरवरी सन १९१३ में इसकी रचना समाप्त हुई। खड्गविलास प्रेस पटना से सन् १९१४ मे उसका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। 'प्रियप्रवास' मे सत्रह सर्ग है। इस ग्रथ मे राधा-कृष्ण के लोक-सग्रही रूप का चित्रण है। कृष्ण एक उच्च कुलीन समाज सेवी व्यक्ति के रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित होते है। समाज सेवा के लिए वे अपनी जन्म-भूमि अभिन्न मित्रो, साथ मे खेली हुई गोपिकाओ, परिजन और पुरजनो को त्याग कर मथुरा चले जाते है। वे दुष्टो के नाश मे लग जाते है। वे दिन-रात इसी चिता मे मग्न रहते है कि देश का किस प्रकार उद्धार किया जाय। वे मथुरा आकर इतने व्यस्त हो जाते है कि कुछ ही मील दूर रहने वाले अपने सबंधियो और स्नेहियो का दर्शन तक नहीं कर पाते।

'प्रियप्रवास' की सम्पूर्ण कथा १७ सर्गो मे विभक्त है। सुविधा की दृष्टि से हम प्रत्येक सर्ग की कथा का सक्षेप मे परिचय देगे।

प्रथम सर्ग—प्रियप्रवास का प्रथम सर्ग दिवसावसान से प्रारभ होता है। कृष्ण की ध्वनिमयी मुरली के रव से दिग्-दिगन्त गूँज उठा। गोधूलि वेला है। गोपो की मडली कृष्ण के समीप आ पहुँची और कृष्ण गोप-मडली के साथ अत्यत उत्साह से घर की ओर चल पड़े। कृष्ण की रूप माधुरी का रसास्वादन करने के लिए समस्त गोकुल ग्राम लालायित रहता है। उनके आगमन का समाचार सुनकर गोकुल ग्राम उत्फुल्ल हो उठा। इस समय ब्रज के लोग अत्यन्त सुखी है और उनका जीवन असीम उल्लासपूर्ण है।

द्वितीय सर्ग—दो घड़ी रात बीत चुकी है। गगन-मंडल तारक मालिका से सुसज्जित है। सरस वाद्य और गान के रस में व्रज की जनता सिक्त हो आनन्द से विभोर हो रही है। गोकुल ग्राम गायन-वादन की ध्वनि से ध्वनित हो उठा है। जिस समय व्रज की सारी जनता रस-मग्न थी उसी समय रंग में भंग उपस्थित करने के लिए विघोषक के ढिंढोरे की ध्वनि के साथ यह घोषणा हुई कि व्रजाधिप को धनुष-यज्ञ अवलोकन के लिए कंस ने पुत्रों सहित निमंत्रित किया है। गोकुल के लोग घोषणा सुनकर स्तब्ध रह जाते हैं। दुःख से उनका हृदय बैठ जाता है। भावी कृष्ण-वियोग का स्मरण कर वे कृष्ण के गुणों और उनके महान कार्यों का स्मरण करने लगते हैं। इसी प्रसंग में पूतना-वध, तृणावर्त की क्रिया के विस्तृत वर्णन के साथ शकटासुर, यमलार्जुन, बकासुर, अघासुर, केशी, प्रलम्बासुर, वत्सासुर, व्योमासुर के नामों का भी उल्लेख मिलता है।

तृतीय सर्ग—कृष्ण के प्रयाण का समाचार सुनकर सम्पूर्ण व्रज-मंडल दुःख में निमज्जित हो उठा। प्रकृति प्रलय-काल के समान स्तब्ध है। रात की भयंकरता हृदय-विदारक हो रही है। कृष्ण के प्रयाण की व्यवस्था हो रही है। लोग वस्तुएँ आदि गाड़ियों पर लाद रहे हैं। उनके स्वर से ही कभी कभी नीरवता भंग हो जाती है। व्रज-वासियों और यशोदा जी की हार्दिक वेदना का मर्मस्पर्शी चित्र पाठक के सम्मुख आता है।

चतुर्थ सर्ग—इस सर्ग में कवि श्रीमती राधा के वंश का परिचय प्रस्तुत करता है। श्रीमती राधा के रूप, लावण्य, राधा-कृष्ण की बाल-क्रीड़ा और कृष्ण के मथुरा चले जाने की स्मृति के कारण राधा की चित्तवृत्ति का मर्मस्पर्शी वर्णन है।

पंचम सर्ग—रात्रि बीती। प्रात काल हुआ। परन्तु आज ब्रज की बडी ही दयनीय दशा है। उसकी शोभा विलुप्त हो गयी है। प्रात काल होने के पूर्व ही ब्रज तथा पार्श्व के ग्रामो के लोग ब्रज-भूप नन्द के द्वार पर एकत्र होने लगते है। जनता की हृदय-वेदना उमडी पड़ रही है। बूढ़े-बच्चे, नर-नारी सब आकठ शोक में निमग्न है। माता यशोदा का तो रोम-रोम रुदन कर रहा है। वे बावली हो रही है। माता के हृदय का वात्सल्य-पूर्ण करुण-दृश्य सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

षष्ठ सर्ग—कृष्ण को मथुरा गये कई दिन व्यतीत हो गये। ब्रज के निवासी बडी उत्कठा से उनके प्रत्यावर्तन की प्रतीक्षा कर रहे है। यशोदा माता अत्यत उद्वेलित और उत्कठित होकर कृष्ण की बाट जोहती हैं। उनकी दशा विचित्र हो गयी है। वे अपने लाडिले के वियोग मे विकल हो रही है। उनके लिए अनेक प्रकार के व्यजन एकत्र कर रखती है और कृष्ण के न आने पर दु खी हो उसे बॉट देती है। श्रीमती राधा का सयत वियोगिनी रूप सम्मुख आता है। उनके द्वारा भेजी गयी पवन-दूती का बडा मार्मिक चित्र सम्मुख आता है।

सप्तम सर्ग—वह दिन भी आया जब नन्द जी कृष्ण को मथुरा में ही छोड़ कर ब्रज लौट आये। उनको अकेला लौटा देखकर श्रीमती यशोदा का धैर्य छूट गया। उनका मातृ-हृदय हाहाकार कर उठा। वे विलाप करती करती अचेत हो गयीं। उनके विलाप से पत्थर का हृदय भी पसीज उठता है।

अष्टम सर्ग—कृष्ण के मथुरा जाने का क्या रहस्य था यह धीरे धीरे उस गोप-मडली द्वारा प्रकट होने लगा जो उनके साथ

मथुरा गयी थी। गोकुल-ग्राम ओर ब्रज के लोगो के लिए कृष्ण स्नेह की मूर्ति थे। ग्वाले, टोलियो मे इतस्तत बैठ कर उनका गुण-गान करते है। कही एक गोप-मडली उनके जन्मोत्सव-वृत्तान्त का गायन कर रही है और कही स्त्रियॉ कृष्ण की बाल-लीला का मनोहारी वर्णन कर रही है। चारो ओर यह भी बात फैल रही है कि वास्तव मे कृष्ण वसुदेव जी के ही पुत्र है।

नवम सर्ग—ब्रजदेव मथुरा में अत्यधिक कार्य-व्यस्त रहते है, परन्तु ब्रज की स्मृति कभी कभी उन्हे उद्विग्न कर देती है। एक दिन उनकी यह तीव्र उद्विग्नता असह्य हो गयी। उन्होने अपने ज्ञान वृद्ध मित्र उद्धव से अपने हृदय की बातें कही और कहा कि मेरे वियोग में ब्रज-धरा दग्ध हो रही है। हे उद्धव, तुम जा कर अपने ज्ञानाम्बु से उसे सिक्त करो। कृष्ण के आदेशानुसार उद्धव ब्रज के लिए प्रस्थान करते है। इस सर्ग मे उनकी यात्रा का विशद वर्णन है।

दशम सर्ग—उद्धव जी खिन्न और दुखी नन्द जी के समीप बैठे है। उन्ही के समीप विकला, शीर्ण काया चिन्तादग्धा श्रीमती यशोदा विनत-वदना होकर बैठी है। दु ख और चिन्ता ने उनके शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर दिया है। वे बड़ी भावुकता से उद्धव जी को बाल्यावस्था की बाते सुनाती है। माता का हृदय अपने पुत्र के लिए कितना चिंतित रहता है इसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया गया है। वे उनसे बडी उत्सुकता से पूछती है कि 'क्या मेरी और बूढ़े पिता का भी स्मरण कभी श्याम को आता है?' उद्धव से अपनी बेकली का वे वर्णन करती है।

एकादश सर्ग—यशोदा माता की व्यथा सुनकर उद्धव जी गोप

मडली को सान्त्वना देने बढ़े । वे गोपो को धैर्य दिलाते हैं। इसके बाद एक गोप उद्धव को काली-बन्धन कथा कह सुनाता है। वह कृष्ण की कथा कहते कहते तन्मय हो जाता है। अन्त में वह ब्रज की धरा के दुर्भाग्य पर रोता है परतु उसकी यह तीव्र आकाक्षा है कि कृष्ण जहाँ भी रहे सुख से रहे।

द्वादश सर्ग—इस सर्ग मे कृष्ण के लोक-कल्याणकारी रूप का वर्णन है। गोप जब अपनी बाते कह चुके तब आभीरो के एक दल ने कृष्ण का सुयश सुनाना प्रारभ किया। उसने ब्रज पर इन्द्र के कोप की कथा सुनायी। इसके उपरान्त उसने उन्हे बतलाया कि ऐसे कठिन समय में कृष्ण ने किस प्रकार अथक परिश्रम कर ब्रज के निवासियो की प्राण-रक्षा की। उन्होने ब्रज-वासियो को ले जाकर किस प्रकार गोवर्धन में सुरक्षित रूप से रखा इसका वे वर्णन करते है।

त्रयोदश सर्ग—इस सर्ग में कवि ने उन असुरो और दैत्यो के विनाश की कथा वर्णित की है जिनकी नामावली द्वितीय सर्ग में दी गयी है। कृष्ण ने विकराल अघासुर नामक सर्प का विनाश किया, केशी और व्योमासुर का किस प्रकार अत हुआ यह कवि बतलाता है। कृष्ण के समाज-सेवी रूप का चित्र अकित है।

चतुर्दश सर्ग—इसमें शरद ज्योत्सना के हृदयहारी उत्सव का वर्णन है। गोपिकाएँ उद्धव से अपने हृदय की वेदना कहती हैं और प्रार्थना करती हैं कि हे उद्धव, कृपाकर इस नष्ट होते हुए ब्रज की रक्षा करो। तुम मथुरा जाकर प्यारे कृष्ण को ले आओ। गोपिकाएँ अपने दुर्भाग्य को कोसती है और कहती हैं कि वे लोग भाग्यवान हैं जिन्हे कृष्ण ऐसा अनोखा रत्न प्राप्त हो गया। कृष्ण के महारास का अनुपम वर्णन है।

पञ्चदश सर्ग—उद्धव के सम्मुख एक बड़ा ही हृदयस्पर्शी चित्र आता है। उद्धव वन मे घूम रहे है। कृष्ण के प्रेम से उन्मत्त होकर विरह-व्याकुलावस्था मे घूमनेवाली गोपी का उन्हे दर्शन होता है। यह गोपिका कृष्ण के प्रेम में विह्वल होकर अपने हृदय की वेदनाओं का दृश्य उन्हे दिखला रही है। उसकी व्यथा की कथा सुनकर उद्धव हतप्रभ हो जाते है। उद्धव का हृदय भी विचलित हो जाता है। उनकी वाणी कुठित हो जाती है।

षोडश सर्ग—ज्ञानी उद्धव श्रीमती राधा के निवास पर पहुँचते है। राधा अपने प्रासाद की वाटिका के निर्मल कुज मे बैठी है। उद्धव जी उनके पास जाकर उन्हे कृष्ण का सदेश सुनाते है। श्रीमती राधा अत्यत शात भाव से उद्धव की बाते सुनती है और उनका सदेश सुन लेने के पश्चात् वे अपनी पीयूषमयी वाणी में उद्धव को अलौकिक प्रेम की शिक्षा देती है। उनकी प्रेममयी वाणी सुनकर उद्धव अत्यत प्रभावित हुए। उद्धव ने उन्हे अपना गुरु स्वीकार किया और उनकी चरणरज लेकर वहाँ से विदा हुए।

सप्तदश सर्ग—छ मास तक ब्रज में रहने के पश्चात् उद्धव प्रेम-रस में सिक्त और मग्न होकर मथुरा लौटते हैं। सकेत रूप में कवि सत्रह बार जरासध के परास्त होने की चर्चा करता है। अट्ठारहवी बार के युद्ध मे कृष्ण मथुरा से द्वारका चले जाते है। इस सर्ग में श्रीमती राधा का पुनीत विदुषी के रूप मे दर्शन होता है। स्थान स्थान पर जाकर वे दुखियो की सेवा करती हैं और उन्हें अपनी सहानुभूति से शाति प्रदान करने का यत्न करती हैं। वे अपनी सहचरियो, माता यशोदा और नि सहायो की सेवा में ही अपना जीवन अर्पण कर देती हैं।

****

'प्रियप्रवास' का कथा-सूत्र

ससार में विरले ही लोग होगे जो मत्र द्रष्टा होते है। ऋषि महर्षियो की गहन तपस्या का परिणाम था मन्त्रों की अनुभूति। हमारे सस्कृति और धर्म के आधार ग्रथों मे जितनी सामग्री मिलती है वह सब कल्पना प्रसूत अथवा प्राचीन ऋषियो, महर्षियों की बुद्धि की उपज है यह मै नही स्वीकार करता। उन सामग्रियो का कोई न कोई आधार-सूत्र अवश्य रहा होगा। हॉ, ऋषियो-महर्षियों की सुमधुर कल्पनाओ ने उनके हृदय की भावनाओं ने उन्हे एक रूप दिया होगा। यह रूप अनेक अनुभूतियों और आधारो पर आश्रित रहा होगा। मधु सचय करने वाली मधुमक्खी अनेक प्रकार के पुष्पो पर मॅडराती हे और उनका रस सचित करती है। अपनी क्रिया-शीलता और पुष्पो से प्राप्त होने वाली सामग्री से वह मधु का निर्माण करती है। यह मधु अनेक पुष्पों के रस पर आधारित होने पर भी उसकी अपनी मौलिक वस्तु है। ऐतिहासिक घटनाएँ ककाल के समान हैं, कवि अपनी कल्पना द्वारा उसे मासल बनाता है और सजीव रूप प्रदान करता है। यह मासलता, यह रूप प्रदान की प्रक्रिया उसकी मौलिकता है। ससार में कोई वस्तु पूर्णत मौलिक है, उसका किसी आधार से सबध नहीं है यह कोई स्वीकार न करेगा।

इसी प्रकार हमारे धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक

महापुरुषो की जीवन-गाथा भिन्न समयो मे भिन्न युगो मे युगधर्म और कवि की कल्पना के अनुसार परिवर्तित होती रही है। श्रीमद्-भागवत मे कृष्ण का जो रूप है वह हमे सूरदास के पदो में नही मिलता। सूरदास के पदो मे कृष्ण का जो चित्र है वह मीरा के गीतो में नही मिलता। वाल्मीकि के राम तुलसी के राम न रह सके। इन चित्रो में क्रमश भिन्नता उत्पन्न होती गयी। यदि हम चाहे तो इसी भिन्नता को मौलिकता की सज्ञा प्रदान कर सकते है। प्राचीन वस्तुओ पर एक नवीन आवरण का नाम ही तो आज कल मौलिकता है।

कवि जब रचना करता है तब उसका कुछ उद्देश्य होता है। किसी विचार सूत्र से प्रभावित होकर वह आगे कदम उठाता है। उद्देश्यहीन रचना का क्या महत्व है मै नही कह सकता। कला, कला के लिए कहाँ तक होती है यह केवल सैद्धान्तिक वाद-विवाद की वस्तु है।

हरिऔध जी ने प्रियप्रवास की रचना निश्चित उद्देश्य से की इसमें किसी प्रकार का सदेह नही। उनके हृदय मे करुणा का जो स्रोत उमड रहा था, उनके मस्तिष्क मे आदर्श जीवन का, आदर्श स्त्री पुरुष के जो चित्र थे उन्हे वे समाज के सम्मुख रखना चाहते थे। दूसरी बात यह है कि कृष्ण के व्यक्तित्व का जो घृणित रूप प्रचारित किया गया था उससे भी उन्हे कष्ट हुआ। वे कृष्ण के वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराना चाहते थे। वे योगेश्वर कृष्ण के नचनियाँ कन्हाई का रूप विनष्ट कर देना चाहते थे। यही उनका उद्देश्य था।

हरिऔध जी के पितृव्य ने जिस भावुकता के साथ उन्हे श्री-मद्भागवत के श्लोको का गान सुनाया था उसका सस्कार लुप्त

होते हुए भी अमिट था। श्लोको का भाष्य करते समय अश्रुपूर्ण उनकी सकरुण मूर्ति वे भूल न सके थे। किसी साधारण व्यक्ति में यदि वे अपने आदर्शों का आरोप करते तो वह प्रभावकर न होता और सभवत समाज उस ओर ध्यान भी न देता। अत हरिऔध जी ने राधा और कृष्ण के माध्यम से अपने आदर्शों के चित्र जनता के सम्मुख रखने का निश्चय किया। 'प्रियप्रवास' की रचना के समय तक उनकी वृत्तियाँ अत्यधिक सयमित और विचार-धारा प्रौढ़ हो चुकी थी, निदान उन्होने एक प्रबन्ध काव्य की रचना का निश्चय किया और वह प्रबध काव्य है 'प्रियप्रवास'।

'प्रियप्रवास' की कथावस्तु का आधार श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कध का पूर्वार्द्ध अश है। परन्तु अत्यत सूक्ष्म रूप मे ही यह कथावस्तु दशम स्कध से ली गई है। प्रियप्रवास का प्रथम सर्ग उसका मनोहारी साध्य वर्णन कवि की अपनी उद्‌भावना है। श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कध में इसका वर्णन नही है। प्रियप्रवास की कथा अक्रूर के ब्रज में आने से प्रारभ होती है। इधर अक्रूर जी ब्रज में पैर रखते हैं और उधर गो-धूलि-बेला में अपने सखाओ के साथ कृष्ण भी गायें चराकर गृह को लौटते हैं। गोकुल में उनका पदार्पण होते ही रस का स्रोत उमड़ पड़ता है। उनके दर्शनो के लिए समुत्सुक दर्शक वृन्द एकत्र हो जाते हैं। उनका दर्शन कर लोग अपने निवास को लौट जाते है। सध्या का मार्मिक वर्णन तो कवि की अपनी अनुपम तूलिका का चित्र है। ऐसा चित्र तो श्रीमद्‌भागवत मे भी नही। श्रीमद्‌भागवत के अक्रूर जब ब्रज पहुँचते हैं उस समय का निम्नलिखित वर्णन है.—

इति सञ्चिन्तयन्कृष्ण श्वफल्कतनयोऽध्वनि।
रथेन गोकुल प्राप्त सूर्यश्चास्तगिरिं नृप ॥ 'श्रीमद्‌भागवत''

ब्रज की भूमि में पहुँचने पर वे बडी श्रद्धा भक्ति के साथ मार्ग की रज लेकर अपने शीश पर चढाते है —

'रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजास्यहो इति ।'

यहाँ श्रीमद्‌भागवत के कृष्ण और प्रियप्रवास के कृष्ण में अन्तर है । प्रियप्रवास के कृष्ण को अक्रूर के आने की न तो कोई सूचना है और न उन्हे ज्ञान ही । प्रियप्रवास में अक्रूर नन्द जी के पास आते है और उन्हे सदेश से अवगत करा देते है । कृष्ण तो दिन भर के थके होने के कारण तल्प पर पड़े सो रहे है । यत' माता को पुत्र के गमन की आशका हो गयी अत वे विकल हो उठीं । परतु उनकी विकलता हिचकियों तक ही बँधी रह गयी । उन्हे भय था कि कही उनके रुदन स्वर से कृष्ण के सोने मे बाधा न पड जाय । बार बार अपने पुत्र के मुख से वस्त्र हटाकर वात्सल्य रस का पान कर रही है और उसे देख रही है —

निकट कोमल तल्प मुकुन्द के ।
कलपती जननी उपविष्ट थी ॥
अति-असयत अश्रु-प्रवाह से ।
वदन-मडल प्लावित था हुआ ॥

पट हटा सुत के मुख कज का ।
विकचता जब थी अवलोकती ।
विवश सी जब थीं फिर देखती ।
सरलता, मृदुता, सुकुमारता ॥

हरि न जाग उठें इस शोच से ।
सिसकती तक भी वह थीं नहीं ।
इस लिए उनका दुख-वेग मे ।
हृदय था शतधा अब हो रहा ।

श्रीमद्भागवत के कृष्ण का भिन्न रूप है। वहाँ तो जब अक्रूर आये तब बलराम और कृष्ण दोनों ने उनसे वार्तालाप किया। अक्रूर ने देखा कि वे दोनों भाई गोदोहन के लिए गोशाला से जा रहे हैं—

'ददर्श कृष्ण राम च व्रजे गोदोहन गतौ।'

भागवत के कृष्ण साधारण व्यक्ति नहीं। वे सामर्थ्यवान है। जगत के पति है। कृष्ण के मथुरा-गमन की कथा के बाद, 'प्रियप्रवास' का, कृष्ण के बिदा होने के समय का चित्र भागवत पर आधारित है। व्रज-धरा की समस्त जनता शोकमग्न है। गोपियो के अश्रु रुकते नही। उनकी दशा अत्यत कारुणिक हो रही है। वे अनेक प्रकार से अक्रूर की मन ही मन भर्त्सना करती है। उन भर्त्सनाओ से उनके हृदय की भावना की अभिव्यक्ति होती है। भागवत की गोपिकाएँ कहती हैं—

'अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया सयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिन ।
ताश्चाकृतार्थान्वियुनङ्क्ष्यपार्थक विक्रीडित तेऽर्भकचेष्टित यथा ॥
यस्त्व प्रदर्श्यासितकुन्तलावृत मुकुन्दवक्त्र सुकपोलमुन्नसम् ।
शोकापनोदस्मितलेशसुन्दर करोषि पारोक्ष्यमसाधु ते कृतम् ॥'

इस प्रकार गोपियो को विह्वल और दु ख-कातर देख कर नन्द जी का हृदय भर आता है। वे उन गोपियों से कहते हैं कि कुछ ही दिनो में कृष्ण पुन व्रज लौट आयेंगे। गोपियो को समझा-बुझा कर वे रथ पर बैठते हैं और रथ उन लोगो को लेकर आगे बढता है। विरह से व्याकुल व्रज-बालाएँ उस पथ की ओर तब तक टकटकी लगाकर देखती रह जाती है जब तक रथ का अथवा उसके गमन का कोई चिह्न दीख पडता है। वे अत्यत शात भाव से हतप्रभ होकर खडी रह जाती हैं और जब मार्ग के

यात्रा-सबधी सब चिह्न विलीन हो जाते हैं तब वे कृष्ण-लीला का गुण गान करती हुई घर की ओर अग्रसर होती हैं —

तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तम ।
सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकै ॥
यावदालक्ष्यते केतुर्यावद्रेणू रथस्य च ।
अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिता ॥
ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तन ।
विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्य प्रियचेष्टितम् ॥

हरिऔध जी ने भी मथुरा-यात्रा के समय के इसी दृश्य का वर्णन प्रियप्रवास में किया है परन्तु उनका चित्र तो अत्यत मर्म-स्पर्शी है। भागवत के वर्णन से वे कही आगे बढ गये है और उपर्युक्त चित्र से उनका चित्र कही अधिक प्रभावशाली है। कृष्ण के मथुरा जाने का समय हो गया है। सबका दुख आँखो के कोनो मे आकर रुका पडा है। कृष्ण चलने के लिए उद्यत हुए और —

आई बेला हरि गमन की, छा गयी खिन्नता सी।
थोडे ऊँचे नलिनपति हो जा छिपे पादपो में ॥
आगे सारे स्वजन करके साथ अक्रूर को ले।
धीरे धीरे सजनक कढे सद्म में से मुरारी ॥

आते आँसू अति कठिनता से सँभाले दृगो के।
होती खिन्ना हृदय-तल के सैकडो सशयो से ॥
थोडा पीछे प्रिय तनय के भूरि शोकाभिभूता।
नाना बामा सहित निकली गेह मे से यशोदा ॥

द्वारे आया ब्रज नृपति को देख यात्रा-निमित्त।
भोला भाला निरख मुखडा फूल से लाडिलो का ॥

खिला दीना परम लय के नन्द की भामिनी को।
चिन्ता डूबी सकल जनता हो उठी कम्पमाना ॥
कोई रोम सलिल न रुका लाख रोके दृगों का।
कोई आहें सदुख भरता हो गया बावला सा ॥
कोई बोला सकल ब्रज के जीवनाधार प्यारे।
यों लोगों को व्यथित करके आज जाते कहाँ हो ॥

प्रियप्रवास में उपर्युक्त दृश्य के आगे बढ़ने पर ब्रजवासियों का अत्यत कारुणिक और हृदय को हिला देने वाला चित्र सम्मुख आता है। कृष्ण के वियोग मे, कृष्ण के गमन के दुख से ब्रज की जनता मात्र ही दुखी हो यह बात नहीं, ब्रज के पशु-पक्षी भी विरह से व्याकुल होकर उदास हैं। उनकी दशा का वर्णन अकथनीय है। कृष्ण के बिदा होने के समय का चित्र मनुष्य क्या पत्थर को भी पिघला देने में समर्थ है —

सारी बातें सदुख सुन के नन्द ने कामिनी को।
प्यारे प्यारे वचन कह के धीरता से प्रबोधा।
आई थी जो सकल जनता धैर्य दे के उसे भी।
वे भी बैठे स्वरथ पर जा साथ अक्रूर को ले।
घेरा आके सकल जन ने यान को देख जाता।
नाना बातें दुखमय कहीं पत्थरों को रुलाया।
हाहा खाया बहु विनय की औ कहा खिन्न होके।
जो जाते हो कुँवर मथुरा ले चलो तो सभी को।
बीसों बैठे पकड़ रथ का चक्र दोनों करों से।
रासें ऊँची तुरग युग की थाम ली सैकड़ों ने।
सोये भू में चपल रथ के सामने आ अनेकों।
जाना होता अति अप्रिय था बालकों का सबों को।

गोकुल के लोगो की यह दशा देख कर महाराज नंद रथ से नीचे उतरते है और लोगो को अनेक प्रकार से सांत्वना प्रदान करते है। उनके बहुत समझाने बुझाने पर लोगों ने रथ को छोडा परतु उनका हृदय न माना। वे तब तक उस पथ को देखते रहे जब तक रथ की धूलि उड़ती दिखाई देती रही। प्रियप्रवास के अनेक स्थल इसी प्रकार मर्मस्पर्शी है।

अपने अत्यधिक व्यस्त जीवन के कारण कृष्ण मथुरा नही छोड पाते। उन्हे इतना भी समय नही मिलता कि वे ब्रज जाकर एक बार तो गोपियो को दर्शन दे आवे। उन्होने अपने सखा उद्धव को ब्रज के निवासियो को सान्त्वना देने के लिए भेजा। भागवत में उपर्युक्त घटना का निम्नलिखित चित्र है—

> वृष्णीना प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयित सखा।
> शिष्यो बृहस्पते साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तम ॥
> तमाह भगवान्प्रेष्ट भक्तमेकान्तिन क्वचित्।
> गृहीत्वा पाणिना पाणि प्रपन्नार्तिहरो हरि ॥
> गच्छोद्धव व्रज सोम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
> गोपीना मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥
> ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका।
> मामेव दयित प्रेष्ठमात्मान मनसा गता।
> ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् ॥
> मयि ता प्रेयसा प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रिय।
> स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वला ॥
> धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्राय प्राणान्कथञ्चन।
> प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिका ॥

भागवत के उपर्युक्त अश की कथा के आधार पर 'प्रियप्रवास'-कार ने क्या कहा है इसका अवलोकन कीजिए।—

एकाकी ब्रज-देव एक दिन थे बैठे हुए गेह में।
उत्सन्ना ब्रज भूमि के स्मरण से उद्विग्नता थी बड़ी।
ऊधो सञ्ज्ञ-ज्ञान वृद्ध उनके जो एक सन्मित्र थे।
वे आये उस काल ही सदन मे आनन्द मे मग्न से।
आते ही मुख म्लान देख हरि का वे दीर्घ उत्कठ हो।
बोले क्यों इतने मलीन प्रभु हे ? हं वेदना कौन सी ?
फूले पुष्प विमोहिनी-विकचता क्या हो गयी आपकी।
क्यों है नीरसता प्रसार करती उत्फुल्ल अभोज में॥

उद्धव का औत्सुक्य सुनकर कृष्णचन्द्र ने अपने हृदय की कथा कह सुनाई—

बोले वारिद-गात पास विठला सम्मान से बधु को।
प्यारे सर्व विधान ही नियति का व्यामोह से है भरा।
मेरे जीवन का प्रवाह पहले अत्यन्त उन्मुक्त था।
पाता हूँ अब मै नितान्त उसको आबद्ध कर्त्तव्य में।
शोभा सभ्रम शालिनी ब्रज धरा प्रेमास्पदा गोपिका।
माता प्रीतिमयी प्रतीति-प्रतिमा, वात्सल्य-धाता पिता।
प्यारे गोप कुमार, प्रेम मणिके पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है हमें।

परन्तु कृष्ण कार्याधिक्य के कारण ब्रज-भूमि जाने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते है —

देखो यद्यपि है अपार ब्रज के प्रस्थान की कामना।
होता मैं तब भी निरस्त नित हूँ व्यापी द्विधा में पड़ा।
ऊधो दग्ध वियोग से ब्रजधरा है हो रही नित्यश।
जाओ सिक्त करो उसे सदय हो आमूल ज्ञानाम्बु से।

कृष्ण को सर्वोपरि अपनी स्नेहमयी माता का ध्यान होता

है । वे उनके हृदय की विकलता का अनुभव करते है । माता की पीडा उन्हे भी दुख दे रही है । वे कहते है —

जैसे हो लघु वेदना हृदय की ओ दूर होवे व्यथा ।
पावे शान्ति समस्त लोग न जलें मेरे वियोगाग्नि में ।
ऐसे ही वर-ज्ञान तात ब्रज को देना बताना क्रिया ।
माता का स-विशेष तोष करना औ वृद्ध गोपेशका ।

माता के उपरान्त कृष्ण को श्रीमती राधा का ध्यान आता है । वे स्वत राधा की बेबसी का अनुभव कर रहे है । उन्हे यह भी ज्ञात है कि राधा का वियोग इतना उत्कट है कि उसे ज्ञातोपदेश शात नहीं कर सकता । इसकी आशका उन्हे बनी रही अत वे अपने सखा उद्धव से कहते हैं —

जो राधा वृष-भानु-भूप-तनया स्वगाय दिव्यागना ।
शोभा है ब्रज प्रात की अवनि की स्त्री जाति की वश की ।
होगी हा ! वह मग्नभत् अति ही मेरे वियोगाब्धि मे ।
जो हो सभव तात पोत बनके तो त्राण देना उसे ॥

अत्यत स्नेही के योगक्षेम के प्रति सशकित रहना मानवीय स्वभाव है । कृष्ण की यह धारणा थी कि राधा की व्यथा को दूर करना उद्धव के मान की वस्तु नही है अत उन्होने कहा —

जो हो सभव तात पोत बनके तो त्राण देना उसे ।

अब श्रीमद्भागवत के उद्धव मथुरा से यात्रा पर निकलते हैं और—

प्राप्तो नद-व्रज श्रीमान्निम्लोचति विभावसौ ।
छन्नयान प्रविशता पशूना खुररेणुभि ॥

उद्धव को मार्ग में कुछ नहीं दीखता । जब वे ब्रज की भूमि में पदार्पण करते हैं तब वे —

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में।
व्रज धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे।
रख लिया उँगली पर श्याम ने।

हरिऔध जी मार्मिक स्थलो के बड़े पारखी थे। अवश्य ही श्रीमद्भागवत से उन्हे अपने काव्य की सामग्री प्राप्त हुई, परन्तु उन्होने अपनी प्रतिभा से मार्मिक स्थलो को और भी प्रभावकर बनाने के लिए उनमे मनचाहा परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ श्रीमद्भागवत में व्रज मे उद्धव कब आये यह किसी को ज्ञात भी नहीं हुआ। प्रात काल नन्द के द्वार पर जब लोगो ने रथ देखा तब उन्हे उनके आने का ज्ञान हुआ। प्रियप्रवास की कथा कुछ इससे भिन्न है। वियोग मे आतुर और दर्शन की अभिलाषा में व्याकुल सकल गोपगण और उनकी गायें मथुरा के पथ से आये हुए रथ को देखकर उसी ओर दौड पडती है। उन्हे ऐसा लगता है मानो बिछुडे हुए कृष्ण ही लौट कर आ रहे हो। थोड़ा सा परिवर्तन कर कवि ने इस घटना को मार्मिक बना दिया है। उद्धव के रथ के पास दौड कर जाने वाले लोगों की दशा तो देखिये —

अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो।
स वेग जाते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुन्द को॥

अनेक गायें तृण त्याग दौड़तीं।
सवत्स जातीं वर-यान पास थी।

परन्तु पातीं जब थीं न श्याम को।
विषादिता हो पड़ती नितात थी ॥

इसी घटना से सबधित भागवत की पक्तियाँ देखिये—

भगवत्युदिते सूय नन्दद्वारि व्रजौकस ।
दृष्ट्वा रथ शातकौम्भ कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥
अक्रूर आगत किं वा य कसस्यार्थसाधक ।
येन नीतो मधुपुरी कृष्ण कमललोचन ॥
किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तु प्रेतस्य निष्कृतिम् ।

गोकुल ग्राम मे जब ज्ञानी उद्धव का स्यन्दन पहुँचा तब वहाँ की जनता की क्या दशा हुई इसका दृश्य कितना मार्मिक है—

जहाँ लगा जो जिस कार्य में रहा।
उसे वहीं ही वह छोड दौड़ता।
समीप आया रथ के प्रमत्त सा।
विलोकने को घनश्याम माधुरी।

विलोकते जो पशु वृद पथ थे।
तजा उन्होंने पथ का विलोकना।
अनेक दौड़े तज धेनु बाँधना।
अबाधिता पावस आपगोपमा ॥

रहे खिलाते पशु धेनु-दूहते ।
प्रदीप जो थे गृह-मध्य बालते ।
अधीर हो वे निज कार्य त्याग के।
स वेग दौडे वदनेन्दु देखने ॥

निकालती जो जल कूप से रहीं।
सरज्जु सो भी तज कूप में घडा।

अतीव हो आतुर दौड़ती गयी।
ब्रजांगना-वल्लभ को विलोकने ।।

तजा किसी ने जल का भरा घड़ा।
उसे किसी ने शिर से गिरा दिया।
अनेक दौड़ीं सुधि गात की गँवा।
सरोज सा सुन्दर श्याम देखने ।।

कहाँ ज्ञानी उद्धव ब्रज के गोप-गोपिकाओं को ज्ञान की शिक्षा देकर तोष देने आये थे परन्तु ब्रज की दशा देख कर 'अधीर होने हरि-बन्धु भी लगे।' उनका भी धैर्य छूटने लगा परन्तु उन्होंने अपने को सँभाला और ब्रज के लोगों को शांत भाव से समझाने लगे।

श्रीमद्भागवत की 'अक्रूर आगत किं वा य कंसस्यार्थ-साधक' पंक्ति की अभिव्यक्ति नवम सर्ग के अन्तिम पद्य में देखिये —

पल पल अकुला के दीर्घ संदिग्ध होके।
विचलित-चित से ये सोचते ग्राम वासी।
वह परम अनूठे रत्न आ ले गया था।
अब यह ब्रज आया कौन सा रत्न लेने ।।

हरिऔध जी की प्रतिभा ने श्रीमद्भागवत के साधारण प्रसंगों को किस प्रकार सजीव और प्राणवान बनाया है यह उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। सफल कवि की तूलिका का क्या चमत्कार है यह तुलनात्मक उदाहरणों से स्पष्ट है।

****

'प्रियप्रवास' पर धार्मिक प्रभाव

प्रियप्रवास की रचना के पूर्व देश की क्या धार्मिक, सामाजिक और राजनितिक स्थिति थी इस पर विचार किया जा चुका है। जिस प्रकार मनुष्य की वृत्तियो में परिवर्तन होता है, उसका उत्थान-पतन होता है उसी प्रकार धार्मिक विचारो का भी उत्थान-पतन होता है। साधारणतया धर्म के सार्वभौम सिद्धान्त सनातन रहते है परतु उनके वाह्य स्वरूप मे उन्नति और अवनति का प्रभाव पडता है। मनुष्य की वृत्तियो का प्रतिविम्ब धर्म पर भी तो पडता है। मनुष्य अपने को धर्म के अनुसार कम बनाता है वह अधिकतर यही प्रयत्न करता है कि वह धर्म को अपनी सुविधा के अनुसार साँचे में ढाल ले। समाज का यह प्रभाव धर्म के रूप को सुन्दर, कल्याणकारी भी बनाता है और उसमें विकृति भी उत्पन्न करता है। धर्म की उन्नति और अवनति का रूप किसी भी धर्म का उदाहरण लेकर देखा जा सकता है। मूर्ति-पूजा का जब दुरुपयोग होने लगा, केवल नाम मात्र को अक्षत फूल से

धार्मिक कहे जाने वाले लोग भगवान को प्रसन्न करने का नाटक करने लगे और अपने आचरण पर ध्यान नही देने लगे तब स्वामी दयानन्द ने एक धक्का दिया और नवीन दिशा का सकेत किया।

हम अपनी भावना के अनुरूप ही अपने देवी-देवताओ को भी देखते है और उसी रूप मे उनकी उपासना करते है। परब्रह्म कृष्ण जिन्हे युग युग से हम ईश्वर का अवतार समझते आ रहे है उनका हमारी भावना के कारण कैसा विकृत रूप हिन्दी-साहित्य में अकित हुआ है यह किसी से छिपा नही है। परब्रह्म कृष्ण जिनका गुणानुवाद करते हम अघाते न थे वे किस प्रकार रीति काव्यो में विलासी रसिया बना कर चित्रित किये गये यह एक ऐतिहासिक घटना है। परतु राधा और कृष्ण का यह विकृत रूप अधिक दिनो तक समाज मे नही चल सकता था।

ससार में ऐसे पहुँचे सत महात्मा भी हुए है जिनकी दृष्टि मे राधा-कृष्ण का अत्यत शृगारी रूप यहाँ तक कि लौकिक रूप मे चित्रित अश्लील रूप भी उनके मन में किसी प्रकार का विकार नही उत्पन्न करता। चैतन्य महाप्रभु, विद्यापति और जयदेव की घोर शृगारी रचनाओ को गाते गाते तन्मय हो जाया करते थे। ऐसे महात्मा और महापुरुषों की सख्या इनी गिनी है। साहित्य का निर्माण तो समाज के लिए, जन साधारण के लिए भी होता है। हमें उनकी वृत्तियो का भी ध्यान रखना आवश्यक होगा। परतु रीति काव्य का काल कुछ ऐसा ही काल था कि कुएँ मे भाँग पडी थी। अधिकतर भारतीय जनता अपनी सभ्यता और सस्कृति को भूल कर विलासिता के पंक में फँसती जा रही थी। धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक भावनाओ की दृष्टि से वह एक प्रकार का अधकार युग था।

अग्रेजोके शासन ने, अग्रेजी भाषा की शिक्षा ने जहाँ हमारे मे अनेक बुराइयाँ उत्पन्न की है वहाँ उनकी भाषा और शासन से हमे अनेक प्रकार की नवीन चेतनाए भी प्राप्त हुई इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता। ब्रह्म समाज के कारण जो भी बुराई उत्पन्न हुई हो परतु उसने अनेक हिन्दुओ को ईसाई बनने से भी बचाया यह मानना ही होगा।

हरिऔध जी ने जिस युग में साहित्यिक क्षेत्र मे प्रवेश किया वह एक प्रकार से हिन्दी का सक्रमण काल था। भाव और भाषा दोनो मे ही नवीन प्रयोग किये जा रहे थे। साहित्य तथा काव्य-रचना के लिए नये क्षेत्रों की उत्पत्ति हो रही थी। साथ ही प्राचीन समय के राधा कृष्ण के चित्रो का भी बड़ी धूम धाम के साथ अकन हो रहा था। राधा कृष्ण की प्राचीन परम्परा मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही हुआ था। हिन्दी के प्राचीन कवियो ने कृष्ण के मानवीय रूप का भले ही चित्रण किया हो परतु यह चित्रण भी अलौकिक भावापन्न है। उन रचनाओ के पढने से भी ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण के परब्रह्म रूप ने कवि का पीछा नही छोड़ा है। जब मै कृष्ण के मानवीय चित्र की बात कह रहा हूँ तब मेरा विशेष मन्तव्य महाकवि सूरदास और उनके अन्य सहयोगियो से है। अवश्य ही प्रेम माधुर्य में पगी 'मीरा' के सबध में भी यही कहा जा सकता है। उसके बाद जो भी कृष्ण का विलासी रूप चित्रित हुआ है उसे मै मानवीय रूप से बहुत नीचे गिरा हुआ चित्र मानता हूँ।

सर्व प्रथम हिन्दी क्षेत्र में कृष्ण का अत्यन्त मानवीय और लोक सग्रही रूप चित्रित करने का सारा श्रेय हरिऔध जी को है। सस्कार से हरिऔध जी ने कृष्ण का जो रूप प्राप्त किया था वह

अधिक दिनो तक नही टिका रह सका। उनके अध्ययन और चितन ने उनके मन में क्राति उत्पन्न की और वे धर्म, ईश्वर और अलौकिक शक्ति सभी कुछ को बुद्धि की तुला पर तौलने लगे। उनमे सामाजिक और धार्मिक सस्कारो के अव्यक्त—व्यक्त न सही—प्रभावो के कारण एक प्रकार का भय उत्पन्न हो गया था। वे कृष्ण के ईश्वरत्व का स्पष्ट रूप से अथवा प्रत्यक्ष रूप से विरोध नही करना चाहते थे। इस प्रकार की बात कहने से अपकीर्ति का सबसे बड़ा भय था। अत उन्होने अपनी भावना को व्यक्त तो किया परतु उसको बड़े ही सयत और आलकारिक रूप में। उनके मानसिक परिवर्तन की कहानी उन्ही के शब्दो में पढिए—

"काल पाकर मेरी दृष्टि व्यापक हुई, मै स्वय सोचने विचारने और शास्त्र के सिद्धान्तो का मनन करने लगा। उसी के फल स्वरूप मेरे पश्चाद्वर्ती और आधुनिक काव्य हैं। भगवान् कृष्णचद्र मे अब भी मुझको श्रद्धा है, किन्तु वह श्रद्धा अब सकीर्णता, एकदेशिता और अकर्मण्यता-दोष-दूषिता नही है। ईश्वर एकदेशीय नही है, वह सर्वव्यापक और अपरिच्छिन्न है, उसकी सत्ता सर्वत्र वर्तमान है, प्राणिमात्र में उसका विकास है—'सर्व खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किचन', जिस प्राणी मे उसका जितना विकास है, वह उतना ही गौरव-गरिष्ठ है। उतना ही महिमामय है, उसमे उतनी अधिक उसकी सत्ता विराजमान है। मानव प्राणी-समूह का शिरोमणि है, उसमें ईश्वरीय सत्ता समस्त प्राणियो से अधिक है। इस लिए वह प्राणि श्रेष्ठ है, अशरफुल मखलूकात है।' अतएव मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। यही अवतार वाद है। भगवद्गीता का वचन है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोंऽशसभवम् ॥

यह बडा व्यापक और उदार सिद्धान्त है । ससार का प्रत्येक महापुरुष इस सूत्र से मान्य, वन्द्य और आदरणीय है । मानवता त्याग कर ईश्वर की चरितार्थता नही होती, अतएव मानवता का निदर्शन ही आत्मोन्नति का प्रबल साधन है । अवतारो का सम्बल मानवता का आदर्श ही था, क्योकि बिना इस मत्र का साधन किये कोई 'सर्वभूतहिते रत' नही हो सकता । अतएव उसको इसी रूप मे देखने की आवश्यकता है जो उसका मुख्य रूप है और यही कारण है कि आज कल मेरा परिवर्तित मत यही है ।"

ईश्वर के सबध मे जब हरिऔध जी का यह परिवर्तित मत हुआ तो स्वाभाविक था कि परम्परा से चले आते पूजा-पाठ, जप-तप और अन्य धार्मिक कृत्यो के रूपो का भी उसी के अनुरूप परिवर्तन हो । हुआ भी यही । ईश्वरोपासना मे लीन भक्तों की नवधा भक्ति ने हरिऔध जी के मत के अनुसार निम्नलिखित रूप ग्रहण किया —

जी से सारा कथन सुनना आर्त्त उत्पीड़ितों का ।
रोगी प्राणी व्यथित जन का लोक-उन्नायको का ।
सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्सगियो का ।
मानी जाती श्रवण-अविधा-भक्ति सज्जनो में ।
सोये जागें, तम-पतित की दृष्टि में ज्योति आवे,
भूले आवें सुपथ पर औ ज्ञान-उन्मेष होवे ।
ऐसे गाना कथन करना दिव्य न्यारे गुणों का,
है प्यारी भक्ति प्रभुवर की कीर्त्तनोपाधिवाली ।

विद्वानों के स्वगुरु-जन के देश के प्रेमिकों के।
ज्ञानी दानी सु-चरित गुणी सर्व-तेजस्वियों के।
आत्मोत्सर्गी विबुध जन के देव सद्विग्रहों के।
आगे होना नमित प्रभु की भक्ति है वन्दनाख्या।

जो बातें हैं भव हितकरी सर्व भूतोपकारी।
जो चेष्टाएँ मलिन गिरती जातियाँ है उठाती।
हो सेवा में निरत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा भक्ति भव-सुखदा दासता सञ्ज्ञका है।

कंगालों को विवश विधवा औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना औ उन्हें त्राण देना।
सत्कार्यों का पर हृदय की पीर का ध्यान आना।
मानी जाती स्मरण-अभिधा भक्ति है भावुकों में।

विपद सिन्धु पड़े नर-वृन्द के।
दुख निवारण औ हित के लिए।
अरपना अपने तन प्राण को।
प्रथित आत्म निवेदन-भक्ति है॥

सन्त्रस्तों को शरण मधुरा-शान्ति सतापितों को,
निर्बोधों को सु-मति विविधा औषधी पीड़ितों को।
पानी देना तृषित-जन को अन्न भूखे नरों को।
सर्वात्मा भक्ति अति रुचिरा अर्चना सञ्ज्ञका है।

नाना प्राणी तरु गिरि लता आदि की बात ही क्या।
जो दुर्वा से द्युमणि तक है व्योम में या धरा में।
सद्भावों के सहित उनसे कार्य प्रत्येक लेना।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है सख्य नाम्नी।

जो प्राणी पुंज निज कर्म-निपीडितो से।
नीचे समाज वपु के पग सा पडा है।
देना उसे शरण मान प्रयत्न द्वारा।
है भक्ति लोक पति की पद-सेवनाख्या॥

हरिऔध जी नवधा भक्ति के उपर्युक्त स्वरूप को सिद्धान्त रूप में ही मानते रहे हो यह बात नहीं है। वास्तव में उनके जीवन में भक्ति का इसी रूप मे विकास हुआ था। वे मन, वचन और कर्म से कभी किसी का अहित नहीं चाहते थे। जो जितने अयोग्य होते थे वे उतने ही उनके लिए दया के पात्र थे। यही नही, परिवार में भी यदि कोई सदस्य अयोग्य रह गया अथवा उसे सहायता की अधिक आवश्यकता होती तो हरिऔध जी उसे अधिक महत्व देते थे। किसी भी पक्षी को पिंजडे मे बद देखकर उनका हृदय रो उठता था। वे जब फूल-पत्ती, कीडे-मकोडे को कष्ट नही पहुँचाना चाहते थे तब मनुष्य का उत्पीडन तो बहुत दूर की बात है। समाज की बहुमुखी ढग से सेवा करना, समाज से अन्याय, उत्पीडन, घृणा द्वेष को दूर करने का यत्न करना ही वे जीवन का परम धर्म समझते थे। एक लोटा जल और फल-फूल मूर्ति पर चढ़ा कर अपने धर्म की इति कर्तव्यता समझ लेना उनकी समझ के परे वस्तु थी। वे देवालयो की स्थापना को, उनके अस्तित्व को समाज के लिए आवश्यक समझते थे परतु देवालयो के प्रचलित रूप और व्यवस्था के प्रति उनके हृदय में तनिक भी अनुराग न था। वे चाहते थे कि ये देवालय वास्तविक रूप में धर्म-पीठ हों। इन स्थानो में हिन्दू धर्म के सनातन रूप की स्थापना हो और ये विद्या-सस्कृति के केन्द्र हो। जो कुछ धन आवश्यक रूप में व्यय होता है वह दीन दुखियो के जीवन

रक्षार्थ व्यय किया जाय। समय समय पर इन धर्म-पीठो मे सामाजिक उत्सवो को वे आवश्यक समझते थे। ब्राह्मणो के प्रति उनके हृदय में अगाध ममता थी परतु वे इसे भी स्वीकार करते थे कि ब्राह्मण जाति स्वत अपनी अवनति, हीनता और निरक्षरता के लिए उत्तरदायी है। धर्म के वाह्य आवरण, वाह्य तडक-भडक में उनका विश्वास न था, परतु वे यह अवश्य चाहते थे कि हमारे धर्माध्यक्ष भी रोम के पोप के समान वैभवशाली जीवन तो व्यतीत करे परतु उनका जीवन परम सात्विक और त्यागमय हो।

कृष्ण के परब्रह्मत्व मे हरिऔध जी का भले ही विश्वास न रहा हो परतु वे लोक मत का आदर करने वाले व्यक्ति थे। अन्य की किसी प्रकार की भावना को वे ठेस नही पहुँचाना चाहते थे। यही कारण है कि श्रीमती राधा द्वारा उन्होने बड़े ही कलात्मक रीति से परब्रह्म की परिभाषा कहलायी है। राधा के परब्रह्म के चित्र का अवलोकन कीजिये —

जा आता है न जन मन में जो परे बुद्धि के हैं।
जो भावो का विषय न बना नित्य अव्यक्त जो है।
है ज्ञाता की न गति जिसमे इन्द्रियातीत जो है।
सो क्या है, मै अबुध अवला जान पाऊँ उसे क्यो।
शास्त्रों में है कथित प्रभु के शीश औ लोचनो की।
सख्यायें है अमित पग औ हस्त भी है अनेकों।
सो होके भी रहित मुख से नेत्र नासादिकों से।
छूता, खाता, श्रवण करता, देखता, सूँघता है।
ताराओं में तिमिर-हर मे वह्नि-विद्युल्लता में।
नाना रत्नों, विविध मणियों में विभा है उसीकी।

पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगों में।
मैं पाती हूँ प्रथित-प्रभुता विश्व में व्याप्त की ही।

हरिऔध जी के हृदय के भावों को, उनकी धार्मिक भावना को निम्नलिखित फ़ारसी का शेर पूर्ण रूप से चित्रित करता है —

बे हिजाबी वह कि जलवा हर जगह है आशिकार।
इस पै घूँघट वो कि सूरत आज तक नादीद है।।

विश्वात्मा का रूप ही कुछ ऐसा है। उसकी झॉकी चारों ओर फैली है परन्तु उसकी स्पष्ट रूप से आज तक कोई सूरत न देख सका। राधा की कृष्ण में प्रेम तन्मयता इतनी बढ़ी कि वे प्रकृति के नाना रूपों में अपने प्रियतम की झॉकी देखने लगी —

फूली सध्या परम-प्रिय की कान्ति सी है दिखाती।
मैं पाती हूँ रजनि-तन में श्याम का रग छाया।
ऊषा आती प्रति दिवस है प्रीति से रजिता हो।
पाया जाता वर-वदन सा ओप आदित्य में है।
मैं पाती हूँ अलक-सुषमा भृग की मालिका में।
है ऑखों की सु-छवि मिलती खजनों औ मृगों में।
दोनों बाहें कलभ कर को देख हैं याद आती।
पाई शोभा रुचिर शुक के ठोर में नासिका की।

हरिऔध के विश्वात्मा का यही चित्र है। उनका प्रेम एकांगी, स्वार्थी नहीं है। राधा को मोह नहीं है। वे यह नहीं चाहती कि उनका प्रेमी उनके खूँट में बँधा रहे। उनका प्रेम बड़ा ही उदार है। सद्धर्म पर आधारित प्रेम में सकीर्णता कहाँ हो सकती है! वे उद्धव से कहती हैं—

प्यारे आवें सु-बयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंढे होवें नयन-दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ।

ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें।

विश्वात्मा और विश्व भक्ति के उपर्युक्त चित्र 'प्रियप्रवास' की विशिष्ट धार्मिक भावना को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं। वास्तव में मुक्ति का आकांक्षी और आत्मत्यागी कौन है उनके संबंध में कृष्ण के वचनामृत को देखिये —

जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है न कह सकते है उसे आत्मत्यागी।
जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि तल में आत्मत्यागी वही है।
है आत्मा का न सुख किसको विश्व के मध्य प्यारा।
सारे प्राणी सरुचि उसकी माधुरी मे बँधे है।
जो होता है न वश इसके आत्म उत्सर्ग-द्वारा।
ऐ कान्ते है सफल अवनी मध्य आना उसी का।

* * * *

इच्छा आत्मा परम हित की मुक्ति की उत्तमा है।
वांछा होती विशद उससे आत्म उत्सर्ग की है।

ईश्वर के इस लोक कल्याणकारी रूप के प्रति आकर्षण होना तो समाज, देश और विश्व की दृष्टि से अत्यन्त कल्याणकारी है। यदि विश्व में ईश्वर की इस रूप में प्रतिष्ठा हो जाय तो आज अणु और उद्जन बम की विभीषिका ही समाप्त हो जाय और सम्पूर्ण विश्व सत्य, अहिंसा और प्रेम का प्रतीक ही हो जाय।



****

'प्रियप्रवास' में युग का निदर्शन

वर्तमान युग वादो के विवाद का युग है। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक, सभी क्षेत्रों में अनेक वादो का बोल-बाला है। इन वादो का मूल जनक यूरोप है। यूरोप की हवा लगने से भारत भी वादो के वात्याचक्र मे पड कर अपनी मौलिकता कुछ अशो मे खो चुका है। ये वाद अधिकतर बौद्धिक व्यायाम के लिए अखाडों के समान हैं। इन अखाडो में कलैया कर लोग दॉव-पेंच सीखते हैं और उनका उपयोग समाज मे करते हैं। साहित्यिक भी समाज मे रहता है। उस पर यदि प्रत्यक्ष रूप से नही तो अप्रत्यक्ष रूप से समाज की हलचलो का प्रभाव पडता है। सत्कवि युग द्रष्टा होता है। उसका काव्य युग का प्रतिनिधित्व करता है अत उसकी रचना पर युग का प्रतिविम्ब पडना स्वाभाविक है। वह जो कुछ भी देखता, सुनता और अनुभव करता है उसकी उसके हृदय मे प्रतिक्रिया होती है। उन प्रतिक्रियाओ से विचारो का जन्म और उद्बोधन होता है। इन परिस्थितियो में जिन काव्यों का निर्माण होता है उनमें सचाई होती है।

जिस समय हरिऔध जी ने हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय लोगो की वृत्तियॉ कुछ अतर्मुखी हो रही थी। लोग जाति और समाज में प्रचलित अच्छाइयो और बुराइयो को बुद्धि के मान-दण्ड पर तौल रहे थे। अधिकतर नेता, जाति और समाज के उत्थान की ओर अग्रसर हो रहे थे। कही कहीं, यत्र तत्र

देश के उत्थान की बात भी साहित्य चर्चा का विषय बन रही थी, पर उस युग मे देश-भक्ति के अखाडे मे अभी कोई खुल कर खेलने के लिए आगे नही बढा था। सोई हुई हिन्दू जाति की दशा पर आँसू बहाना, प्राचीन गौरव का गान करना और उद्बोधनों द्वारा उसके जगाने का प्रयत्न करना यही काव्य का, साहित्य का, मुख्य विषय था। कहने का तात्पर्य यह है कि देश-भक्ति की भावना का सकेत अवश्य मिलने लगा था।

हरिऔध जी भी युग के साथ थे। उनकी वृत्ति भी जाति सेवा और समाज सेवा मे विशेष रूप से रमती थी। इसके अनेक कारण थे। उन पर व्यक्ति खड मे विचार किया जा चुका है। हरिऔध जी ने अपने काव्य मे कृष्ण के जाति और समाज-हितैषी-रूप का चित्रण किया है। जाति और समाज-हितैषी प्रकारान्तर से देश-हितैषी भी है, अत कृष्ण देश-हितैषी के रूप मे भी चित्रित किये गये है। परन्तु कृष्ण के देश-हितैषी रूप की अपेक्षा विश्व-हितैषी रूप का प्रियप्रवास मे अधिक चित्रण है।

हरिऔध जी के कृष्ण गोकुल-समाज मे कितने लोकप्रिय थे इसका उन्होंने विषद वर्णन किया है। उनकी लोकप्रियता के अनेक कारण थे। वे स्नेही थे, सब ब्रजवासियो के प्रेम के प्रतीक थे यह तो ठीक है परतु कृष्ण के प्रति इस अनुराग का कारण उनका केवल माधुर्य रूप ही नही है। उद्धव से गोप-मडली कहती है कि भौंरा पुष्प के रूप का ही लुब्धक नही है, वह तो उसकी सुगधि का प्रेमी है —

> प्रसून यों ही न मिलिन्द वृन्द को।
> विमोहता औ करता प्रलुब्ध है।

वरच प्यारा उसका सुगध ही।
उसे बनाता बहु प्रीति पात्र है।

विचित्र ऐसे गुण है ब्रजेन्दु के।
स्वभाव ऐसा उनका अपूर्व है।
निबद्ध सी है जिनमें नितान्त ही।
ब्रजानुरागीजन की विमुग्धता।

स्वरूप होता जिनका न भव्य है।
न वाक्य होते जिसके मनोज्ञ है।
मिली उसे भी भव-प्रीति सर्वदा।
प्रभूत प्यारे गुण के प्रभाव से।

परतु कृष्ण में तो सभी गुण वर्तमान है, उनका रूप भव्य है, उनके वाक्य मनोज्ञ है, वे गुण के निकेत और विनयी हैं। इसके उपरात, गोप उद्धव को कृष्ण के उस समाज-सेवी रूप का वर्णन करते हैं जो किसी भी व्यक्ति को परम आदरणीय बना देगा। काली नाग के विष से कलिन्दजा का जल विषाक्त हो जाता था। यहाँ तक कि पक्षी भी उसका जल पीकर उद्विग्न हो जाते थे। अनेक व्यक्ति मृत्यु के घाट उतर चुके थे —

स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा।
विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की।
विचार के प्राणि समूह-कष्ट को।
हुए समुत्तेजित वीर केशरी।

हितैषणा से निज जन्म भूमि की।
अपार आवेश हुआ ब्रजेश को।

और वे काली नाग के दहन के लिए कटिबद्ध हो गये।

उनका जाति और समाज उद्धारक रूप चमक उठा। उन्होंने गभीर स्वर में घोषणा की—

स्वजाति और जन्म-धरा निमित्त मैं।
न भीत हूँगा विकराल व्याल से।

*　　*　　*　　*

कभी करूँगा अवहेलना न मैं।
प्रधान धर्मांग-परोपकार की।

कृष्ण का यह अलौकिक समाज-सेवी रूप हमारे सम्मुख आता है। यही नहीं वे तो सर्व भूत के हित की कामना रखते है—

स-शक्त होते तक एक लोम के।
किया करूँगा हित सर्व भूत का।

कृष्ण के इस समाज और जाति सेवी रूप ने ही उन्हे गोकुल का कठहार बना दिया था। हरिऔध जी के काव्य-काल के समय अथवा उसके कुछ पूर्व केशवचद्र सेन, ईश्वरचद्र विद्यासागर, राजा राममोहन राय, महर्षि दयानन्द और महर्षि मदन मालवीय जी ऐसे जाति और समाज-सेवी देश मे वर्तमान थे। उनकी सेवाओं, उनके विचारो का हरिऔध जी पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। कृष्ण ने हथेली पर जान रखकर काली नाग का नाम तक मिटा दिया। उनके इस परम साहसिक रूप को देख कर जनता स्तब्ध हो गयी। ऐसे महाधीर सुकौशली, दिव्यधी मनुष्य के वियोग में यदि गोकुल-ग्राम की जनता दुखी होती है तो आश्चर्य क्या! परतु कृष्ण के वियोग मे वह इतनी सकीर्ण नहीं होती कि वह कृष्ण को कोसे। ब्रज की जनता उनके उपकारो की इतनी आभारी है कि वह चाहती है—

जहाँ रहें श्याम सदा सुखी रहें।
न भूल जावें निज तात-मात को।
कभी कभी आ मुख-मंजु को दिखा।
रहें जिलाते ब्रज-प्राणि-वृन्द को।

निदाघ की ज्वाला से सम्पूर्ण धरातल तप्त है। ऐसी भयकर गर्मी मे सब विश्राम कर रहे हैं। यहाँ तक कि जो ग्वाल-बाल धेनु चराने गये हैं वे भी ताप की ज्वाला के कारण वृक्षो के नीचे बैठकर समय व्यतीत कर रहे हैं। ठीक इसी समय कृष्ण को घोर शब्द सुनायी पडता है। उन्हे ज्ञात हो गया कि वन में भयकर दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी है। वे अपने बधुओ के दुख से कातर हो उठते है। वे गोप-समूह को लेकर अपने ग्वाल-बधुओ की रक्षा के लिए दौड पडते है। वहाँ पहुँच कर दावाग्नि का भयकर रूप प्रकट होता है। दावाग्नि की ज्वाला से झुलस कर ग्वाले अचेत हो कर पड़े हुए हैं। कृष्ण से यह दृश्य न देखा गया। वे अपने साथियो को ललकार कर कहते है—

चलो करें पावक में प्रवेश औ।
स-धेनु लेवें निज जाति को बचा।

यही नही, कृष्ण को जाति का ध्यान तो रहता ही है साथ ही वे ससार का कल्याण चाहते हैं—

विपत्ति से रक्षण सर्व-भूत का।
सहाय होना अ सहाय-जीव का।
उबारना सकट से स्व-जातिका।
मनुष्य का सर्व-प्रधान धर्म है।

हरिऔध जी का निम्नलिखित पंक्तियो द्वारा गोपो का आह्वान करना:—

बढ़ो करो वीर स्व जाति का भला।
अपार दोनो विध लाभ है हमें।
किया स्वकर्तव्य उबार जो लिया।
सुकीर्ति पाई यदि भस्म हो गये।

हमें भगवान कृष्ण के उस सदेश का स्मरण दिलाता है जो उन्होंने युद्ध से विरत होनेवाले अर्जुन को दिया था—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय॥

कृष्ण के इस समाज-उद्धारक रूप मे हमे तत्कालीन युग का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

ब्रज पर इन्द्र-कोप के कारण जब महा विपत्ति के बादल घिर आये और ऐसा प्रतीत हुआ मानो ब्रज-धरा महावृष्टि के कारण लुप्त हो जायगी, तब उस समय प्रियप्रवास के कृष्ण ने अपने समाज की किस तत्परता से सेवा की है उसका चित्र अलौकिक है—

यदि ब्रजाधिप के प्रिय-लाडिले।
पतित का कर थे गहते कहीं।
उदक में घुस तो करते रहे।
वह कहीं जल बाहर मग्न को।

कृष्ण एक स्थान से दौड कर दूसरे स्थान को जाते थे और—

पहुँचते बहुधा उस भाग में।
बहु अकिंचन थे रहते जहाँ।
कर सभी सुविधा सब भाँति की।
वह उन्हें रखते गिरि-अक में।

परम-वृद्ध असम्बल लोक को।
दुख-मयी विधवा रुज-ग्रस्त को।

बन सहायक ये पहुँचा रहे।
गिरि सु गह्वर मे कर यत्न वे।

उपर्युक्त पदो मे कृष्ण का उच्च कोटि का स्वय-सेवक रूप चित्रित है। उनके इस मानवीय रूप पर कौन उनके अकर्मण्य ईश्वरीय रूप को नही न्योछावर कर देगा! सात दिनो तक ब्रज को प्रलय से बचाने का उन्होने अथक परिश्रम किया परतु उन्हे तनिक भी थकान नही हुई।

कृष्ण के इस जाति-सेवी और समाज-सेवी रूप का विकास मथुरा जाने पर होता है। वहाँ वे राजनीति के पचडो मे भी पडते है और एक कुशल नेता के समान व्यवस्था स्थापित करने का यत्न करते है। ससार मे मनुष्य अधिकार और धन के कारण सम्मानित भले ही हो जाय परतु उसे समाज की श्रद्धा नही प्राप्त होती समाज की श्रद्धा और आदर तो—

'निस्वार्थभूत हित औ कर लोक सेवा' ही मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

यत वह युग समाज और जाति-सेवा का था अत उस युग के अन्य कवियो की जो रचनाएं प्रकाशित हुई है वे भी इन्ही विषयो से सबद्ध है। प्रियप्रवास से कुछ वर्षों पूर्व राष्ट्र कवि बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त की 'भारत-भारती' प्रकाशित हुई थी। 'भारत-भारती' धूमधाम से प्रकाशित हुई और उसकी लोक प्रियता अद्वितीय थी। 'भारत-भारती' मे भी कवि ने प्राचीन गौरव का गुणगान किया है और वर्तमान मे हिन्दू जाति और समाज के विभिन्न अगो का किस प्रकार पतन हुआ है इसका विवेचन किया है। भविष्य मे भारत के प्राचीन गौरव की प्राप्ति की आशा की गयी है। यह पुस्तक भी मुख्यत हिन्दू जाति और समाज के उद्बोधन के लिए लिखी गयी।

अन्य कवियो का भी काव्य-क्षेत्र इन्ही विषयो तक सीमित रहा। महात्मा गाधी की अहिंसात्मक क्रांति का अभी प्रभाव न पडा था और न इस युग मे उसने काव्य के विषय का रूप ही धारण किया था। आज के राष्ट्र कवि ने उस युग मे ब्रिटिश राज्य के विषय में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी थी—

"अन्याय यवनो का हमे निज दोष से सहना पडा।
है किन्तु नारायण अहा! न्यायी तथा सकरुण बड़ा।
देते हुए भी कर्म फल हम पर हुई उसकी दया।
भेजा प्रसिद्ध उदार जिसने ब्रिटिश राज्य यहाँ नया।

❀ ❀ ❀ ❀

उससे हमारी कीर्ति का भी हो रहा उपकार है।
बहु पूर्व चिह्नो का हुआ वा हो रहा उद्धार है।"

गुप्त जी भी हिन्दू जाति को उद्बोधित करते हुए कहते है—

"हत भाग्य हिन्दू जाति! तेरा पूर्व दर्शन है कहाँ?
वह शील शुद्धाचार, वैभव, देख अब क्या है यहाँ।"

दोनो कवि अपने युग मे अपने अपने क्षेत्र में अद्वितीय रहे हैं। इन दोनो महानुभावो ने विभिन्न मार्गों से हिन्दू-समाज और जाति मे नव चेतना उत्पन्न करने का यत्न किया जो उस युग की सब से बडी आवश्यकता थी और एक प्रकार से युग-धर्म था। इन समान-धर्मा कवियो को कितनी सफलता मिली इसका निर्णय तो उस युग का साहित्य ही कर सकता है।



****

'प्रियप्रवास' में विभिन्न रसों का निरूपण

मनुष्य की भिन्न रुचि के अनुरूप नवीन मतो और सिद्धान्तो का जन्म होता है। काव्य की आत्मा क्या है, इसके निश्चय का क्या मानदण्ड है इस सबध मे अनेक मत है। कुछ आचार्यों ने रीति को, कुछ ने वक्रोक्ति और कुछ ने रस को प्राधान्य दिया है और इन्हे काव्य की आत्मा माना है। स्वभावत वाक्य क्षेत्र मे अनेक सम्प्रदायो का अखाड़ा निर्मित हुआ। सस्कृत मे काव्यो के सबध में निम्नलिखित पाँच सम्प्रदायो का वर्णन है —

१—दण्डी, भामह और उद्भट आदि का अलकार-सम्प्रदाय।

२—कुन्तल का वक्रोक्ति-सम्प्रदाय।

३—वामन का रीति-सम्प्रदाय।

४—ध्वनिकार का ध्वनि-सम्प्रदाय।

५—भरत मुनि और विश्वनाथ का रस-सम्प्रदाय।

अनेक युगो के मथन और चितन के उपरान्त आचार्यों ने रस-समुदाय को प्रमुखता प्रदान की और इसे काव्य की आत्मा

के रूप में स्वीकार किया। अधिकाश विद्वानो का अब यही मत हो गया है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में रस का वर्णन हुआ है। साहित्य-दर्पण में उन्ही का सिद्धान्त 'वाक्य रसात्मक काव्य' के रूप में व्यक्त हुआ।

उसी साहित्यिक सामग्री को काव्य कहा जा सकता है जो सरस है। इस लिए प्रत्येक काव्य का मूल्याकन करते समय हमे इस पक्ष पर भी विचार करना आवश्यक है। सस्कृत-साहित्य मे अनेक ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होने अपनी रुचि के अनुसार रसो को प्रधानता दी है। कुछ आचार्य शृगार को रसराज कहते हैं, भवभूति का कहना है कि सब रसो मे करुण रस ही प्रमुख है और सभी रस उसी मे अन्तर्भूत है —

'एको रस करुण एव, निमित्तभेदाद् भिन्न पृथक पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥'

अर्थात् एक करुण रस ही निमित्त भेद से शृगारादि रसो के रूप मे पृथक् पृथक् प्रतीत होता है। शृङ्गार आदि रस करुण रस के ही विवर्त्त है। जैसे भॅवर, बुलबुले और तरग जल के विकार हैं। यथार्थ मे यह सब जल ही है और केवल नाम मात्र की भिन्नता है।

आश्चर्य की बात यह है कि जिस प्रकार सस्कृत का आदिम पद्य करुण रस का निदर्शन करता है उसी प्रकार फारसी का भी आदिम पद्य करुण रस प्रधान ही है —

'आँ कि अव्वल शेर गुफ्त आदम शफीअल्ला बुवद।
तवा मोजूँ हुज्जतेफरजादिये आदम बुवद ॥'

बाबा आदम के दो लडके थे उनका नाम हाबील और काबील था। क़ाबील ने हाबील को मार डाला। इस दुर्घटना से

बाबा आदम के शोक-ग्रस्त हृदय से जो उद्गार निकला वही करुण वाक्य कविता की प्रथम पक्तियाँ है। उपर्युक्त शेर का यही अर्थ है।

एक दूसरे आचार्य ने कहा कि रसो मे केवल अद्भुत रस ही सरताज है क्योकि जब तक अद्भुतता नही होगी रस की निष्पत्ति नही होगी —

'चमत्कारात् रसनिष्पत्तिरिति सूत्रार्थं पश्यतो विभावादिषु य प्रधान-तया चमत्करोति स एव रस ।'

धार्मिक क्षेत्र मे जिस प्रकार विभिन्न सम्प्रदायो के लिए खडन मडन चलता रहा उसी प्रकार साहित्यिक सम्प्रदायो के अखाडे मे भी अपने मत को श्रेष्ठ घोषित करने के लिए पर्याप्त दिनो तक कशमकश चलती रही। अन्त मे लोग इस निर्णय पर पहुँचे कि मुख्यत तीन रस ही प्रधान है और इन तीनो रसो के दो दो सहायक रस है।

शृगार रस के सहायक हास्य और अद्भुत, शात रस के सहायक करुण और वीभत्स तथा वीर रस के सहायक रौद्र और भयानक रस निश्चित हुए।

'प्रियप्रवास' से करुण रस की जो अजस्र धारा प्रवाहित होती है उसके कारण लोगो को भ्रम हो जाता है और लोग सहसा कह उठते है कि प्रियप्रवास करुण-रस प्रधान काव्य है। काव्य में कृष्ण-वियोग की कथा का वर्णन व्रजवासी करते हैं। कृष्ण के व्रज से मथुरा चले जाने के कारण सम्पूर्ण व्रज की जनता शोक में निमग्न हो जाती है। उनकी कारुणिक दशा देखकर पाठको का हृदय भी करुणा से ओत प्रोत हो जाता है। इस कारण भ्रम हो जाना स्वाभाविक है।

करुण रस का क्या मानदण्ड है, उसके क्या लक्षण हैं

पहले हम इस पर विचार कर ले उसके उपरान्त 'प्रियप्रवास' को कसोटी पर कसे। करुण रस का निम्नलिखित लक्षण है —

इष्टनाशादनिष्टाप्ते करुणाख्यो रसो भवेत्।

भावार्थ है, इष्ट नाश और अनिष्ट प्राप्ति द्वारा करुण रस की उत्पत्ति होती है।

करुण रस का स्थायी भाव शोक है। किन्तु इस बात का भी ध्यान रहना चाहिये कि इस इष्ट नाश या अनिष्ट प्राप्ति मे रति का पूर्ण अभाव होना चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो उस स्थिति में करुण रस न रह कर विप्रलभ शृगार हो जायगा। करुण रस का आलम्बन बन्धु आदि का नाश माना जाता है। दाह कर्म आदि उद्दीपन है। नियति की निन्दा, विलाप करना, ठढा सास लेना, उच्छ्वास, प्रलाप आदि करुण रस के अनुभाव है। निर्वद, मोह, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, विषाद, श्रम, उन्माद, जडता, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

शृगार रस के दो भेद होते है। एक सयोग और दूसरा विप्रलभ। विप्रलभ शृगार के चार भेद होते है —

'स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्।'

अर्थात्, १ पूर्वराग २ मान ३ प्रवास ४ करुण।

परतु एक बात ध्यान मे रखनी चाहिये। विप्रलभ शृङ्गार के इन चारो भेदो तथा स्थितियो मे रति की भावना वर्तमान रहती है। वियोगी को मिलन अथवा अपने प्रेमी के पुन. दर्शन की आशा बनी रहती है। यह 'आशा' ही ऐसा मनोभाव है कि वह विप्रलभ शृङ्गार को वियोग से उत्पन्न करुण रस से अलग रखता है। आशा और रति-भावना का घनिष्ठ सबध है। जहाँ वियोग में पुन मिलने की आशा न हो वहाँ शोक उत्पन्न

होता है। विप्रलभ और श्रृङ्गार मे बडी सूक्ष्म विभाजन-रेखा है। और यह रेखा निश्चय ही आशा पर ही आश्रित है।

'पूर्वराग' उस दशा को कहते हैं जब गुण श्रवण आदि द्वारा ही प्रेम बढकर विकसित हो जाता है। मिलन की इच्छा उत्कट रहती है परन्तु अनेक बधनो और व्यवधानो के कारण प्रेमी मिल नही पाते। जहाँ दोनो प्रेमी मिल नहीं पाते वहाँ 'पूर्वराग' की दशा होती है।

'मान'—प्रेमी और प्रेमिका दोनो के हृदय मे प्रेम का विकास रहता है परतु अकारण एक दूसरे पर कोप होता है उसे 'मान' कहते है।

'प्रवास' के कई कारण अथवा दशाएँ होती है। प्रवास, कार्यवश, शाप और भयवश, नायक के दूसरे देश में चले जाने को कहते है।

'करुण' प्रेमी और प्रेमिक दोनो मे से किसी एक के ससार से गमन को करुण विप्रलभ कहते है। परतु पुन जन्म लेकर मिलने की आशा बनी रहती है। इस 'आशा' के कारण विप्रलभ शृगार बना रहता है। नही तो यह करुण रस का रूप धारण कर लेता।

विप्रलभ शृगार के भेदो पर विचार कर लेने के पश्चात् मुख्यत हमें 'प्रवास' के सबध मे विस्तार से विचार करना है। प्रवास की दस दशाएँ होती है।

१ अभिलाष २ चिता ३ स्मरण ४ गुण-कथन ५ उद्वेग, ६ प्रलाप ७ उन्माद ८ व्याधि ९ जड़ता और १० मरण:—

अभिलाषश्चिंतास्मृतिगुणकथनोद्वेगसम्प्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशा ॥

'प्रियप्रवास' में इसी प्रवास नामक विप्रलभ शृङ्गार की प्रधानता है। कार्यवश कृष्ण को मथुरा जाना पडता है। वे वहाँ कार्य मे अत्यन्त व्यस्त हो जाते है। उन्हे अपनी मातृभूमि लौट कर आने का अवसर नही प्राप्त होता। श्रीमती राधा के प्रणय-सूत्र मे वे पहले ही आबद्ध हो चुके थे। मथुरा-गमन से दोनो का मिलन कठिन हो गया। इस वियोग के फलस्वरूप राधा कभी उन्मत्तावस्था मे पवन को दूती बनाकर अपना सदेश कहलाती है और कृष्ण के प्रिय और विचरण करने वाले स्थानो मे अपना समय व्यतीत करती है।

राधा का कृष्ण से बाल्यावस्था मे ही प्रेम हो गया था। काल पाकर युवावस्था में वही प्रेम प्रणय के रूप में परिवर्तित हो गया। राधा स्वय अपनी सखी से कहती है —

प्रिय-विरह घटायें घेरती आ रही है।
घहर घहर देखो है कलेजा कँपाती॥
हृदय चरण में तो मै चढा ही चुकी हूँ।
सविधि-वरण की थी कामना और मेरी॥
पर सफल हमें सो न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाग मे जो लिखा है॥

उनका बाल स्नेह किस प्रकार प्रणय में परिवर्तित हुआ, उसकी क्या परिस्थितियाँ थी देखिये —

युगल का वय साथ सनेह भी, निपट नीरवता सह था बढा।
फिर यही बर बाल सनेह ही, प्रणय मे परिवर्तित था हुआ॥
बलवती कुछ थी इतनी हुई, कुँवरि प्रेम लता उर-भूमि में।
शयन भोजन क्या, सब काल ही, वह बनी रहती छवि-मत्त थी॥

राधा ही नही ब्रज की अनेक बालाएँ कृष्ण से प्रेम का संबध

स्थापित कर चुकी है। उनकी व्यथा राधा से किसी प्रकार कम नहीं। एक क्षण के लिए कृष्ण उनकी आँखों से ओझल नही हो पाते। कृष्ण-सखा उद्धव, गोपियो को ज्ञान का, योग का उपदेश देकर शात करना चाहते हैं, परतु वे कहती है—

कोई ऊधो यदि यह कहे काढ दें गोपिकाएँ।
न्यारा न्यारा निज हृदय तो वे उसे काढ देंगी॥
हो पावेगा न यह उनसे देह मे प्राण होते।
उद्योगी हो हृदय तल मे श्याम को काढ देवें॥

शृगार का स्थायी भाव 'रति' है। नायक और नायिका आलम्बन है। चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर, उपवन, शीतल पवन आदि उद्दीपन, प्रेम पूर्ण भृकुटि-विलास अनुभाव, उग्रता आलस्य और मरण इनको छोडकर अन्य सब व्यभिचारी भाव इसमे व्यवहृत होते है। अब हम कुछ उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर देना चाहेगे कि प्रियप्रवास मे विप्रलभ शृगार ही प्रधान है—

रो रो चिंता सहित दिन को रात्रिका थी बिताती।
आँखो को थी सजल रखती, उन्मना थी दिखाती।
शोभा वाले जलद-वपु की हो रही चातकी थी।
उत्कण्ठा थी परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थी।

श्रीकृष्ण-वियोग-विह्वला राधा की दशा का यह मूर्त रूप है। उनके प्रियतम कार्य-वश मथुरा चले गये हैं। राधिका की कृष्ण विषयक 'रति' स्थायी भाव है। कृष्ण आलम्बन विभाव हैं। शीतल पवन, उपवन, ब्रज का शोक आदि उद्दीपन विभाव है। स्मरण, विषाद और चिता सचारी भाव हैं। इस प्रकार यहाँ पूर्ण रूपसे विप्रलभ शृगार की स्थापना हो जाती है। 'शोभा वाले

जलद वपु की हो रही चातकी थी' इस वाक्य से राधा की अभिलाषा प्रकट होती है।

राधा की व्यथा ही गोपियों की व्यथा है। राधा की कठिनाई गोपियों की कठिनाई है। बादलों को देखकर कृष्ण का स्मरण आने से व्याकुल एक गोपी कहती है —

क्यों तू हो के परम प्रिय सा वेदना है बढाता।
तेरी सज्ञा सलिल धर है और पर्जन्य भी है।
ठढा मेरे हृदय तल को क्यों नही तू बनाता।
तू केकी को स्वछवि दिखला है महा मोद पाता।
वैसा ही क्यों मुदित तुझसे है पपीहा न होता।
क्यों है मेरा हृदय दुखता श्यामता देख तेरी।

एक और उदाहरण देखिये —

ऐसा कुजें ब्रज अवनि में है अनेको जहाँ जा।
आ जाती है युगल दृग के सामने मूर्ति न्यारी॥
प्यारी लीला उमग जसुदा लाल ने है जहाँ की।
ऐसी ठौरों ललक दृग है आज भी मग्न होते।

इस पद्य मे भी कृष्ण विषयक रति स्थायी भाव है। कृष्ण आलबन, कुजे और लीला स्थलियाँ उद्दीपन विभाव, कृष्ण का स्मरण आना सचारी भाव है। प्रियप्रवास मे आदि से अन्त तक विप्रलभ श्रृगार की ही प्रधानता है। इसी विप्रलभ श्रृगार को ही ध्यान मे रखकर कवि ने अपने काव्य का नामकरण 'प्रियप्रवास' किया।

विप्रलभ श्रृगार के उपरान्त प्रियप्रवास में करुण रस की ही प्रधानता है। करुण रस का एक उदाहरण देखिये —

आवेगों के सहित बढता देख सताप-सिंधु ।
धीरे धीरे ब्रज नृपति से खिन्न अक्रूर बोले ।
देखा जाता ब्रज दुख नहीं शोक है वृद्धि पाता ।
आज्ञा देवें जननि पग छू यान पै श्याम बैठें ।
आज्ञा पा के निज जनक की मान अक्रूर बातें ।
जेठे भ्राता सहित जननि-पास गोपाल आये ।
छू माता के पग कमल को धीरता साथ बोले ।
जो आज्ञा हो जननि अब तो यान पै बैठ जाऊँ ।
दोनो प्यारे कुँवरवर के या बिदा माँगते ही ।
रोके आँसू जननि दृग मे एक ही साथ आये ।
धीरे बोली परम दुख से जीवनाधार जाओ ।
दोनों भैया विधु मुख हमें लौट आ के दिखाओ ।
धीरे धीरे सु पवन बहे स्निग्ध हो अंशुमाली ।
प्यारी छाया विटप वितरें शान्ति फैले वनों में ।
बाधायें हों शमन पथ की दूर हो आपदायें ।
यात्रा तेरी सफल सुत हो क्षेम से गेह आओ ।
ले के माता-चरण रज को श्याम औ राम दोनों ।
आये विप्रों निकट उनके पाँव की वन्दना की ।
भाई बन्दों सहित मिलके हाथ जोड़ा बड़ों को ।
पीछे बैठे विशद रथ में बोध दे के सबो को ।
दोनो प्यारे कुँवरवर को यान पै देख बैठा ।
आवेगों से विपुल विवशा हो उठी नन्द-रानी ।
आँसू आते युगल दृग से वारि-धारा बहा के ।
बोलीं दीना सदृश पति से दग्ध हो हो दुखो से ।

उपर्युक्त पदों में माता यशोदा और कृष्ण आलबन हैं । माता

से आज्ञा माँगना, रथ पर बैठ जाना आदि उद्दीपन है। आँखो का आँसू से सिक्त हो जाना, दु ख से दैन्य हो जाना तथा पति से व्यथा का वर्णन करना अनुभाव है। चिता करना और विशेष दु.ख, सचारी भाव है। 'शोक' स्थायी भाव है।

'प्रियप्रवास' में वीर रस की विभिन्न रूपो में अभिव्यक्ति हुई है। युद्ध-वीर का एक चित्र देखिये —

क्षमा नहीं है खल के लिए भली।
समाज उत्पादक दण्ड-योग्य है।
कुकर्म-कारी नर का उबारना।
सुकर्मियों को करता विपन्न है।

अरे अत पामर सावधान हो।
समीप तेरे अब काल आ गया।
न पा सकेगा खल आज त्राण तू।
सम्हाल तेरा वध वाछनीय है।

सदर्प बातें सुन श्याम-मूर्ति की।
हुआ महा क्रोधित व्योम विक्रमी।
उठा स्वकीया-गुरु-दीर्घ यष्टि को।
तुरन्त मारा उसने ब्रजेन्द्र को।

अपूर्व आस्फालन साथ श्याम ने।
अतीव लावी वह यष्टि छीन ली।
पुन उसी के प्रबल प्रहार से।
निपात उत्पात निकेत का किया॥

इन पदों में व्योमासुर आलम्बन विभाव है। उसका भयंकर क्रोध और प्रहार करना उद्दीपन विभाव है। कृष्ण का

गर्व करना, असूया दर्प आदि संचारी है। यष्टि को छीनकर दैत्य पर प्रहार करना अनुभाव है, 'उत्साह' स्थायी भाव है।

हरिऔध जी ने कृष्ण के दया वीर रूप का अद्भुत वर्णन किया है। उनका परम साहसिक रूप देखकर चकित रह जाना पड़ता है। ग्वालबालों का दावानल में जलना, उनका चीत्कार, उनकी आर्तध्वनि सुनकर दया उमडी पडती है। सबकी यह दयनीय दशा देकर कृष्ण का उत्साह दुगुना हो जाता है। वे लोगों को उत्साह दिलाते हुए दावानल में कूद पडते हैं। उनका धैर्य, उनकी बुद्धिमत्ता अद्वितीय है। देखिए --

यहा विलोका करुणा-निकेत ने।
गवादि के साथ स्वबन्धु वर्ग को।
शिखाग्नि द्वारा जिनकी शनैं शनैं।
विनष्ट संज्ञा अतिकाश थी हुई॥

निरर्थ चेष्टा करते विलोक के।
उन्हे स्वरक्षार्थ दवाग्नि गर्भ से।
दया बडी ही ब्रज देव को हुई।
विशेष देख उन्हें असक्त सा॥

अत सबों से यह श्याम ने कहा।
स्व जाति-उद्धार महान धर्म है।
चलो करें पावक में प्रवेश औ।
स-धेनु लेवें निज जाति को बचा।

विपत्ति से रक्षण सर्व भूत का।
सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का।
मनुष्य का सर्व प्रधान धर्म है।

बिना न त्यागे ममता स्व-प्राण की।
बिना न जोखों ज्वलदग्नि में पड़े।
न हो सका विश्व महान कार्य है।
न सिद्ध होता भव जन्म हेतु है।

बढ़ो करो वीर स्वजाति का भला।
अपार दोनों विधि लाभ है हमें।
किया स्वकर्तव्य उबार जो लिया।
सुकीर्ति पायी यदि भस्म हो गये।

पृथ्वी पर फैले हुए अनाचारो का नाश करना तथा दुष्टो को दण्ड देकर उन्हे ठीक मार्ग पर लगाना महापुरुषो का कार्य है। कृष्ण के धर्म वीर रूप का चित्राकन देखिये —

मारा मल्लो सहित गज को कस से पातकी को।
मेटी सारी नगर वर की दानवी-आपदायें।
छाया सच्चा सुयश जग में कीर्ति की बेलि बोयी।
जो प्यारे ने स पति दुखिया-देवकी को छुड़ाया।

कृष्ण के दीन बन्धु होने मे किसी को क्या सदेह हो सकता है। वे तन, मन, वचन से दीनो की सेवा मे निरत रहने मे अपने जीवन की सार्थकता मानते हैं। निम्नलिखित पद्य में उनके अपूर्व त्याग का उत्साह स्थायी भाव है। भूखे और दीन जन आलम्बन विभाव हैं। कृष्ण की सेवा में निरत रहने की प्रवृत्ति उद्दीपन विभाव है। प्रसन्नता, धीरज और मृदु वचन सचारी भाव है। एक उदाहरण देखिए —

सुन कर वह प्राय गोप के बालको से।
दुखमय कितने ही गेह की कष्ट-गाथा।

वन तज उन गेहो मध्य थे शीघ्र जाते।
नियमन करने को सर्ग सभूत बाधा।
यदि अनशन होता अन्न औ द्रव्य देते।
रुज प्रसित दिखाता औषधी तो पिलाते।
यदि कलह वितण्डावाद की वृद्धि होती।
वह मृदु वचनो से तो उसे भी भगाते।

वासना-मूर्तियों को देखकर आकर्षित न होना, ज्ञान के आधार पर सयम बनाये रखना आलम्बन है। योग का अभ्यास उद्दीपन है। दु ख-नाश द्वारा उत्पन्न होने वाला रोमाञ्च अनुभाव है। हर्ष आदि सचारी भाव है। पूर्ण शाति का प्राप्त करना स्थायी भाव है। अत निम्नलिखित पद्य मे शात रस का निदर्शन हुआ है —

धीरे-धीरे भ्रमित-मन को योग द्वारा सँभालो।
स्वार्था को भी जगत-हित के अर्थ सानन्द त्यागो।
भूलो मोहो न तुम लख के वासना-मूर्तियो को।
यों होवेगा दुख शमन औ शान्ति न्यारी मिलेगी।

अद्भुत रस का एक उदाहरण देखिए —

पहुँचते वह थे शर-वेग से।
विपद-सकुल आकुल-ओक में।
तुरत थे करते वह नाश भी।
परम-वीर समान विपत्ति का॥

लख अलौकिक-स्फूर्ति सु-दक्षता।
चकित स्तभित गोप-समूह था।
अधिकत बँधता यह ध्यान था।
ब्रज-विभूषण हैं शतश बने॥

सधन गोधन को पुर ग्राम को।
जलज लोचन ने कुछ काल में।
कुशल से गिरि मध्य बसा दिया।
लघु बना पवनादि-प्रमाद को॥

श्री कृष्ण का अद्भुत त्वरा के साथ लोगो को बचाकर गोवर्धन में बसा देना आलबन है। विपत्ति के स्थानों में तीर की गति से पहुँचना और वहाँ से लोगो को हटाकर ले जाना कि लोग यह समझने लगें कि एक नही अनेक कृष्ण कार्य-रत हैं उद्दीपन विभाव है। लोगो का चकित रह जाना अनुभाव है। कृष्ण के संबंध में अनेक तर्कादि, हर्ष, सचारी भाव है। आश्चर्य स्थायी भाव है।

वीर और बीभत्स के योग से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। गोकुल में भयकर दावानल प्रज्वलित हो उठा है। सम्पूर्ण नभचर और थलचर अग्नि मे जल रहे है। कितने जीव-जन्तु प्राण रक्षा के लिए इधर उधर भाग रहे है —

प्रवाहिता उद्धत तीव्र वायु से।
विधूनिता हो लपटें दवाग्नि की।
नितान्त ही थी वनती भयकरी।
प्रचड-दावा-प्रलयकरी समा।

अनन्त ये पादप दग्ध हो रहे।
असख्य गाँठें फटती स-शब्द थीं।
विशेषत वश-अपार-वृक्ष की।
वनी महा-शब्दित थी वनस्थली।

अपार पक्षी पशु त्रस्त हो महा।
स-व्यग्रता ये सब ओर दौड़ते।

नितान्त हो भीत सरी सृपादि भी ।
बने महा व्याकुल भाग थे रहे ।

समीप जा के बलभद्र-बधु ने ।
वहाँ महा-भीषण काड जो लखा ।
प्रवीर है कौन त्रिलोक मध्य जो ।
स्व-नेत्र से देख उसे न काँपता ।

उपर्युक्त पद में दावाग्नि की ज्वालाएँ आलम्बन विभाव हैं । वृक्षो तथा जीव जन्तुओ का जलना, चरचराहट का भैरवनाद उद्दीपन विभाव है । जीवो और गो-रक्षको का विचलित होना, उनका काँपना, होशहवास खो देना आदि अनुभाव हैं । आवेग, स्मृति, त्रस्त हो जाना सचारी भाव है । भय स्थायी भाव है ।

काली नाग के आतक से सारा ब्रज त्रस्त था । उसके कारण ब्रजवासियो का जीवन विषमय हो गया था । उसके दलन के लिए बढे कृष्ण का रौद्र रूप देखते ही बनता है । निम्नाकित पदो मे काली नाग आलम्बन, सर्प की फूत्कार, अपनी जाति की विगर्हणा, जनता का भयकर कष्ट, लोगो की दुर्दशा, उद्दीपन विभाव हैं । अत्यत आवेश में हो जाना, भृकुटि का बक होना नेत्रो का लाल लाल हो जाना, जोश के कारण कर्तव्य का प्रतिज्ञा रूप में कथन आदि अनुभाव है । कृष्ण के हृदय मे जो क्रोध उत्पन्न हुआ है वह स्थायी भाव है । मद, अमर्ष, उग्रता आदि सचारी भाव हैं, अत निम्न पदों मे रौद्र रस का सजीव चित्र अकित हो गया है —

स्व-जाति की देख अतीव दुर्दशा ।
विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की ।

विचार के प्राणि समूह-कष्ट को।
हुए समुत्तेजित वीर केशरी।
हितैषणा से निज जन्म भूमि की।
अपार आवेश हुआ ब्रजेश को।
बनीं महा बक गँठी हुई भवें।
नितान्त विस्फारित नेत्र हो गये।

इसी घड़ी निश्चित श्याम ने किया।
सशकता त्याग अशक-चित्त से।
अवश्य निर्वासन ही विधेय है।
भुजग का भानु-कुमारिकाक से।
अत करूँगा यह कार्य मैं स्वय।
स्व-हस्त मे दुर्लभ प्राण को लिए।
स्वजाति औ जन्म-धरा निमित्त मैं।
न भीत हूँगा विकराल-व्याल से।

सदा करूँगा अपमृत्यु सामना।
स भीत हूँगा न सुरेन्द्र-वज्र से।
कभी करूँगा अवहेलना न मैं।
प्रधान-धर्मांग परोपकार की।

हास्य का 'हास' स्थायी भाव है। दानवादि आलबन विभाव हैं। उनका मुँह बिचकाना, मुँह फैलाना आदि उद्दीपन हैं। मुख-मण्डल का प्रसन्न होना अनुभाव है। चपलता, औत्सुक्य आदि सचारी हैं। एक उदाहरण —

वह विविध कथाएँ देवता दानवों की,
अनुदिन कहते ये मिष्ठता मञ्जुता से।

****

'प्रियप्रवास' में प्रकृति-चित्रण

प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक 'मैथ्यू आर्नल्ड' का कहना है— 'कविता जीवन की आलोचना है'—(पोयट्री इज क्रिटिसिज्म ऑव लाइफ)। परतु मानव जीवन तो, शून्य भीत्ति पर चित्र नही ही है। मानव हृदय की प्रगति निरपेक्ष नहीं होती। मनुष्य के हृदय की तंत्री का तार केवल मनुष्य के अतर से ही सबधित नही। उसका सबध और भी अनेक वस्तुओ से होता है। मानव हृदय जब तक प्रकृति के नाना रूपो का अवलोकन कर तन्मय न हो जाय तब तक उसका पूर्ण विकास नहीं स्वीकार किया जा सकता। यत मनुष्य तथा मनुष्येतर दोनो ही हृदय एक ही ब्रह्म की सृष्टि के दो पृथक रूप हैं अत. हमारे कवि, मनीषी तथा उच्च कलाकार प्रकृति की रगशाला में जीवन को एक पात्र बना कर जीवन की समालोचना करते थे। जीवन की आलोचना की पीठिका प्रकृति होती है। मनुष्य जब उत्फुल्ल वदन दीख पडता है

तब प्रकृति बिहँस पडती है। मनुष्य जब रुदन करता है तब वह उसकी समवेदना में रुदन करती है। जब वह दुख से, पीडा से, नतमस्तक होकर श्रात हो जाता है तब प्रकृति भी वैसे ही दृश्य उपस्थित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का प्रकृति से अभिन्न और अविछिन्न सबध है। जिस प्रकार शिशु की शैशव-सुलभ सरलता क्रूर से क्रूर व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है उसी प्रकार प्रकृति का शाश्वत सौन्दर्य हठात मनुष्य को अपनी ओर खीच लेता है।

हरिऔध जी ने प्रकृति का कुछ इसी प्रकार का सवेदनात्मक चित्र प्रियप्रवास मे आद्यन्त चित्रित किया है। उन्होने प्रत्येक सर्ग के पूर्व प्रकृति की रगशाला का निर्माण कर दिया है और इस रंगशाला मे आकर अनेक पात्र अपने जीवन का नाटक अभिनीत करते है। 'प्रियप्रवास' की प्रथम पक्तियाँ ही क्या भावी विरह-व्यापी घटना का सकेत नही करती !

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा।

प्रकृति के इस भौतिक वर्णन में क्या सूक्ष्म रीति से कवि ने राधा की मानवीय प्रकृति का वर्णन नही किया है? आज इस दिवस-अवसान के समय कमलिनी राधा के कुल-वल्लभ कृष्ण के साथ रहने का समय समाप्त नही हो रहा है? अवश्य ही उस दिवस के अवसान का समय भी समीप आ रहा है। राधा का हृदयाकाश, क्या अन्तर्दाह से उनके हृदय के वियोग की ज्वाला से, लोहित नहीं हो चला है! कवि का कथा की ओर कैसा सूक्ष्म

सकेत है । प्रियप्रवास की यह अपनी विशेषता है कि इस काव्य की आधार पीठिका प्रकृति पर ही आश्रित है ।

प्रियप्रवास आरभ से अन्त तक राधा-कृष्ण की प्रणय-गाथा है। स्वभावत उसमे प्रकृति के प्रति रति-जन्य प्रवृत्ति की प्रधानता है, परन्तु एक बात महत्वपूर्ण है। प्रियप्रवास की प्रणय-कथा करुण कथा है अत इस काव्य में प्रकृति का उल्लसित अश हमें नही दीख पडता। बेचारी राधा के भाग्य में वह दिन कभी न आया जब उसके आनन्द मे विभोर होकर सध्या अथवा उषा की लालिमा प्रगाढ़ हो उठे। उसने भाग्य का वह दिन देखा ही नहीं जब कि उसकी प्रसन्नता से वृक्षो पर बैठे खग-कुल कलरव कर उठे। सच तो यह है कि राधा अपने जीवन के स्वर्णिम प्रभात की आशा लगाये बैठी ही रह गयी और उन पर वज्रपात हुआ। अत प्रकृति के करुण अग का ही विकास प्रियप्रवास मे हो सका है। कृष्ण के ब्रज से मथुरा जाने की बात सुनकर राधा कहती है—

यह सकल दिशायें आज रो सी रही है।
यह सदन हमारा, है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नही है।
विजन-विपिन में है भागता सा दिखाता।

*   *   *

सब-नभ-तल-तारे जो उगे दीखते हैं।
यह कुछ ठिठके से सोच में क्यो पडे हैं।
ब्रज-दुख अवलोके क्या हुए हैं दुखारी।
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं।

रह रह किरणें जो फूटती है दिखाती।
वह मिष इनके क्या बोध देते हमे है।
कर वह अथवा या शान्ति का है बढाते।
विपुल व्यथित जीवो की व्यथा मोचने को।
दुख अनल शिखायें व्योम मे फूटती है।
यह किस दुखिया का है कलेजा जलाती।
अहह अहह देखो टूटता है न तारा।
पतन दिल जले के गात का हो रहा है।

सहज रूप मे प्रकृति का रूप ऐसा नही है कि वह मनुष्य के व्यवस्थित हृदय मे विकार या उसमें किसी प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न करे परतु उसमे यह शक्ति तो है ही कि वह मनुष्य के विकारमय चित्त की उद्विग्नता में अभिवृद्धि कर दे अव्यवस्था को बढा दे। ऐसे अवसरो पर प्रकृति उद्दीपन का काम करती है। कृष्ण के वियोग से मर्माहत गोपियो को बहुत दिनो तक प्रकृति के उपर्युक्त रूप का ही आभास मिलता रहा—

नीला-प्यारा उदक सरि का देख के एक श्यामा।
बोली हो के विरस वदना अन्य-गोपागना से।
कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता।
लीला-मग्ना जलद-तन की मूर्ति है याद आती।

राधा के हृदय को प्रकृति कितना आतुर बना देती है और उनकी भावना को कितना उद्दीप्त करती है यह देखिए—

जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
तो उत्कण्ठा-विवश चित में आज भी सोचती हूँ।
होते मेरे अबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यो ही मैं स-मुद उड़ती श्याम के पास जाती।

मानसिक वृत्तियो की पीठिका पर आधारित प्रकृति-चित्र मानसिक स्थिति मे परिवर्तन होते ही विलुप्त हो जाता है और प्रकृति का सहज स्वाभाविक रूप हमारे सम्मुख आ जाता है। प्रकृति के इस प्रकार के चित्र कम प्रभावकर नही होते। उपवन के खिले पुष्प, सरिता का कल-कल निनाद, पादपावलियो पर बैठे खग-समूह का कलरव गान, किसके मन को शाति नही प्रदान करते। प्रकृति के इन चित्रो में मनुष्य के हृदय का मनोरजन करने की अपूर्व क्षमता है। प्रियप्रवास में प्रकृति के इस प्रकार के चित्रो की भी अधिकता है और कवि ने बड़ी सहृदयता और कलात्मक रीति से इन चित्रो का अकन किया है। वृन्दावन के सुन्दर रूप की यह अनुपम सृष्टि कितनी मनोहारी है—

हरीतिमा का सुविशाल सिन्धु सा।
मनोज्ञता की रमणीय भूमि सा।
विचित्रता का शुभ-सिद्ध पीठ सा।
प्रशान्त वृन्दावन दर्शनीय था।

कलोलकारी खग - वृन्द - कूजिता।
सदैव सानन्द मिलिन्द गुजिता।
रही सुकुन्जें वन में विराजिता।
प्रफुल्लिता पल्लविता लतामयी।

कई निराले तरु चारु अक में।
लुभावने - लोहित पत्र थे लसे।
सदैव जो थे करते विवर्द्धिता।
स्व-लालिमा से वन की ललामता।

* * *

अश्वेत ऊदे अरुणाभ बैंगनी।
हरे अबीरी सित पीत सन्दली।
विचित्र वेशी बहु अन्य वर्ण के।
विहग से थी लसिता वनस्थली।

मनुष्य की विकारमय मनोवृत्ति के कारण प्रकृति का जो चित्र सम्मुख आता है वह विकारो को उद्दीप्त भले ही कर दे किन्तु उसके चित्र का पूर्ण विकास नही हो पाता। वृन्दावन का चित्रण विकारहीन है, सहज और स्वाभाविक है। परन्तु इस चित्रण के विकारहीन होने का यह अर्थ नही है कि इस चित्र मे मानव-हृदय की जिन परिस्थितियो का सकेत मिलता है वह उसे अकर्मण्य बना देती है, इसके विपरीत इस प्रकार की परिस्थितियाँ अथवा चित्र, मनुष्य का प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने मे सहायक होते है। मानव हृदय और प्रकृति के बीच जो व्यवधान है उसे दूर करने तथा सहानुभूति उत्पन्न करने का अवसर देता है। प्रकृति मे मानवीय गुणो का सन्निवेश करना सहानुभूति की प्रथमावस्था है। वृन्दावन के उपर्युक्त चित्र मे हमें इस प्रवृत्ति का अनुभव होता है।

प्रियप्रवास की सब से बडी विशेषता है उसका प्रकृति चित्रण। निम्नलिखित सूची से प्रकट हो जायगा कि प्रियप्रवास की कथा का आधार प्रकृति-चित्रण ही है। इस सूची मे प्रियप्रवास के सर्गों की प्रथम पक्तिया उद्धृत हैं —

१—सर्ग—'दिवस का अवसान समीप था।'
२— " —'गत हुई अब थी द्विघटी निशा।'
३— " —'समय था सुनसान निशीथ का।'
५— " —'तारे डूबे तम टल गया छा गयी व्योम लाली।'

६—सर्ग—'धीरे धीरे दिन गत हुआ पद्मिनीनाथ डूबे ।'
७— " —'ऐसा आया यक दिवस जो था महा मर्मभेदी ।'
१०— " —'त्रिघटिका रजनी गत थी हुई ।'
११— " —'यक दिन छविशाली अर्कजा कूल वाली ।'
१२— " —'सरस सुन्दर सावन मास था ।' (दूसरा पद्य)
१४— " —'कालिन्दी के पुलिन पर थी एक कुजातिरम्या ।'
१५— " —'छायी प्रात सरस छवि थी पुष्प औ पल्लवों में ।'
१६— " —'विमुग्धकारी मधु मजु मास था ।'

प्रियप्रवास के पात्र प्रकृति के साथ हाथ में हाथ मिलाकर जीवन-यापन करते दीख पडते है। इसका परिणाम यह होता है कि मानव और प्रकृति-हृदय का अपूर्व गँठबधन काव्य मे हुआ है। काव्य मे मानव-हृदय प्रकृति के साथ इतना अभिन्न हो गया है कि उसमे और प्रकृति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं दीख पड़ता। कहना चाहे तो कह सकते है की दोनों मे तादात्म्य का सबंध स्थापित हो जाता है। इस तादात्म्य के कारण ही मनुष्य को —

"रहस्य से शून्य न एक पत्र है—"

या

'ज्ञाताओं ने विशद इसका मर्म यों है बताया।
सारे प्राणी अखिल जग के मूर्तियाँ है उसीकी ।"

कवि 'अखिल जग के' समस्त प्राणी और निर्जीव पत्र में एक हृदय का अनुभव करता है। वह एक दूसरे को सवेदना के बधन मे बाँध देता है। कृष्ण मथुरा जाने वाले हैं, कृष्ण के गमन का समाचार सुन कर राधा का कलेजा काँप उठा, उन्हे रात भर बेकली रही। उनकी इस बेकली को देख कर ही आकाश के तारे काँप उठते है:—

उडुगन थिर से क्यों हो गये दीखते है ।
यह विनय हमारी कान में क्या पड़ी है ?
रह रह इनमें क्यों रंग आ जा रहा है ।
कुछ सखि ! इनको भी हो रही बेकली है ।

राधा को जब आशा के कारण अपने कष्ट के अन्त की संभावना प्रतीत होती है तब —

'प्यारी आशा-पवन जब थी डोलती स्निग्ध होके ।
तो होती थी अनुपम छटा बाग के पादपों की ।
हो जाती थी सकल लतिका वेलियाँ शोभनीया,
सद्भावों के सुमन बनते थे बड़े सौरभीले ।

यही नहीं, मनुष्य और प्रकृति के हृदय के तादात्म्य को राधा कितने सुन्दर ढंग से चम्पा से कहती है । उनकी दृष्टि में चम्पा-पुष्प-लता नही सगी बहिन है । राधा उससे कहती है —

'मेरी तेरी बहुत मिलती वेदनायें कई है ।
आ रोऊँ ऐ भगिनि ! तुझको मैं गले से लगा के ।'

उद्धव जब वृन्दावन की यात्रा कर रहे थे तब गोपियों के हृदय में प्रतिष्ठित अनन्य प्रेम की प्रतिच्छाया उन्होंने भौतिक जगत में भी देखी —

'कहीं कपोती स्व कपोत को लिए,
विनोदिता हो करती विहार थी ।
कहीं सुनाती निज कंत साथ था ।
स्व-काकली को कल कंठ कोकिला ।'

कृष्ण के वियोग में भानुजा की यह दशा है —

'चिन्ता की सी कुटिल उठतीं अंक में जो तरंगें ।
वे थीं मानों प्रकट करतीं भानुजा की व्यथायें ।

धीरे धीरे मृदु पवन में चाव से थी न डोली।
शाखाओं के सहित लतिका शोक से कम्पिता थी।
सारा नीला-सलिल सरि का शोक-छाया पगा था।
कजों में से मधुप कढ के घूमते थे भ्रमे से।
मानों खोटी विरह घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनत-मुखी कान्तिहीना मलीना ॥

प्रकृति की इस सहानुभूति का बडा मूल्य है। जन साधारण की दृष्टि में प्रकृति चेतना-शून्य है। ऐसी दशा में उससे किसी प्रकार की सहानुभूति की आशा नही की जानी चाहिये। काव्यो मे इस प्रकार के वर्णन द्वारा कवि असभव को सभव बनाकर नायक और नायिका के प्रति जनता की सहानुभूति को उद्वेलित करता है। वह यह दिखलाता है कि जड और चेतन सभी नायक के दुख से दुखी होते है। इस प्रकार के वर्णनो द्वारा कवि नायक और नायिकाओ के कार्यो का समर्थन भी करता है। किन्तु प्रकृति का केवल इसी रूप में वर्णन करना उचित नही।

प्रकृति का केवल जड रूप ही नही है। उसके जड स्वरूप को ही प्रधानता देना अज्ञान का परिचायक है। प्रारभ मे महाकवि वर्ड्सवर्थ भी प्रकृति के जड रूप के प्रति आकर्षित हुआ था परतु क्रमश उसकी अनुभूतियो का विकास हुआ। जड प्रकृति का सौंदर्य उसे सतुष्ट न कर सका। अनुभूति के विकास ने उसके सम्मुख प्रकृति के उस रहस्य का उद्घाटन किया जो मनुष्य को उन्नत बनाती है, जो उसे साधारण घृणित जीवन से ऊपर उठाती है।

हरिऔध जी ने भी प्रकृति के उस उन्नायक स्वरूप का वर्णन किया है। प्रकृति के इसी रूप ने व्रज के निवासियो, माता यशोदा

और राधा के चित्त की दुर्बलता समाप्त कर उन्हे चरित्र-सबधी अपूर्व शक्ति प्रदान की। यदि प्रकृति के विकार-युक्त रूप से ही इन लोगो का सम्पूर्ण जीवन प्रभावित रहता तो उनका जीना दूभर हो जाता और सम्पूर्ण जीवन शक्ति का क्षय होता। यही नही, काव्य का रूप भी विकृत हो जाता। काव्य की कलात्मकता भी समाप्त हो जाती।

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नही कि प्रकृति के सवेदनशील स्वरूप का कोई महत्व नही या इस प्रकार के चित्रो में कलात्मकता नही होती। हमारा कहने का केवल यही तात्पर्य है कि प्रकृति के सवेदनशील चित्राकनो की एक सीमा होनी चाहिये। सवेदनात्मक चित्रो का भी इस प्रकार विकास होना चाहिये कि वह मनुष्य को अमर आनन्द प्रदान कर सके। उसे साधारण जीवन स्तर से ऊपर उठा सके। प्रकृति ने राधा के व्याकुल हृदय को वह अमर आनन्द प्रदान किया जिससे उनका साधारण भौतिक सुख समाप्त हुआ और वे विश्वात्मा में लीन हुए। यदि ऐसा न होता तो राधा का चित्र तो असफल होता ही प्रियप्रवास की महत्ता भी समाप्त हो जाता। प्रकृति ने किस प्रकार राधा की समस्या को हल किया और उनके जीवन का उन्नयन किया इसका उदाहरण देखिये —

'कजों का या उदित विधु का देख सोदर्य आँखों,
या कानो से श्रवण करके गान मीठा खगों का।
मै होता थी व्यथित, अब हूँ शान्ति सानन्द पाती,
प्यारे के पाँव मुख, मुरला नाद जसा उन्हें पा।
हो जाने से हृदय तल का भाव ऐसा निराला
मैंने न्यारे परम गरिमावान दो लाभ पाये।

मेरे जी में हृदय विजयी विश्व का प्रेम जागा,
मैने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में ॥'

प्रकृति के उपर्युक्त चित्र ने, अनुभव ने, राधा की बहुत बड़ी कठिनाई दूर कर दी। जो राधा संवेदनशील प्रकृति-चित्रण के फलस्वरूप अपने दुखी, कारुणिक हृदय की प्रतिच्छाया प्रकृति में देखा करती थीं उनके हृदय का उचित दिशा मे विकास हुआ। प्रकृति ने उनके हृदय का उन्नयन किया। आज प्रकृति के चित्र उनके सम्मुख दूसरा ही रूप उपस्थित कर रहे हैं। जड प्रकृति का आज प्रभाव पूर्ण रूप से सामने दीख पडा। राधा को अपने प्रियतम की झलक प्रकृति के नाना दृश्यो मे दिखलायी पडी। उन दृश्यों को देखते ही उनके हृदय का संताप दूर हुआ। यही नही, प्रकृति ने उनके जीवन स्तर को और भी ऊपर उठाया। प्रकृति के चित्रों मे उ होने प्रियतम का रूप तो देखा ही, उसकी सहायता से उनके हृदय में विश्व का प्रेम भी जागरित हुआ। उन्हें परम प्रभु की झांकी प्राप्त हो गयी।

प्रकृति के मातृ तुल्य अंक में उसके प्रेम की शक्ति पाकर राधा के जीवन और चरित्र का जैसा अनुपम विकास हुआ है वह हरिऔध जी की कलात्मक शक्ति का द्योतक है। राधा के इस चित्र ने उन्हे अद्वितीय कलाकार के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है।



****

'प्रियप्रवास' की भाषा और शैली

मनुष्य की भावाभिव्यक्ति के एक अत्यत महत्वपूर्ण माध्यम को भाषा कहते है। यह माध्यम परिवर्तनशील है और युग, काल तथा देशका इस पर बड़ा प्रभाव पडता है। हिन्दी भाषा का क्षेत्र अत्यत व्यापक है। इसके अन्तर्गत अनेक बोलियो का समावेश है। अट्ठारहवी शती तक ब्रज भाषा, साहित्य भाषा के रूप मे मान्य थी और देश के अनेक प्रान्तो मे इसका उपयोग होता था। उन्नीसवी शती मे खडी बोली का प्रयोग प्रारभ हुआ। भारतेन्दु युग में गद्य और पद्य दोनो के लिए क्रमश खडी बोली और ब्रज भाषा का उपयोग होता रहा। परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि खडी बोली मैदान मे आ चुकी थी। द्विवेदी युग के प्रारभ मे, विशेषकर द्विवेदी जी ने, 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित होने वाली कविताओ और लेखो के लिए यह नियम बना दिया कि खडी बोली की रचना ही स्वीकार की जायॅगी। उन्होने इस नियम का बडी कठोरता से पालन भी किया। द्विवेदी जी शुद्धता के पक्षपाती थे।

जो भी रचनाऍ प्रकाश मे आना चाहती थी उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि वे खडी बोली मे लिखी जायॅ। इसी प्रकार लेखकों के लिए भी यह अनिवार्य आवश्यकता हो गयी। हरिऔध

जी महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे। उन्हे हिन्दी साहित्य में कीर्ति प्राप्त करने की प्रबल आकाक्षा थी। अत अन्य कवियो की भाँति वे ब्रज भाषा को छोड़कर खडी बोली की ओर झुके। भाषा खडी बोली हो परतु उसका क्या स्वरूप हो यह निश्चय नही हो सका था। अनेक प्रकार के प्रयोग चल रहे थे। एक ओर गजले, लावनियॉ लिखी जा रही थी तो दूसरी ओर हिन्दी के छन्दो का भी प्रयोग हो रहा था। परन्तु अभी भाषा का रूप पूर्णरूपेण निश्चित न हो सका था। उर्दू के शब्दो का, बोल-चाल के शब्दो का यहॉ तक कि ग्रामीण शब्दो का भी प्रयोग होता था। हिन्दी को महत्व-शालिनी भाषा बनाने की उस समय के सब साहित्यिको की इच्छा थी। तत्कालीन कुछ प्रसिद्ध साहित्यिको ने अपनी सम्मति भी प्रकट की। प्रसिद्ध लेखक श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी ने लिखा—

"जब तक खडी बोली की कविता मे सस्कृत के ललित-वृत्तो की योजना न होगी तब तक भारत के अन्य प्रान्तो के विद्वान् उससे सचा आनन्द कैसे उठा सकते है? यदि राष्ट्र-भाषा हिन्दी के काव्य-ग्रन्थो का स्वाद अन्य प्रान्तवालो को भी चखाना है तो उन्हे सस्कृत के मदाक्रान्ता, शिखरिणी, मालिनी ˙ आदि ललित वृत्तो से अलकृत करना चाहिये।"

इन्हा के स्वर मे स्वर मिलाकर श्री मन्नन जी द्विवेदी ने भी कहा "यहॉ एक बात बतला देना बहुत जरूरी है। जो बेतुकान्त की कविता लिखे उसको चाहिये कि सस्कृत के छदो को काम में लाये। मेरा ख्याल है कि हिन्दी पिंगल के छन्दो मे बेतुकान्त की कविता अच्छी नही लगती।"

यह पहले भी कहा जा चुका है कि द्विवेदी युग की प्रवृत्तियो के कारण हरिऔध जी खडी बोली की ओर आकषित हुए थे परन्तु

उनका साहित्यिक व्यक्तित्व पूर्णत स्वनिर्मित और अन्य द्विवेदी-युगीन कवियो से पृथक् था। भाषा सबधी वे कुछ प्रयोग अब तक कर भी चुके थे। उनकी भी इच्छा थी कि वे कोई ऐसा ग्रथ लिखे जो उनके कीर्ति का स्तभ हो सके। विषय के चुनाव में उन्हे अधिक कठिनाई नही हुई। उन्होने राधा-कृष्ण की सुयश गाथा को अपने काव्य का विषय निश्चित किया। वे यह चाहते थे कि उनकी जो भी रचना तैयार हो वह इस प्रकार की हो जिसका प्रचार अन्य प्रान्तो में भी हो सके। ऐसा रचना के लिए सस्कृत-बहुला होना बहुत आवश्यक था। सस्कृत-वर्णवृत्तो मे कविता लिखी जाने की जो बात प्रचलित हुई उसके कारण भी भाषा का रूप सस्कृत-गर्भित होना अनिवार्य हो गया। हरिऔध जी की ब्रज-भाषा मे भी जो रचनाएं है उनमे भी सस्कृत का पर्याप्त प्रयोग हुआ था। उनके दो उपन्यासो – 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल'—की समर्पण और भूमिका की भाषा तो इतनी सस्कृत-गर्भित है कि पुस्तक की ठेठ भाषा के साथ उसका कोई मेल नही बैठता। परतु यह समर्पण और भूमिका गद्य मे लिखी गयी है। हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' की भूमिका मे प्रियप्रवास की भाषा के सबध में अपने जो विचार व्यक्त किये है उनका अवलोकन कीजिए—

"कुछ सस्कृत वृत्तो के कारण और अधिकतर मेरी रुचि से इस ग्रन्थ की भाषा सस्कृत-गर्भित है। क्योकि अन्य प्रान्तवालो में यदि समादर होगा तो ऐसे ही ग्रन्थो का होगा। भारतवर्ष भर में सस्कृत भाषा आदृत है। बॅगला, मराठी, गुजराती वरन् तामिल और पजाबी तक में सस्कृत शब्दो का बाहुल्य है। सस्कृत शब्दो को यदि अधिकता से ग्रहण करके हमारी हिन्दी भाषा उन प्रान्तो के सम्मुख उपस्थित होगी तो वे साधारण हिन्दी से उसका

अधिक समादर करेंगे, क्योंकि उसके पठन-पाठन मे उनको सुविधा होगी और वे उसको समझ सकेंगे। अन्यथा हिन्दी के राष्ट्र भाषा होने में दुरूहता होगी क्योंकि सम्मिलन के लिए भाषा और विचार का साम्य ही अधिक उपयोगी होता है। मैं यह नही कहता कि अन्य प्रान्तवालों से घनिष्ठता का विचार करके हम लोग अपने प्रान्तवालो की अवस्था और भाषा के स्वरूप को भूल जायें। यह मै मानूँगा कि इस प्रान्त के लोगो की शिक्षा के लिए और हिन्दी भाषा के प्रकृत रूप की रक्षा के निमित्त साधारण और सरल हिन्दी मे लिखे गये ग्रन्थो की ही अधिक आवश्यकता है, और यही कारण है कि मैने हिन्दी मे कतिपय सस्कृत-गर्भित ग्रथो की प्रयोजनीयता बतलायी हे। परन्तु यह भी सोच लेने की बात है कि क्या वहाँ वालो को उच्च हिन्दी से परिचित कराने के लिए ऐसे ग्रन्थो की आवश्यकता नही है, और यदि है तो मेरा ग्रथ केवल इसी कारण से उपेक्षित होने योग्य नही।"

हरिऔध जी की उपयुक्त पक्तियाँ अपनी भाषा के दलील मे लिखी गयी है। वे जानते थे कि उनकी सस्कृत-बहुला भाषा की आलोचना होगी और कुछ आलोचको ने सस्कृत-गर्भित 'प्रियप्रवास' को कुछ समय तक हिन्दी काव्य मानने से इनकार भी किया। परतु प्रियप्रवास की भारत-व्यापिनी कीर्ति को कौन रोक सकता था! धीरे धीरे हिन्दी के आलोचकों ने भी उसे एक अद्वितोय आदर्श ग्रथ स्वीकार किया।

हरिऔध जी ने जिस समय प्रियप्रवास की रचना प्रारभ की उस समय यदा कदा सस्कृत-वर्णवृत्तो के दो चार पद पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित होते रहते थे। परन्तु उनकी सख्या नगण्य थी। अतुकान्त पदो के सबंध में भी किसी ने विस्तृत प्रयोग

नही किया था। हाँ, कहा यह जाता है कि हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और लेखक श्री अम्बिकादत्त व्यास ने अतुकान्त हिन्दी पद्यो मे 'कस-वध' नामक काव्य लिखने का प्रयत्न किया था परतु वे सफल न हो सके। ऐसी स्थिति मे अतुकात प्रबन्ध काव्य की रचना का साहस करना और वह भी सस्कृत-वर्णवृत्तों मे एक टेढी खीर थी। इसके लिए महान साहित्यिक क्षमता के साथ असीम धैर्य की भी आवश्यकता थी।

लेखक श्री माइकेल मधुसूदनदत्त का 'मेघनाद-वध' पढ़ा था। उनकी अति प्रबल इच्छा थी कि उन्हा अतुकान्त छन्दो मे वे हिन्दी मे भी एक काव्य की रचना करे। परतु हिन्दी साहित्य क्षेत्र में विशेषकर खड़ी बोली मे यह प्रथम प्रयास था अत उनमे झिझक थी। वे प्रियप्रवास की भूमिका मे एक स्थान पर स्वत लिखते है —

'मुझमे महाकाव्यकार होने की योग्यता नहीं, मेरी प्रतिभा ऐसी सर्वतोमुखी नही जो महाकाव्य के लिए उपयुक्त उपस्कर सग्रह करने मे कृतकार्य हो सके। अतएव मै किस मुख से यह कह सकता हूँ कि 'प्रियप्रवास' के बन जाने से खडी बोली मे एक महाकाव्य के न होने की न्यूनता दूर हो गयी। हाँ, विनीत भाव से केवल इतना ही निवेदन करूँगा कि, महाकाव्य का आभास-स्वरूप यह ग्रथ सत्रह सर्गों मे केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि इसको देखकर हिन्दी साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ सुकवियो और सुलेखको का ध्यान इस त्रुटि के निवारण करने की ओर आकर्षित हो। जब तक किसी बहुज्ञ, मर्मस्पर्शिनी-सुलेखनी द्वारा लिपि बद्ध होकर खडी बोली मे सर्वांग सुन्दर कोई महाकाव्य आप लोगों को हस्तगत नही होता तव तक यह अपने सहज रूप में आप लोगों के ज्योति-विकीर्णकारी उज्ज्वल चक्षुओ के सम्मुख है।"

भिन्नतुकात लिखने में क्या कठिनाई होती है इसका भी वे अनुभव करते थे। वे यह भी समझते थे कि भिन्नतुकात हिन्दी के लिए सर्वथा नयी वस्तु है अत प्रियप्रवास की भूमिका में ही उन्होंने लिखा है'—

"यद्यपि वर्तमान पत्र और पत्रिकाओ मे कभी-कभी एक आध भिन्नतुकान्त कविता किसी उत्साही युवक कवि की लेखनी से प्रसूत होकर आज कल प्रकाशित हो जाती है, तथापि मैं यह कहूँगा कि भिन्नतुकान्त कविता भाषा-साहित्य के लिए एक बिल्कुल नयी वस्तु ह, और इस प्रकार की कविता मे किसी काव्य का लिखा जाना तो 'नूतन नूतन पदे पदे' हे। इस लिए महाकाव्य लिखने के लिए लालायित होकर जैसे मैंने बालचापल्य किया है, उसी प्रकार अपनी अल्प विषयामति साहाय्य से अतुकान्त कविता मे महाकाव्य लिखने का यत्न करके अतीव उपहासास्पद हुआ हूँ। किन्तु, यह एक सिद्धान्त है कि 'अकरणात् मन्दकरणम् श्रेय' और इसी सिद्धान्त पर आरूढ होकर मुझसे उचित वा अनुचित यह साहस हुआ है। किसी कार्य मे सयत्न होकर सफलता लाभ करना बडे भाग्य की बात है, किन्तु सफलता न लाभ होने पर सयत्न होना निंदनीय नही कहा जा सकता।"

उपर्युक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि किन परिस्थितियो में और किस मानसिक स्थितिका संबल लेकर हरिऔध जी प्रियप्रवास की रचना मे प्रवृत्त हुए। उन्हें इस क्षेत्र मे अभूतपूर्व सफलता भी प्राप्त हुई इसमें सदेह नही।

प्रियप्रवास की भाषा पर सस्कृत की अत्यन्त गहरी छाप है। उसमें अनेक ऐसे पद हैं जिनमें क्रियापदो के अतिरिक्त शेष पदावली पूर्णत' सस्कृत की ही है, परतु ऐसे पद्य बहुत कम हैं।

प्रियप्रवास की काव्य-शैली पर भी सस्कृत काव्यो का प्रगाढ़ रग चढ़ा हुआ है। सस्कृत काव्यो मे समास बहुला शैली को बडी आदर की दृष्टि से देखते हैं। प्रियप्रवास में भी समास-शैली का प्रयोग हुआ है। कुछ आलोचको का विचार है कि सस्कृत भाषा सश्लेषणात्मक है अत कई पदो को एक साथ समास में बाँधकर आगे बढ सकती है, और साथ ही लिपि तथा उच्चारण के हाथ मे हाथ मिलाकर चलने के कारण ह्रस्व-दीर्घ के उपयुक्त प्रयोग मे उसे किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नही होता। इसके विपरीत हिन्दी भाषा विश्लेषणात्मक है और उसके स्वरूप तथा उच्चारण मे भी भिन्नता है। उदाहरणार्थ—हम बोलते है सक्ता और लिखते है सकता, हम बोलते है कर्ता और लिखते है करता। अत. सस्कृत के वर्णवृत्तो का शकट-व्यूह उसके लिए उपयुक्त नही। सूर, तुलसी तथा अन्य कवियो ने भी प्रचलित भाषा को ही अपनाया और अपने काव्यो के लिए हिन्दी छन्दो का ही उपयोग किया। आचार्य केशव आदि कुछ कवियो ने ही सस्कृत के छदो में और सस्कृत के साँचे मे हिन्दी को ढालना चाहा, परन्तु उनका जाल तो इतना भयकर सिद्ध हुआ कि भाषा का स्वाभाविक रूप ही समाप्त हो गया। उनकी कविता मे बडी कृत्रिमता उत्पन्न हो गयी।

इस प्रकार की पूर्व परम्परा होने पर भी हरिऔध जी सस्कृत वर्णवृत्तो मे काव्य-रचना का विचार लेकर आये यह बडे साहस का कार्य था। अनेक प्रतिबधो के होते हुए भी वे अपने कार्य मे सफल हुए। अवश्य ही उनके काव्य में स्वाभाविकता का अभाव नही। यदि सस्कृत छदो को ग्रहण कर हरिऔध जी ने तुकान्त रचना की होती तो उनकी भाषा भी कृत्रिम हो जाती। समास-

शैली के अतिरिक्त सस्कृत में एक और अद्भुत विशेषता है, और वह है विशेषणो के प्रयोग की। सस्कृत में एक शब्द के लिए ही साधारणतया कई विशेषणो की शृखला निर्मित की जा सकती है। साथ ही प्राय विशेषणो के रूप जिस स्वर मे विशेष्य का अन्त हाता है उसी स्वर मे होते है। उदाहरणार्थ.—

'दीना हाना मालन वसना-राधा।'

प्रियप्रवास काव्य में इस प्रकार के सम स्वरान्त विशेषणो की अधिकता है। यही कारण है कि कही कही प्रियप्रवास की भाषा क्रिया के अतिरिक्त विभक्तिहीन भाषा प्रतीत होने लगती है। परतु ऐसे स्थान बहुत ही कम है। इस प्रकार की सस्कृत-गर्भित भाषा मे प्रियप्रवास लिखा गया परन्तु उसके छदो मे सगीत की लय है और माधुर्य के साथ ओज भी वर्तमान है। नितान्त सस्कृत बहुल एक पद का अवलोकन कीजिए —

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय-कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वगी कल-हासिनी, सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली।
शोभा-वारिधि की अमूल्य-माण सी लावण्य लीलामयी।
श्री राधा मृदुभाषिणा मृगदगी माधुर्य की मूर्त्ति थी।

सस्कृत के वृत्त सस्कृत भाषा के उपयुक्त है और उसी के साहित्य के लिए उनका उचित रूप मे उपयोग किया जा सकता है। हिन्दी काव्यो के लिए जब सस्कृत-वृत्तो का उपयोग किया जायगा तब कोई न काई ऐसा मार्ग निश्चित करना ही पड़ेगा कि हिन्दी काव्य के सौदय का अस्तित्व ही न समाप्त हो जाय। हरिऔध जी ने सस्कृत वृत्तो मे हिन्दी काव्याभिव्यक्ति के लिए आदान प्रदान का मार्ग स्वीकार किया। द्रुतविलम्बित, वशस्थ और वसन्ततिलका आदि सस्कृत के स्थान-सकीर्ण वृत्तो के लिए

हरिऔध जी ने समासमयी पदावली का प्रयोग किया। इन वृत्तो के लिए अधिकतर उन्हे संस्कृत भाषा का ही उपयोग करना पड़ा —

द्रुतविलम्बित

तरु अनेक - उपस्कर सज्जिता।
अति - मनोरम काय अकटका।
विपिन को करती छविधाम थीं।
कुसुमिता - फलिता बहु - झाड़ियाँ।

वशस्थ

नितान्त लघ्वी घनता विवर्द्धिनी।
असख्य - पत्रावलि अक गारिणी।
प्रगाढ छाया - मय पुष्प-शोभिनी।
अम्लान काया इमिली सुमौलि थी।

❀ ❀ ❀

यो सर्व-वृत्त कह के वह उन्मना हो।
आभीर ने वदन ऊधव का विलोका।
उद्विग्नता सु दृढता अ विमुक्त वाछा।
होती प्रसूत उसकी खर-दृष्टि से थी।

सस्कृत शब्दावली की यह स्थिति सम्पूर्ण काव्य मे नही पाई जाती। हरिऔध जी को जहॉ भी अवसर मिला है और स्थान सकीर्णता की बात नही रही है वहॉ उन्होने हिन्दी भाषा के रूप को भी निखरने दिया है। साधारणतया मालिनी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित आदि वृत्तो में हिन्दी भाषा का रूप भी सुन्दर रीति से निखरा है —

शार्दूलविक्रीडित

काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था।
काँटे से कमनीय कज कृति में क्या है न कोई कमी।

पोरों में कब ईख की विपुलता है ग्रथियों की भली।
हा! दुर्दैव प्रगल्भते! अपटुता तू ने कहाँ की नही।

मालिनी

यह सकल दिशायें आज रो सी रही है।
यह सदन हमारा, है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नही है।
विजन - विपिन में है भागता सा दिखाता।

मदाक्रान्ता

सूखा जाता कमल मुख था होंठ नीला हुआ था।
दोनों आँखें विपुल जल मे डूबती जा रही थी।
शकायें थी विकल करती काँपता था कलेजा।
खिन्ना दीना परम-मलिना उन्मना राधिका थी।

जिस महत्वाकाक्षा से प्रियप्रवास लेकर हरिऔध जी हिन्दी क्षेत्र मे आये वह पूरी हुई। अनेक वर्षों तक तो 'प्रियप्रवास' की हिन्दी क्षेत्र मे खूब धूम रही और आज भी धूम है। उसके अनेक सर्ग लोगो को कठस्थ है। हिन्दी साहित्य-क्षेत्र मे हरिऔध जी का प्रियप्रवास-सबधी प्रयोग एक युगस्तम्भ के समान है। उसके उपरान्त लोगों को विश्वास हो गया कि सस्कृत-गर्भित स्वाभाविक भाषा ही हिन्दी साहित्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। हिन्दी साहित्य के अनेक महारथियो के हृदय में जो इच्छा कल्पना के रूप में ही मँडराती रह गयी उसे हरिऔध जी ने अपनी अद्भुत और दिव्य प्रतिभा से साकार कर दिया।



****

'प्रियप्रवास' में अलंकार-निरूपण

हरिऔध जी सुकवि थे, सहृदय थे, और साथ ही आचार्य भी थे। उन्होने सस्कृत और हिन्दी साहित्य के लक्षण-ग्रन्थो का पूर्ण गभीरता के साथ अनुशीलन किया था परन्तु वे साहित्य अथवा काव्य की स्वाभाविकता मे विशेष रूप से आस्था रखते थे। वे अलकारो के लिए तो काव्य का निर्माण करते न थे। स्वाभाविक रूप में उनके काव्यो मे जिन अलकारो की अवतारणा हो सकी है उन्ही अलकारो के उदाहरण उनके काव्यो में पाये जाते हैं। परन्तु एक बात अवश्य है कि प्रियप्रवास की रचना के समय तक हरिऔध जी की प्रतिभा का पूर्ण विकास हो चुका था। उनकी कला भी प्रौढ़ हो चुकी थी। रसकलस में अपनी उन भावनाओ और आदर्शों को वे साकार न कर सके थे जिनका जन्म 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' में हो चुका था। देश-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका के रूप में उन भावनाओ की अभिव्यक्ति हुई अवश्य परतु चित्र का रूप विकसित न हो सका। प्रियप्रवास काव्य मे उन्हे उन्मुक्त क्षेत्र प्राप्त हुआ। इस उन्मुक्त क्षेत्र के कारण उनकी काव्य कला का चरमोत्कर्ष हुआ।

'रसकलस' की भाँति प्रियप्रवास मे भी हरिऔध जी ने काव्य-कला के जिन साधनो का उपयोग किया है उनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। पहले हम शब्दालकारों की योजना का अवलोकन करेंगे —

छेकानुप्रास

बहु - विनोदित थीं ब्रज - बालिका।
तरणियाँ सब थी तृण तोड़ती।
बलि ग बहु बार वयोवती।
छवि विभूति विलोक ब्रजेन्दु की।

वृत्यानुप्रास

किस तपोबल से किस काल में।
सच बता मुरली कलनादिनी।
अवनि में तुझको इतनी मिली।
मदिरता, मृदुता, मधुमानता।
अति जरा विजिता बहु - चिन्तिता।
विकलता ग्रसिता सुख वचिता।
सदन में कुछ थी परिचारिका।
अधिकृता कृशता अवसन्नता।

श्रुत्यानुप्रास

कल - मुरलि - निनादी लोभनीयाग - शोभी।
अलि कुल - मति लोपी कुन्तली कान्तिशाली।
अयि पुलकित अके आज भी क्यों न आया।
वह कलित - कपोलो कान्त आलापवाला।

यमक

रसवती रसना बल से कहीं।
कथित थी कथनीय गुणावली।
मधुर राग सधे स्वर ताल में।
कलित कीर्ति अलापित थी कहीं।

प्रियप्रवास में शब्दालकारो की अपेक्षा अर्थालकारो का प्रयोग अधिक हुआ है। अर्थालकारो के निम्नलिखित उदाहरण देखिये —

सदेह

श्रीड़ी लाली पुलकितकरी पखडी - मध्य जो है।
क्या सो वृन्दा-विपिन-पति की प्रीति की व्यजिका है।
जो है तो तू सरस - रसना खोल ले औ बता दे।
क्या तू भी है प्रिय - गमन से यो महा-शोक-मग्ना।
क्या तू भी है रुदन करती यामिनी-मध्य यो ही।
जो पत्तो में पतित इतनी वारि की बूँदियाँ हैं।
पीडा - द्वारा मथित उर के प्रायश कॉपती है।
या तू होती मृदु पवन से मन्द आन्दोलिता है।
आ के तेरे निकट कुछ भी मोद पाती न मै हूँ।
तेरी तीखी महॅक मुझको कष्टिता है बनाती।
क्यो होती है सुरभि सुखदा माधवी मल्लिका की।
क्यो तेरी है दुखद मुझको पुष्प बेला बता तू।

उत्प्रेक्षा

सब-नभ-तल-तारे जो उगे दीखते है।
यह कुछ ठिठके से सोच मे क्यों पड़े हैं।
ब्रज-दुख अवलोके क्या हुए है दुखारी।
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं।
सखि ! मुख अब तारे क्यों छिपाने लगे हैं।
वह दुख लखने की ताब क्या हैं न लाते।
परम-विफल होके आपदा टालने में।
वह मुख अपना हैं लाज से या छिपाते।

क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
बह रुधिर रहा है कौन सी कामिनी का।
विहग विकल हो हो बोलने क्यो लगे हैं।
सखि! सकल दिशा मे आग सी क्यो लगी है।

उपमा

बैठे नीचे जिस विटप के श्याम होंवें उसी का।
कोई पत्ता निकट उनके नेत्र के ले हिलाना।
यो प्यारे को विदित करना चातुरी मे दिखाना।
मेरे चिन्ता विजित चित का क्लान्त हो काँप जाना।

* * *

मृदुल कुसुम सा है ओ तुने तूल सा है।
नव किशलय सा है स्नेह के उत्स-सा है।
सदय हृदय ऊधो श्याम का है बडा ही।
अहह हृदय माँ के तुल्य तो भी नही है।

अपह्नुति

विपुल नीर बहाकर नेत्र से।
मिस कलिन्द कुमारि-प्रवाह के।
परम कातर हो रह मौन ही।
रुदन थी करती ब्रज की धरा।

* * *

बढा स्व-शाखा मिस हस्त प्यार का।
दिखा घने-पल्लव की हरीतिमा।
परोपकारी-जन-तुल्य सर्वदा।
स-शोक का शोक अशोक मोचता।



****

'प्रियप्रवास' का महाकाव्यत्व

प्रियप्रवास के प्रकाशन के पश्चात् हिन्दी ससार में इसके स्वरूप का निर्णय होने लगा। अनेक प्रकार के विवाद खडे हुए। कोई उसे महाकाव्य की सज्ञा देता, कोई उसे एकार्थ काव्य कहता और कुछ लोगो ने बहुत बडा काव्य कहकर सतोष किया। इस प्रकार के विवाद स्वाभाविक थे। क्योकि हरिऔध जी ने स्वत' बड़े शील-सकोचपूर्ण शब्दो में इसे महाकाव्य कहा है। महाकाव्य के क्या लक्षण हैं या प्राचीन आचार्यों ने महाकाव्य के लिए किन गुणो, तत्वो की आवश्यकता बतलायी है यह हरिऔध जी को ज्ञात नही था यह नही कहा जा सकता। वास्तविक स्थिति तो यह है कि उन्होने काव्य-शास्त्रो का गहन अध्ययन करने के उपरान्त ही इस ओर पग बढ़ाया था। प्रश्न उठता है कि जब उन्हे ये सब सिद्धान्त ज्ञात थे तब उन्होने महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्वो का पूर्ण रूप से अपने ग्रथ मे क्यो विधान नही किया ? इसका मेरी समझ में एक ही उत्तर है। हरिऔध जी पूर्णत प्रयोगवादी व्यक्ति थे। कृष्ण-चरित्र के सबध में उन्होने प्रयोग किया। कृष्ण के चित्र जो बाजार मे बिकते थे उनका महत्व समाप्त हो गया। बाजारू कृष्ण हमारे समाज के उन्नायक और प्रतिष्ठित नेता हो गये। भाषा के सबध में उनके प्रयोग बेजोड़ थे। उस समय के लेखकों से उनकी भाषा-शैली पूर्णत' भिन्न है। छन्दो के सबध में वे प्रियप्रवास के माध्यम से अपना नया प्रयोग सफल बनाने के लिए अग्रसर हो रहे थे। कहने का तात्पर्य यह है कि वे लीक पर

नही चलना चाहते थे। वे अपना स्वतत्र मार्ग स्वत निश्चित और निर्मित करना चाहते थे। इस प्रकार के साहित्यिक मार्गों का निर्द्धारण हवा मे नही किया जा सकता अत उन्होने प्राचीन लक्षण-ग्रन्थो को अपने प्रयोग का आधार अवश्य बनाया परतु वे केवल आधार मात्र थे। पथ का निर्माण तो उन्होंने स्वत' किया। वे महाकाव्य के रूढ़िगत तत्वो मे भी कुछ परिवर्तन के आकाक्षी थे। रूढ़ि से चले आते महाकाव्य के लक्षणो मे युगानुसार कुछ परिवर्तन की अपेक्षा है, केवल इसका सकेत करने के लिए वे कुछ भिन्न मार्ग से चले। यह सब होते हुए भी हमे काव्य के निर्णय के लिए शास्त्रो को ही मानदण्ड मानना होगा इसमे सदेह नही। काव्य क्या है, हम किसे काव्य कह सकते है, इस सबध में अनेक आचार्यों ने अपने मत व्यक्त किये है। किसी ने कहा —

'तद् दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वापि।'

अर्थात् —'काव्य दूषण-रहित, शब्द अर्थ युक्त सुन्दर गुणो और अलकारो से युक्त हुआ करता है। कभी कभी काव्य अलकार से रहित भी हुआ करता है।' दूसरे आचार्य ने इसका खडन किया और अपने विचार को ठीक बताया। उन्होने घोषणा की —

'वाक्य रसात्मक काव्यम्।'

अर्थात्— रस-युक्त वाक्य ही काव्य है।' परतु इस वाक्य पर जब ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह कसौटी पर खरा नही उतरता। बडे बडे काव्यो में सब वाक्य तो रसात्मक नहीं ही होते। अत यह लक्षण भी पूर्णत उपयुक्त नही कहा जा सकता। रसगगाधरकार ने कहा —

'रमणीयार्थ प्रतिप्रादक शब्द काव्यम्।'

अर्थात्—'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही

काव्य है ।' यह मत अधिकतर लोगो को स्वीकार हुआ । इसमे पूर्णता भी दीख पडी । काव्य के रूप का इस प्रकार निर्णय हो जाने के बाद इस स्वरूप के अनुसार उसके दो भेद हुए—श्रव्य और दृश्य । श्रव्य के दो भेद हुए—मुक्तक और प्रबध । प्रबध काव्य के दो भेद किये गये—(१) खड काव्य और (२) महाकाव्य ।

जीवन के एक अश का निदर्शन कराने वाले काव्यो को खड काव्य की सज्ञा प्रदान की गयी । परन्तु यह अश स्वत पूर्ण होता है । महाकाव्य मे जीवन गाथा का पूर्ण चित्र वर्णित होना चाहिये । महाकाव्य के लिए निम्नलिखित लक्षणो का होना आवश्यक है —

१ सर्ग-बद्धता ।

२ कथा का एक नायक होना चाहिये । यह नायक देवता, या उत्तम वश का धीरोदात्त गुणो का व्यक्ति होना चाहिये ।

३ शृगार, वीर, अथवा शात इन तीनो रसो मे से एक प्रधान रस होना चाहिये ।

४ कथा ऐतिहासिक अथवा सज्जनाश्रित होनी चाहिये ।

५ आदि मे नमस्कार, आशीर्वाद अथवा वस्तु निर्देशक शब्द होने चाहिये ।

६ खलो की निन्दा और सज्जनो की प्रशसा होनी चाहिये ।

७ एक सर्ग मे एक ही वृत्त का या छन्द का उपयोग होना चाहिये और अन्त में छन्द बदल जाना चाहिये ।

८ आठ से अधिक उपयुक्त आकार के सर्ग होने चाहिये ।

९ सर्ग के अन्त में भावी सर्ग की कथा की सूचना प्राप्त होनी चाहिये ।

१० सध्या, सूर्य, इन्दु, रजनी, प्रदोष, अधकार, प्रभात, दिन, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, सम्भोग, विप्रलभ,

मुनि, स्वर्ग, पुर, रण-यात्रा आदि वर्णनीय वस्तुओ का चित्रण होना चाहिये।

११ कवि, वृत्त अथवा नायक के नाम पर काव्य का नाम होना चाहिये।

१२ सर्गों का नामकरण कथा के अनुसार होना चाहिये।

अब हमे इन लक्षणो की कसौटी पर कस कर यह देखना चाहिये कि प्रियप्रवास में उपर्युक्त लक्षणो में से कितने लक्षण वर्तमान है।

महाकाव्य सर्ग-बद्ध होता है। प्रियप्रवास भी सर्ग-बद्ध है। प्रियप्रवास की कथा के नायक श्री कृष्ण है जो एक उच्च कुल के महापुरुष है और देव तुल्य है। वे क्षत्रिय राजकुमार है और बाद में राजा होते है। उनकी कुलीनता का अनेक स्थलो पर उल्लेख है—

'कल समादर से ब्रज-भूप को, कुँवर संग निमन्त्रित है किया।'

कृष्ण धीरोदात्त नायक है। प्रियप्रवास के कृष्ण रीतिकालीन कवियो के धृष्ट नायक नही है। वे आदर्श चरित्र के व्यक्ति हैं। कृष्ण के आदर्श चरित्र का संकेत प्रथम सर्ग में ही हमे मिल जाता है। गोकुल ग्राम की जनता कृष्ण के गुणों पर मोहित है। गोधूलि बेला में जब गायें चराकर उनके लौटने का समय होता है तब गाँव के सब लोग उनके दर्शनो के लिए घर से बाहर निकल पडते हैं। कृष्ण के दर्शन के अभाव में लोगों की बेकली देखिए—

सकल वासर आकुल से रहे।
अखिल मानव गोकुल ग्राम के।
अब दिनान्त विलोकत ही बढी।
ब्रज - विभूषण - दर्शन - लालसा।

कृष्ण के रोम-रोम मे गाभीर्य है। उनके सामने अनेक सकट हैं, परन्तु वे तनिक भी विचलित नही होते और श्रेष्ठ गुणो की खान है —

मधुरता मय था मृदु-बोलना।
अमृत सिंचित सी मुसकान था।
समद थी जन-मानस मोहती।
कमल-लोचन की कमनीयता।

गोप द्वारा उनके गुणो की चर्चा सुनिये —

ससार मे सकल - काल नृरत्न ऐसे।
है हो गये अवनि है जिनकी कृतज्ञा।
सारे अपूर्व गुण ह उनके बताते।
सच्चे-नृरत्न हरि भी इस काल के है।

यही नही —

बातें बडी सरस थे कहते विहारी।
छोटे बडे सकल का हित चाहते थे।
अत्यन्त प्यार दिखला मिलते सबो से।
थे बातचीत करते बहु शिष्टता से।
बातें विरोधकर थी उनको न प्यारी।
वे थे न भूल कर भी अप्रसन्न होते।

कृष्ण का धैर्य अवलोकनीय है। ब्रज के सारे लोग अनिष्ट के भय से चिंतित हैं परन्तु कृष्ण के मुख पर अभूतपूर्व गाभीर्य है। धैर्य का स्पष्ट चिह्न उनके मुख से झलकता है। वे घर से बाहर आते हैं और पिता की आज्ञा लेकर माता के चरण-रज के लिए आगे बढ़ते हैं —

छू माता के पग कमल को धीरता साथ बोले।
जो आज्ञा हो जननि अब तो यान पै बैठ जाऊँ।

माता की चरण-रज लेकर वे समुपस्थित आकुल जन-समूह

को परितोष देने के लिए उनके पास जाते है। यह उनकी शिष्टता का द्योतक है। सब को समझा बुझाकर वे रथ पर आरूढ़ होते है। वे अपनी बातो पर दृढ रहते हैं और जो कहते हैं वही करते हैं। कवि के ही शब्दो मे—'दयालुता सज्जनता सुशीलता बढी हुई है घनश्याम मूर्ति की'। उन्होने जिस बात की प्रतिज्ञा की उसे पूरा किया—

हितैषणा से निज-जन्म भूमि की।
अपार-आवेश हुआ ब्रजेश को।

* * *

अत करूँगा यह कार्य मै स्वय।
स्व-हस्त मे दुर्लभ प्राण को लिए।
स्व-जाती और जन्म-धरा निमित्त मैं।
न भीत हूँगा विकराल व्याल से।

प्रियप्रवास में विप्रलभ शृगार की प्रधानता है और उसके अन्तर में करुण रस का स्रोत अत्यत वेग से प्रवाहित है। इस विषय पर रस-निरूपण वाले अध्याय में विस्तार से विचार किया जा चुका है। विप्रलभ शृगार के अतिरिक्त अन्य रसो का भी उपयुक्त रीति से समावेश हुआ है।

प्रियप्रवास की कथा पौराणिक आधारो पर लिखी गयी है। प्रियप्रवास के कृष्ण श्रीमद्भागवत के कृष्ण हैं और कथा का सूत्र भी श्रीमद्भागवत पर ही आश्रित है। कृष्ण के जीवन को हम तीन भागो में विभक्त कर सकते है। जीवन का प्रथम भाग ब्रज-भूमि में बीता जहाँ उन्होने अनेक प्रकार की लीलाएँ की। जीवन का द्वितीय भाग मथुरा में व्यतीत हुआ और तृतीय भाग द्वारिका-पुरी में। कृष्ण के जीवन के ये तीनों भाग एक दूसरे से सबद्ध

नही है। उनका अपना पृथक् अस्तित्व है। प्रियप्रवास में कृष्ण-जीवन के प्रथम अश की सम्पूर्ण कथा का वर्णन है। कवि का ध्येय भी यही था। कृष्ण-जीवन के प्रथम भाग की नायिका राधा और ब्रज की बालाएँ है। राधिका का सबध-सूत्र आगे नही बढता। अत राधा को ही आदर्श बनाया गया है। कृष्ण-जीवन का यह प्रथम भाग जनता के लिए आकर्षक भी है और इससे उसका मनोरजन भी हो सकता है। जीवन का द्वितीय और तृतीय भाग तो राजनीतिक पचडो से भरा है। जन आकर्षण की उसमे विशेष कोई सामग्री नही। दूसरी बात यह है कि कृष्ण का मथुरा और द्वारिका का जीवन साधारण जीवन से ऊपर उठा हुआ जीवन है। यहाँ कृष्ण के देव-स्वरूप का विकास होता है। कृष्ण के पूर्ण जीवन वृत्त को लेने से एक और भी कठिनाई थी। आगे चल कर कृष्ण के अनेक पटरानियाँ हुई। उनका काव्य मे वर्णन आते ही राधा का वह महत्व न रह जाता जो वर्तमान स्थिति में था। साथ ही माता यशोदा और नन्द के वात्सल्य का जो वणन है उसकी प्रधानता भी समाप्त हो जाती। क्योकि ब्रज छोडने के बाद कृष्ण पुन ब्रज मे पैर न रख सके। सभवत. इन्ही कारणो से हरिऔध जी ने कृष्ण के जीवन के प्रथम भाग पर अपनी कथा आश्रित की।

प्रियप्रवास में मगलाचरण का अवश्य अभाव है। कवि को इस प्रकार के मगलाचरणों मे विश्वास नहीं था यह स्पष्ट है। परतु केवल मगलाचरण के अभाव में किसी महाकाव्य का महाकाव्यत्व समाप्त हो जायगा यह कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति स्वीकार न करेगा।

यत्र तत्र तत्कालीन असुरों, दैत्यो और दुष्टों के कार्यों की

निन्दा की गयी है और उनके संहार द्वारा जन-कल्याण का कार्य भी कृष्ण निरन्तर करते रहे हैं। खलो की निन्दा सुनिये —

समाज-उत्पीड़क धर्म-विप्लवी।
स्व-जाति का शत्रु दुरन्त-पातकी।
मनुष्य-द्रोही भव-प्राणि-पुजका।
न है क्षमा योग्य वरञ्च बध्य है।

क्षमा नही है खल के लिए भली।
समाज उत्सादक दण्ड योग्य है।
कु-कर्म कारी नर का उबारना।
सुकर्मियों को करता विपन्न है।

सज्जनो का गुणगान तो काव्य भर में भरा पडा है। एक उदाहरण लीजिए —

चकितकर, अनूठी शक्तियाँ श्याम में है।
वर सब-विषयो में जो उन्हे है बनाती।
अति कठिन कला में केलि-क्रीड़ादि में भी।
वह मुकुट सबों के थे मनोनीत होते।

सर्ग के अन्त में छन्द के बदलने के संबंध में थोडा विचार करना आवश्यक है। प्रियप्रवास की कथा का प्रथम सर्ग में जो प्रसंग प्रारंभ हुआ है उसका विस्तार तीसरे सर्ग तक हुआ है। अतः कवि ने प्रथम तीन सर्गों में सर्ग के अन्त में छन्द का परिवर्तन नही किया है। तृतीय सर्ग के उपरान्त श्रीमती राधा का वर्णन प्रारंभ होता है। कथा का प्रसंग परिवर्तित हो जाता है अतः लेखक ने तीसरे सर्ग के अंत में छंद बदल दिया है। इसके पूर्व कथा मे व्याघात पहुँचाना ठीक न था अत वृत्त में परिवर्तन नहीं किया गया। सर्गान्त में आगे की कथा का कवि ने बडे नाटकीय ढंग से संकेत किया है। प्रथम सर्ग के संकेत को ही देखिए —

छवि यहाँ पर अंकित जो हुई।
अहह लोप हुई सब काल को।

'प्रियप्रवास' मे सप्तदश सर्ग है। उन सर्गो का आकार भी सर्वथा उपयुक्त है। केवल सर्ग-सख्या-वृद्धि की दृष्टि से ही सर्गों का विभाजन नहीं किया गया है। सर्ग के अन्त मे कथा-सकेत के सबध मे हम पहले ही विचार कर चुके है।

प्रियप्रवास मे सूर्य, इन्दु, रजनी सध्या आदि का वर्णन भरा पड़ा है। कहना यह चाहिए कि प्रारभ से अन्त तक ग्रन्थ मे प्राकृतिक चित्रो की भरमार है। उनका उदाहरण देना अनावश्यक है। सम्भोग, वियोग, नगर पुत्रादि का वर्णन प्रथम सर्ग मे ही है। तारा गण, इन्दु, चन्द्रिका, व्योम, वन, कुज, नदी आदि का वर्णन चतुर्दश सर्ग में दर्शनीय है। पर्वत, जगल पशु-पक्षी का वर्णन नवम सर्ग मे विस्तार के साथ किया गया है। लक्षणो के अनुसार इन सब वस्तुओ का यथावसर और यथासभव वर्णन होना चाहिए। कवि ने यही किया भी है।

'प्रियप्रवास' का नाम वर्ण्य विषय के अनुसार है। इस महा-काव्य मे 'प्रवास' नामक विप्रलभ शृगार का वर्णन है। गोप-गोपियो, और व्रज की जनता के प्रियतम कृष्ण के प्रवास की कथा मुख्य रूप से वर्णनीय वस्तु है।

कहने का तात्पर्य यह है कि महाकाव्य-सबधी कुछ लक्षणो मे थोडा हेर फेर करने के अतिरिक्त महा कवि हरिऔध जी ने अपने प्रियप्रवास को महाकाव्यो के लक्षणो के आधार पर ही निर्मित किया है। अब पाठक स्वत यह निर्णय कर ले कि प्रियप्रवास किस वर्ग का काव्य कहा जा सकता है।

************************* ************

'प्रियप्रवास' में लोकाराधान की भावना

महाकवि हरिऔध जी का अपना जीवन दर्शन था। उनका जीवन दर्शन कल्पनाओ और स्थूल धामिक क्रियाओ पर आधारित न था। वे इस ससार को असार नही ससार समझते थे। समाज से, जाति से मुख मोडकर मुक्ति की साधना उनके जीवन का उद्देश्य न था। वे तो इस क्रियाशील विश्व के मानवो को धरातल से ऊपर उठा कर देवत्व की कोटि मे बैठाना चाहते थे। पूर्ण मानव मे इनका विश्वास था। इस जीवन दर्शन को सम्मुख रख कर उन्होने अपने काव्यो की रचना की और इसी के अनुसार उन्होने जीवन-यापन भी किया।

'प्रियप्रवास', राधा कृष्ण की विरह-कथा का वर्णन है। वियोग की अग्नि मे तप्त होकर प्रणय का माधुर्य और उन्नायक रूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। यदि कवि वियोग की दशा का और उपयुक्त वातावरण का निर्माण न करता तो माता यशोदा और राधा के मनोमुग्धकारी व्यक्तित्व का विकास न हो पाता। सहज रूप में ही वियोग का वर्णन हृदयस्पर्शी होता है और जब किसी रस-सिद्ध की लेखनी से वह प्रसूत होता है तब तो उसका चित्र और भी अधिक प्रभावकर हो जाता है।

हरिऔध जी के पूर्ववर्ती कवियो ने कृष्ण को परब्रह्म रूप मे स्वीकार कर उनका वर्णन किया है, परिणामत. उनकी दृष्टि से राधा, गोपियाँ, गोप आदि मोह-मग्न थे। मोह-मग्न को ज्ञान और योग का सदेश भेजना तो उपयुक्त है ही। ब्रह्म तो जीव को ज्ञान और योग का प्रतिक्षण उपदेश देगा ही। परतु हरिऔध जी के कृष्ण की भिन्न स्थिति थी। हरिऔध जी ने कृष्ण को ब्रह्म नहीं मनुष्य रूप मे चित्रित किया है। प्रियप्रवास के कृष्ण देश-हितैषी, समाज-सेवी, जाति हितकारी व्यक्ति है। यह उनका सामाजिक रूप है। इसके साथ ही वे सच्चे स्नेही और प्रेमिक भी है। ब्रज की जनता, गोप गोपियो और राधा के साथ उनका जो मानवीय स्नेह और प्रेमपूर्ण व्यवहार था उसका ध्यान न रख यदि वे पूर्ववर्ती कवियो की भाँति ज्ञान का उपदेश करने के लिए ही उद्धव को भेज देते तो प्रियप्रवास के कृष्ण का चित्र अत्यत अस्वाभाविक हो जाता। इस लिए हरिऔध जी ने बड़ी कुशलता के साथ कृष्ण के मानवीय हृदय का चित्र अकित किया है। कृष्ण, उद्धव को ज्ञान का और योग का सदेश तो देने को कहते ही है परतु इस प्रकार का उपदेश देने के पूर्व वे पीठिका तैयार करा लेना चाहते हैं। वे उद्धव से कहते हैं कि आप जाकर गोकुलवासियो को हमारी विवशता, कार्य-व्यस्तता का ज्ञान कराइये। उन्हे पहले यह भली-भाँति समझा दीजिये कि कार्य और राजनीति में अत्यत व्यस्त होने के कारण ही हम उनके प्रेम-रस का पान नही कर पा रहे है। इसके बाद जीवन के महान कार्य के लिए साधारण स्वार्थों के त्याग का सदेश दीजिए।

एक बात और ध्यान में रखना आवश्यक है। कृष्ण वास्तव मे वसुदेव और देवकी के पुत्र थे। कस की बाधा के कारण वे

स्थानान्तरित किये गये थे। अब वह बाधा दूर हो चुकी थी। नवीन परिस्थिति मे कृष्ण को अपने पास रख लेने की उनकी स्पृहा ही अत्यत स्वाभाविक है। साथ ही कृष्ण का मथुरा में रहना इस लिए भी आवश्यक था कि वे नवीन राज्याधिपति का मार्ग कटक-रहित कर सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने में योग दें। मथुरा के शासन पर ही जनता का सुख-दु ख आश्रित था। प्रकारातर से ब्रज के लोगो पर भी उसका प्रभाव पडता अतएव कृष्ण के ब्रज न जा सकने के कुछ सबल और तर्क युक्त कारण थे। इस प्रकार जन-हित के लिए कृष्ण का व्यक्तिगत स्वार्थ-त्याग और गोपियो को भी स्वार्थ के स्तर से ऊपर उठने की शिक्षा देना अवश्य ही प्रशसनीय है। कृष्ण के चिंतित चित्त की झाँकी का अवलोकन कीजिए—

प्राणी है यह सोचता समझता मै पूर्ण स्वाधीन हूँ।
इच्छा के अनुकूल कार्य सब मै हूँ साध लेता सदा।
ज्ञाता है कहते मनुष्य वश में है काल कर्मादि के।
होती है घटना-प्रवाह-पतिता स्व धीनता-यत्रिता।
देखो यद्यपि है अपार, ब्रज के प्रस्थान की कामना।
होता मै तब भी निरस्त नित हूँ व्यापी द्विधा में पड़ा।
ऊधो दग्ध वियोग से ब्रज-धरा है हो रही नित्यश।
जाओ सिक्त करो उसे सदय हो आमूल ज्ञानाम्बु से।

इन पक्तियों से कृष्ण के हृदय की दशा और उनकी परवशता झलकती है। वे पुन ब्रज-वासियो के बीच अपना रसमय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं परतु वह दिन पुन कभी नही आया। हम पहले ही कह चुके हैं कि कृष्ण के वियोग में 'रो रो चिंता सहित दिन को राधिका थीं बिताती।' परन्तु उनका यह एकागी

है ज्ञाता की न गति जिसमें इन्द्रियातीत जो है।
सो क्या है, मैं अबुध अबला जान पाऊँ उसे क्यों।
शास्त्रों मे है कथित प्रभु के शीश औ लोचनों की।
सख्याएँ हैं अमित पग औ हस्त भी है अनेकों।
सो हो के भी रहित मुख से नेत्र नासादिकों से।
छूता, खाता, श्रवण करता देखता सूँघता है।
ज्ञाताओ ने विशद इसका मर्म यों है बताया।
सारे प्राणी अखिल जग के मूर्त्तियाँ हैं उसी की।
होती आँखें प्रभृति उनकी भूरि-सख्यावती हैं।
सो विश्वात्मा अमित-नयनों आदि वाला अत है।

* * *

ताराओं में तिमर हर में वह्नि विद्युल्लता मे।
नाना रत्नो, विविध मणियो मे विभा है उसीकी।
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपो में, खगों मे।
मैं पाती हूँ प्रथित प्रभुता विश्व में व्याप्त की ही।
मैने की है कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात बातें।
वे बातें है प्रकट करती ब्रह्म है विश्व-रूपी।
व्यापी है विश्व प्रियतम में विश्व में प्राण-प्यारा।
यों ही मैंने जगत-पति को श्याम में है विलोका।
शास्त्रो में है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सो दिव्या है मनुज-तन की सर्व ससिद्धियो से।
मे होती हूँ सुखित यह जो तत्वत देखती हूँ।
प्यारे की ओ परम-प्रभु की भक्तियाँ है अभिन्ना।

राधा इस प्रकार कृष्ण-प्रेमिका से प्रभु के विश्व रूप की प्रेमिका हो गयी। इस विश्व-रूप परम प्रभु के पूजन और अर्चना का भी प्रकार भिन्न है। राधा अकर्मण्य भक्त की भाँति मूर्ति-पूजा-

विषयक नवधा भक्ति को नया रूप प्रदान करती है और इस नवीन नवधा भक्ति की व्याख्या के अनुसार वे अपने महा प्रभु की अर्चना वदना करती है। हरिऔध जी लोक सग्रही व्यक्ति थे, अत उनकी नवधा भक्ति का रूप जन-कल्याणकारी है। शास्त्रो मे वर्णित नवधा भक्ति के सहारे कोई लोक-सेवी, जाति-सेवी और देश सेवी नही हो सकता। परतु राधा की नवधा भक्ति तो मनुष्य को जन-कल्याण और लोक-सेवा के विशाल कर्मक्षेत्र में ला उपस्थित करती है। जिस व्यक्ति ने विश्वात्मा का साक्षात्कार किया है वह लोक-सेवा से कैसे विरत रह सकता है!

कृष्ण ने राधा को त्याग और लोक-सेवामय जीवन व्यतीत करने का तो सदेश दिया परतु इसका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि उनका जोवन फूलो की सेज पर व्यतीत हो रहा था। कृष्ण स्वत अपने हृदय के अनेक मधुर भावो का शमन कर जीवन क्षेत्र मे अग्रसर हो रहे थे। उनका स्नेह भी लोक-कल्याण और जनहित के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उनका लोक और जनकल्याणकारी रूप मुक्ति और तप आदि की परिभाषा ही बदल देता है—

जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते है उसे आत्मत्यागी।
जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है।
है आत्मा का न सुख किसको विश्व के मध्य प्यारा।
सारे प्राणी स-रुचि इसकी माधुरी में बँधे हैं।
जो होता है न वश इसके आत्म-उत्सर्ग द्वारा।
ऐ कान्ते है सफल अवनी-मध्य आना उसीका।

प्रियप्रवास मे जहाँ हरिऔध जी ने जगत-हित, समाज-हित आत्मत्याग आदि लोक-सग्रही भावना के प्रसार का सदेश सुनाया वही उन्होंने प्रकृति से भी सम्पर्क वढाने का सकेत मानव को किया है। उनका कहना है कि प्रकृति को हमे केवल विषाद के उत्तेजक रूप मे ही नही देखना चाहिए। हम अपनी भावना की प्रतिच्छाया का अवलोकन कर अपनी दूषित भावना के अनुरूप प्रकृति का अवलोकन करते है। यह ठीक नही। हमे प्रकृति के साथ वही सबध स्थापित करना चाहिए जो राधा ने जीवन में आगे चलकर किया था। हमें चाहिये कि प्रकृति की सहानुभूति प्राप्त कर हम अपने कष्टो को दूर करे। उसकी सहानुभूति द्वारा अपने जीवन मे उदारता और प्रेम का विकास करे। विरहिणी राधा ने जिस प्रकार अपने एकदेशीय प्रेम को विश्व-प्रेम के रूप में परिणत कर लिया उसी प्रकार प्रकृति अन्य मनुष्यो के हृदय में विश्वात्मा के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर सकती है।

प्रियप्रवास मे अनेक स्थलो पर अनेक प्रकार से लोकाराधन की भावना व्यक्त की गयी है। जो लोक-सग्रही भावसे विमुख हो सकीर्ण व्यक्तिवाद की साधना करते है अथवा जिनकी कविताएँ व्यक्तिवाद का डका पीटती हैं और जो लोकाराधन को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं वे चाहे अपना कितना ही बखान क्यो न करे वे ससार को सन्मार्ग पर नही ले चल रहे हैं। वास्तविक कवि वही है जो प्राणी प्राणी के बीच प्राणी और प्रकृति के बीच प्रेम और स्नेह की उद्भावना करता है।

—❧❁☙—

'प्रियप्रवास' के अलौकिक चरित्र

प्रबध काव्यो में चरित्र-चित्रण के द्वारा समाज की भावनाओं का किस प्रकार परिष्कार किया जा सकता है इस सबध मे लोकाराधन वाले अध्याय मे हम ने कुछ विचार किया। प्रबध काव्यो में नायक के जीवन के विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न स्थानो मे नायक किस प्रकार व्यवहार करते है इसका सजीव चित्रण सफल कवि ही कर सकते है। सब लोगो मे वह क्षमता नही कि वे किसी पात्र के चरित्र की विभिन्न परिस्थितियो का सफल चित्रण कर सके। कृष्ण के बाल-चरित्र मे ऐसे क्षेत्रो का अभाव है जो उनके चरित्र की पूर्णता का निदर्शन करे परतु जो भी क्षेत्र हैं वे कम महत्व के नही है।

हरिऔध जी ने कृष्ण जीवन के प्रथम भाग को अपने महाकाव्य में स्थान दिया है। इस प्रथम भाग मे उनके चरित्र-चित्रण का जितना विकसित रूप सभव हो सकता था उसका अकन उन्होंने बडी सफलता से किया है। उन्होने कृष्ण-जीवन के प्रथम भाग में ही अनेक प्रकार की परिस्थितियो का समावेश करने का यत्न किया हैं। प्रियप्रवास के चार प्रधान पात्र हैं—कृष्ण, राधा, नन्द और यशोदा। इन चारो प्रमुख पात्रो के जीवन के सबध में यहाँ विस्तार से विचार करने का यत्न किया जायगा।

काव्यो में प्रबन्ध-कल्पना के दो भेद होते हैं —

१ कवि की अनुभूति पर आधारित अथवा काल्पनिक प्रबंध-कल्पना।

२ ऐतिहासिक प्रबध-कल्पना।

कवि की अनुभूतियो पर आधारित काल्पनिक प्रबध-कल्पना में कवि को अपनी इच्छानुसार परिवर्तन, स्वरूप का निर्धारण और रस का सचार, करने की स्वतत्रता रहती है। उसके मार्ग में कोई तत्व बाधक नही होते। वह अपनी इच्छानुसार कथाओ की काट-छॉट भी कर सकता है। लेकिन ऐतिहासिक प्रबध-कल्पना में कवि अनेक बधनो मे बॅधा रहता है। वह एक निश्चित अश तक ही कथा अथवा कथावस्तु मे परिवर्तन कर सकता है। परिवर्तन करते समय भी उसे अनेक बातो का ध्यान रखना होता है। ऐतिहासिक प्रबधो के विषय मे लोगो की कुछ पूर्व धारणाऍ होती हैं। इन धारणाओ की पीठिका, हमारे धार्मिक ग्रथ या सस्कृत-साहित्य है। कथाकार इन ऐतिहासिक कथाओ में ऐसा परिवर्तन करने के लिए स्वतत्र नही होता जिससे मूल कथा या कथा के मूल नायक के ऐतिहासिक चित्र को व्याघात पहुँचे। हॉ, इस प्रकार की प्रबध-कल्पना में कवि को अपनी कल्पना शक्ति का उपयोग नही करना पडता। उसे अपनी रचना के लिए पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है और वह समाज तथा लोक-रुचि के अनुसार कथा-प्रसग का निरूपण करता है। यदि कोई कवि ऐतिहासिक कथाओ में अधिक परिवर्तन करता है तो उसका काव्य दोषपूर्ण हो जाता है।

इस बात पर पहले ही विचार हो चुका है कि प्रियप्रवास

की कथा श्रीमद्भागवत के दशम् स्कध से ली गयी है। हरिऔध जी ने इस सबध मे स्वत लिखा है —

"हम लोगो का एक सस्कार है, वह यह कि जिनको हम अवतार मानते है, उनका चरित्र जब कही दृष्टिगोचर होता है तब हम उसकी प्रति पक्ति मे या न्यून से न्यून उसके प्रति पृष्ठ मे ऐसे शब्द या वाक्य अवलोकन करना चाहते है, जिनमे ब्रह्मत्व का निरूपण हो।

मैने श्री कृष्ण चन्द्र को इस ग्रथ मे एक महापुरुष की भॉति अकित किया है, ब्रह्म करके नहीं। अवतारवाद की जड़ मै श्रीमद्भगवद्गीता का यह श्लोक मानता हूँ—

यद्यद्विभूतिमत्सत्व श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोंऽशसभवम्॥

अतएव जो महापुरुष है उनका अवतार होना निश्चित है।"

हरिऔध जी के शब्दो से ही यह स्पष्ट है कि वे पदे-पदे ब्रह्म-ब्रह्म नही चिल्लाना चाहते। वे स्पष्ट रूप से यह स्वीकार कर रहे हैं कि मैं कृष्ण को विभूतिमान् व्यक्ति अथवा महापुरूष के रूप मे ही अकित करने जा रहा हूँ। परम्परा से राम और कृष्ण के लिए हिन्दू जाति के हृदय मे एक विशिष्ट प्रकार की भावना है। उन्हे हम भगवान अथवा ब्रह्म स्वीकार करते चले आ रहे हैं। इस भावना को किसी प्रकार ठेस पहुँचा कर कोई कीर्ति लाभ नही कर सकता। हरिऔध जी ने जो परिवर्तन किये वे किसी प्रकार ठेस पहुँचाने वाले न थे। वे जो भी परिवर्तन कर सके इसका प्रधान कारण था समय। उस समय अनेक नवीन भावनाओ का उदय हो रहा था। वैज्ञानिक आविष्कारो का युग होने के कारण प्रत्येक बात को बौद्धिक तुला पर तौलने की कुछ प्रवृत्ति

सी विकसित हो रही थी। यही कारण था कि हरिऔध जी के इस प्रकार के भावों का किसी भी क्षेत्र से विरोध नहीं हुआ।

दूसरी बात इस सबध मे और भी कही जा सकती है। राम और कृष्ण के चरित्र में थोडी भिन्नता है। राम के चरित्र से कभी-कभी यह सदेह उत्पन्न होता है कि वे ईश्वर थे अत गोस्वामी तुलसीदास जी को रामायण मे यत्र-तत्र अनेक बार पाठक को उनके ब्रह्मत्व का स्मरण दिलाना पडता है। कृष्ण ने जन्म से ही अलौकिक कार्य करने प्रारभ कर दिये थे। उनके इस अलौकिक और अद्भुत कार्यों के कारण उनमे विशिष्ट शक्ति को सब स्वीकार करते रहे हैं। कृष्ण की अलौकिकता के सबध मे लोगो की पर्याप्त दृढ़ भावना हो चुकी है। अत कृष्ण-चरित्र का वर्णन करते समय उनको बार बार ब्रह्म कहने की भी आवश्यकता नही प्रतीत होती। परतु उनके ऐतिहासिक चित्र को भी विकृत नहीं किया जा सकता। अत इन विचारो को दृष्टि मे रखते हुए विषय-निरूपण के सबध में हरिऔध जी प्रियप्रवास की भूमिका मे कहते हैं—

"मैंने भगवान श्री कृष्ण का जो चरित अंकित किया है, उस चरित्र का अनुधावन करके आप स्वय विचार करें कि वे क्या थे। मैंने यदि लिखकर आपको बतलाया कि वे ब्रह्म थे तो क्या बात रही।"

कथन मात्र से किसी को ब्रह्म नही सिद्ध किया जा सकता। कवि का कहना ठीक ही है कि मैंने उनके वास्तविक चरित्र का चित्रण कर दिया, अब पाठक यह निर्णय करे कि श्री कृष्णचद्र क्या थे। अब हम कृष्ण के चरित्र का अध्ययन करे—

कृष्ण

प्रियप्रवास में हमें सर्व प्रथम कृष्ण का दर्शन प्रथम सर्ग में

उस समय होता है जब वे ग्वाल-बालो के साथ गोधूलि बेला मे घर लौट रहे है। इस समय के कृष्ण अत्यन्त मधुर भाषी, प्रसन्न चित्त और हँसमुख दीख पडते है। वे विनोद और गान-प्रिय भी हैं। ब्रज के लोग कृष्ण के रूप और गुण पर लट्टू है। वे प्रति क्षण उनके अनुपम सौदर्य का दर्शन करने के लिए उत्सुक रहते है। परतु प्रियप्रवास मे वर्णित कृष्ण-चरित्र की यह एक प्रकार से अन्तिम झॉकी है। प्रियप्रवास के पूर्व हिन्दी के कवियो ने कृष्ण के केवल एक गुण—सौदर्य—की प्रतिष्ठा की थी। हरिऔध जी ने सौदर्य, शील और शक्ति तीनो गुणो का प्रियप्रवास मे निरूपण कर कृष्ण के व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास किया है। कृष्ण के एकागी रूप का जो वर्णन होता था और उसके कारण जो भावना-सबधी दुर्बलताऍ उत्पन्न हो रही थी उन्हे कवि ने भरसक दूर करने का पूर्ण प्रयत्न किया है। कृष्ण के शील, शक्ति ओर सौदय-मिश्रित व्यक्तित्व का कवि ने अद्भुत वर्णन किया है.—

ककुभ शोभित गोरज बीच से,
निकलते ब्रज - वल्लभ यो लसे।
कदन ज्यो करके दिशि कालिमा,
विलसता नभ मे नलिनाश है।
अतसि - पुष्प - अलकृत - कारिणी,
शरद नील सरोरुह - रजिनी।
नवल - सुन्दर - श्याम - शरीर की,
सजल - नीरद सी कल - कान्ति थी।
अति - समुत्तम अग समूह था,
मुकुर - मजुल औ मन-भावना।

सतत थी जिसमें सुकुमारता,
सरसता प्रतिबिम्बित हो रही।
विलसता कटि में पट-पीत था,
रुचिर-वस्त्र विभूषित गात था।
लस रही उर में बन माल थी,
कल दुकूल अलकृत कध था।
मकर-केतन के कल केतु से,
लसित थे वर कुडल कान में।
घिर रही जिनके सब ओर थी,
त्रिविध, भावमयी अलकावली।
मुकुट मस्तक का शिखि पक्ष का,
मधुरिमामय था बहु मजु था।
असित रत्न समान सुरजिता,
सतत थी जिसकी वर चद्रिका।
विशद उज्ज्वल - उन्नत भाल में,
विलसती कल केसर - खौर थी।
असित - पकज के दल में यथा,
रज - सुरजित पीत - सरोज की।

कृष्ण के इस सौन्दर्य-पूर्ण व्यक्तित्व में अनुपम शील का भी दर्शन होता था —

मधुरता - मय था मृदु - बोलना।
अमृत सिंचित सी मुसकान थी।
समद थी जन - मानस मोहती,
कमल - लोचन की कमनीयता॥

कृष्ण राजवश के थे। राजकुमार होते हुए भी उनमें किसी

प्रकार का दर्प न था। वे बडी नम्रता और विनय-शीलता के साथ सब से मिलते थे। यही कारण था कि सारा ब्रज उन पर न्यौछावर हो रहा था। कृष्ण के अग-प्रत्यग अत्यन्त सुगठित थे। उनके सुगठित शरीर को देखते ही उनकी सहज शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता था—

सबल-जानु विलम्बित बाहु थी।
अति सुपुष्ट समुन्नत वक्ष था।
वय किशोर कला लसिताग था।
मुख प्रफुल्लित - पद्म - समान था।

कृष्ण के शील, शक्ति और सौदर्य से युक्त व्यक्तित्व का प्रिय-प्रवास मे प्रारभ से अन्त तक निर्वाह किया गया है। कृष्ण के इन गुणो पर ब्रजवासी तो मोहित थे ही यहॉ तक कि पशु-पक्षी भी उनका स्मरण कर दुखी होते थे।

भयकर परिस्थितियॉ उत्पन्न होने पर कृष्ण एक आदर्श स्वय-सेवक के रूप मे जनता की सेवा करने को उद्यत रहते थे। महा-वृष्टि के कारण जब ब्रज की जनता पर भयकर विपत्ति आयी तब—

पहुँचते वहु या उस भाग मे।
बहु अकिंचन थे रहते जहाँ।
कर सभी सुविधा सब भाँति की।
वह उन्हें रखते गिरि-अक में।
परम वृद्ध असम्बल लोक को।
दुख-मयी-विधवा रुज ग्रस्त को।
बन सहायक थे पहुँचा रहे।
गिरि सुगह्वर में कर यत्न वे।

कालीनाग के कारण जब यमुना का जल विषाक्त हो गया

और अनेक ग्वाल-बाल तथा पशु-पक्षी उस विष के शिकार होने लगे तब अत्यत साहस और वीरता के साथ कृष्ण ने उसका अस्तित्व मिटाने का निश्चय किया —

अत करूँगा यह कार्य्य मैं स्वय ।
स्व-हस्त में दुर्लभ प्राण को लिए ।
स्वजाति औ जन्म धरा निमित्त मै ।
न भीत हूँगा विकराल व्याल से ।

सदा करूँगा अपमृत्यु सामना ।
सभीत हूँगा न सुरेन्द्र वज्र से ।
कभी करूँगा अवहेलना न मैं ।
प्रधान - धर्मांग परोपकार की ।

प्रवाह होते तक शेष श्वास के ।
सरक्त होते तक एक भी शिरा ।
स-शक्त होते तक एक लोम के ।
किया करूँगा हित सर्वभूत का ।

दावानल की ज्वाला में दग्ध होते ग्वाल-बालो को देखकर कृष्ण का हृदय जातीयता की भावना से भर जाता है। वे अत्यत उत्साहित होकर ग्वाल-बालो को अपनी जाति की सेवा करने के लिए उद्बोधित करते हैं —

विपत्ति से रक्षण सर्व-भूत का ।
सहाय होना अ-सहाय जीव का ।
उबारना सकट से स्वजाति का ।
मनुष्य का सर्व प्रधान कृत्य है ।

* * *

बढो करो वीर स्व जाति का भला।
अपार दोनो विधि लाभ है हमें।
किया स्वकर्तव्य उबार जो लिया।
सुकीर्ति पायी यदि भस्म हो गये।

देश की चिता ने कृष्ण के हृदय मे घर कर लिया था। देश, समाज और जाति के उत्थान के लिए वे अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का बलिदान कर सकते थे। कर्म-क्षेत्र का पथ बडा कटकाकीर्ण होता है। वे केवल प्रेमी ही नही थे जो प्रेम के लिए बैठ कर आँसू बहाते रहते। उनके सम्मुख तो कर्तव्य का महान सागर उद्वेलित हो रहा था। उसे अपने वश मे करने के लिए वे आगे बढ रहे थे। कृष्ण का सहज स्वाभाविक जीवन समाप्त हो गया। उत्फुल्ल अभोज के समान मुख मलिन रहने लगा। मुख पर चिंता विराजमान रहने लगी। अपने हृदय के भाव को वे कहाँ तक छिपाते। आखिर एक दिन वह फूट ही पडा—

शोभा सभ्रम शालिनी-ब्रज धरा,
प्रेमास्पदा - गोपिका।
माता-प्रीतिमयी प्रतीति-प्रतिमा,
वात्सल्य - धाता - पिता।
प्यारे गोप कुमार, प्रेम-मणि के,
पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न, सदैव याद उनकी,
देती व्यथा है हमें।

इस प्रकार की भावुकता रहने पर भी वे आत्मसंयमी हैं। उनका हृदय चलदल के समान चचल नही है। वे अपने कर्तव्य

की गम्भीरता को समझते हैं और उससे किसी प्रकार विमुख नही हो सकते।

जब तक वे ब्रज में रहे सब की सेवा करते रहे। जगलो में वे गाये चराने के उद्देश्य से नही जाया करते थे। वहाँ भी वे हिंसक पशुओ को मारकर अपने ब्रज के पशुओ की रक्षा के विचार से ही जाते थे—

परन्तु आते वन में समोद वे।
अनन्त-ज्ञानार्जन के लिए स्वय।
तथा उन्हें वाछित थी नितान्त ही।
वनान्त मे हिंसक-जन्तु-हीनता।

कृष्ण अत्यत लोक-प्रिय थे। उनकी लोकप्रियता आज कल के किसी बडे नेता से कम न थी। उनका दर्शन मात्र लोगो के हृदय में उत्साह का सचार करता था। कृष्ण को आते देख—

बहु युवा युवती गृह - बालिका।
विपुल - बालक वृद्ध वयस्क भी।
विवश से निकले निज गेह से।
स्वन्ग का दुख मोचन के लिए।

जिस समय अक्रूर उन्हे लेकर मथुरा के लिए चलने लगे तब जन-मन की भावना का प्रतीक आभीर बूढा आकर कहने लगा—

सच्चा प्यारा सकल-ब्रज का वश का है उँजाला।
दीनों का है परम धन औ वृद्ध का नेत्र-तारा।
बालाओं का प्रिय स्वजन औ बन्धु है बालकों का।
ले जाते हैं सुर-तरु कहाँ आप ऐसा हमारा।

यही क्या, दु ख-सतप्ता वृद्धा विलख कर चीख उठी:—

जो चाहेगा नृपति मुझसे दण्ड दूँगी करोड़ो।
लोटा थाली सहित तन के वस्त्र भी बेंच दूँगी।
जो माँगेगा हृदय वह तो काढ दूँगी उसे भी।
बेटा, तेरा गमन मथुरा मै न आँखो लखूँगी।

कृष्ण के गमन का समाचार सुनकर आकुल गायो की कारुणिक दशा तो और भी हृदय द्रावक है—

दौड़ी आयी निकट हरि के पूँछ ऊँचा उठाये।
वे थी खिन्ना विपुल विकला वारि था नेत्र लाता।
ऊँची आँखो कमल मुख थी देखती शकिता हो।

काकातूआ भी द्वार पर यही चिल्ला रहा था:—

'यो लोगो को व्यथित करके लाल जाते कहाँ हो।'

प्रियप्रवास मे कृष्ण के हृदय और बुद्धि का, मनोविकारो और मस्तिष्क का, प्रेम और विवेक का सघर्ष अत्यन्त सहृदयता के साथ वर्णित है। इस सघर्ष मे कभी कभी उनके हृदय की दुर्बलताओ की भी झलक दीख पडती है।

'ठेठ हिन्दी का ठाट' के देवनन्दन और 'अधखिला फूल' के देवस्वरूप नामक चरित्रो की उद्भावना मे हरिऔध जी ने जिन विचारो का प्रारभिक रूप प्रकट किया था वे विचार पूर्ण प्रौढ व्यक्तित्व के रूप में कृष्ण के चरित्र में विकसित हुए हैं। हरिऔध जी के विचारों में किस क्रांति के फल स्वरूप यह स्थिति उत्पन्न हुई इसका सकेत व्यक्ति खड में किया जा चुका है।

****

राधा की कल्पना और प्रियप्रवास की राधा

कृष्ण-प्रिया राधा की कल्पना सर्व प्रथम किसने की इस सबध मे इतिहास एक दम मौन है। श्रीमद्‌भागवत में राधा के नाम का कही भी उल्लेख नही है। हमारे देश के अनेक विद्वानो ने राधा के सबध मे खोज करते समय अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की है। किसी विद्वान ने कहा कि राधा मध्य एशिया से आने-वाली आभीर जाति की उपास्य देवी है। कुछ विद्वानो का मत है कि आभीर नामक द्राविण जाति की राधा पूजनीया देवी है और उनका अस्तित्व उस समय भी था जब वेदो की रचना भी नही हुई थी। कुछ लोगो ने कल्पना की है कि यह किसी कवि की मधुर कल्पना मात्र है। प्राचीन समय के लेखक और कवि इस प्रकार की कल्पनाओ के सबध में अपना नाम अज्ञात रखते थे।

तथ्य क्या है कहा नही जा सकता, परतु राधा के नाम का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रथो में यत्र-तत्र पाया जाता है। गाथा शप्तसती और पचतत्र मे राधा के नाम का उल्लेख है, परतु यह राधा हमारे कृष्ण की सहचरी ही हैं यह नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा अन्य पुराणो में भी कृष्ण के नाम के साथ

राधा का नाम मिलता है परन्तु ये पुराण कब लिखे गये, इनका रचना-काल क्या है ये सब बातें संदिग्ध हैं। पुराणों की राधा और वैष्णव-धर्म की राधा में बड़ी भिन्नता है।

सर्व प्रथम राधा की मधुर मूर्ति का दर्शन हमें जयदेव की कोमल कांतपदावली में होता है। जयदेव जी की वाणी ने राधा और कृष्ण की मधुर मूर्ति जनता के हृदय में प्रतिष्ठित कर दी। कहा जाता है कि जयदेव के पूर्व ध्वन्यालोक के एक पद्य में राधा की मधुर मूर्ति की ओर संकेत किया गया है, परन्तु ध्वन्यालोक की रचना जयदेव के पूर्व हो चुकी थी यह बात भी अभी संदिग्ध है। ध्वन्यालोक के निम्नलिखित श्लोक का अवलोकन कीजिए—

> तेषां गोपवधू विलास सुहृदां राधा रह साक्षिणां,
>
> क्षेम भद्र ! कलिन्द शैल तनया तीरे लता वेश्मनाम्।
>
> विछिन्ने स्मर तल्प कल्पन मृदुच्छेदोपयोगेऽधुना,
>
> ते जाने जरठी भवन्ति विगलन्नीलत्विष पल्लवा।

द्वारिका में निवास करने वाले कृष्ण ब्रज से आये पथिक से पूछते हैं, हे महानुभाव ! गोपियों के विलास, सुहृद राधा जी के साथ की हुई केलि के साक्षी, यमुना तट के लताकुंज कुशल से तो हैं ? वे कुशल से क्या होंगे ! जब से मैं पृथक् हो गया हूँ तब से प्रेम-शय्या की रचना तो होती न होगी अतः वे हरे हरे कोमल किसलय तोड़े ही न जाते होंगे। मुझे अच्छी तरह विदित है कि वे पल्लव श्री-विहीन होकर सूख जाते होंगे।

जयदेव के पूर्व राधा की प्रेम-मूर्ति का यही परिचय हमें मिलता है। इस पद्य में भी राधा का कोई प्रत्यक्ष परिचय नहीं है। इसके बाद तो जयदेव की विलासनी राधा का अकल्पनीय

सौन्दर्य के साथ उदय होता है। राधा, कृष्ण के प्रेम मे आसक्त होकर पगली की भाँति उन्हे खोजती फिरती है। उन्हे यह ज्ञात है कि कृष्ण अनेक गोपियो के प्राण-वल्लभ है फिर भी वे उनके साहचर्य के लिए लालायित है। मानापमान की भावना को ताक पर रख कर राधा कृष्ण के प्रेम में दीवानी हो जाती है।

जयदेव के बाद बग साहित्य मे चडीदास ने राधा की, नायिका के रूप मे अवतारणा की। चडीदास की राधा परकीया नायिका है और वे परकीया नायिका के सब गुण-दोषो से युक्त होकर समाज में उपस्थित होती है, परतु यह स्वीकार करना पडेगा कि कवि की चमत्कार पूर्ण लेखनी ने राधा के अनुपम रूप-लावण्य का ही वर्णन नही किया वरन् प्रेम का अत्यत कोमल चित्र नेत्रो के सम्मुख ला उपस्थित किया हें।

चडीदास के उपरान्त विद्यापति की कोमल कान्तपदावली में राधा के विलासपूर्ण रूप की झाँकी देखने को मिलती है। विद्यापति की राधा मे प्रेम का उत्कृष्टता नही। सच्चे प्रेम की टीस नही हे। वह तो विलास की मूर्ति के रूप मे साहित्य-गगन मे आती है। विद्यापति की राधा हाव भाव-कुशला-किशोरी हैं। उनके हृदय मे वासनाओ की महत्वाकाक्षा है। चडीदास की राधा मे जो सहृदयता, सरलता, और औत्सुक्य है वह विद्यापति की राधा में नही मिलता। विद्यापति की राधा में कुछ जल्दीबाजी अवश्य है।

इन कवियो की कल्पना से सर्वथा पृथक् चित्र हमें सूरदास जी की राधा का मिलता है। सूरदास की राधा विलासिनी नहीं। वे अपनी मर्यादा का उल्लघन नही करती। उनका प्रेम-सागर मर्यादा की सीमा का उद्वेलन नही करता। सूरदास की राधा के दोनो

ही चित्र—सयोग और वियोग पक्ष—अद्भुत है। यदि सयोग के अवसर पर राधा विलासिनी के रूप मे र्‌ग्ग ने ग्प.ती हैं तो वियोग की स्थिति मे वे पूर्णत वियोगिनी के रूप में ही चित्रित की गयी है।

सूरदास के बाद तो चार सौ वर्ष के ब्रज साहित्य मे, कुछ कवियो को अपवाद स्वरूप छोडकर, सब कवियो ने राधा के सयोग पक्ष का सफल चित्र भले ही निर्मित किया हो परतु उनका वियोग पक्ष का चित्र अत्यन्त कृत्रिम और असत्य है। इस काल का ब्रज-साहित्य हमे राधा का जो रूप प्रस्तुत करता है उसमे वे अपनी प्रेम की प्रबलता के सम्मुख लोक-लज्जा को तिलाजलि दे सकती है। उन्हे किसी की किसी तरह की परवाह नही। परतु इस बात का प्रमाण हमे नहीं मिलता कि यदि राधा के सामने एक ओर प्रिय के परित्याग करने का प्रश्न होता और दूसरी आर लोक-कल्याण का कार्य होता ता वे इन दोनो मे से किस मार्ग को चुनती। वास्तविक स्थिति तो यह है कि ब्रज-भाषा साहित्य मे राधा के एकागी जीवन का, एक पक्ष का ही, चित्र हमे मिलता है। लोक-कल्याण की भावना से प्रिय के परित्याग करने का चित्र अकित करने का अवसर ही उन कवियो को नही मिला।

लोक-कल्याण की भावना से, प्रिय के वियोग के कारण, राधा के हृदय-सौदर्य का जो विकास हुआ था, या हो सकता था उसका चित्र ब्रज-साहित्य में देखने को नहीं मिलता। राधा के इस रूप की कल्पना सर्व प्रथम हरिऔध जी ने अपने काव्य प्रियप्रवास में की है। हरिऔध जी की राधा का चित्र हृदय की दृढता-दुर्बलता, प्रेम की गभीरता और व्याकुलता आदि का मिश्र चित्र है।

प्रियप्रवास के सुगठित मासल शरीर के रूप में यदि कृष्ण का चरित्र है तो उस शरीर को स्पदन युक्त करने वाली महाशक्ति-

शाली आत्मा राधा है। राधा के अभाव मे प्रियप्रवास काव्य का हृदयस्पर्शी सौंदर्य क्षण में ही समाप्त हो जायगा। प्रियप्रवास काव्य के सूत्रधार के रूप मे हमें कृष्ण और राधा का परिचय मिलता है। कृष्ण और राधा का स्नेह बड़े ही सहज और स्वाभाविक रीति से प्रणय के रूप मे परिवर्तित हुआ था। सभव है ब्रज मे अनेक गोपिकाएँ कृष्ण को राधा से भी अधिक उत्कट रूप में प्रेम करती रही हों, परतु कृष्ण, राधा की ओर ही सबसे अधिक आकर्षित थे। राधा और कृष्ण के प्रेम का कब और किस प्रकार बीजारोपण हुआ उसे देखिए—

जब नितान्त - अबोध मुकुन्द थे।
विलसते जब केवल अक में।
वह तभी वृषभानु निकेत में।
अति समादर साथ गृहीत थे।
छविवती - दुहिता वृषभानु की।
निपट थी जिस काल पयोमुखी।
वह तभी ब्रज - भूप कुटुम्ब की।
परम - कौतुक पुत्तलिका रही।
यह अलौकिक - बालक - बालिका।
जब हुए कल - क्रीडन - योग्य थे।
परम - तन्मय हो बहु प्रेम से।
तब परस्पर ये मिल खेलते।
कलित क्रीड़न से इनके कभी।
ललित हो उठता गृह - नन्द का।
उमड़ सी पड़ती छवि थी कभी।
वर निकेतन में वृषभानु के।

राधा में केवल शारीरिक सौन्दर्य मात्र नही था। वे बडी सहृदया और अनेक गुण सम्पन्ना बालिका थी। राधा के रूप-माधुर्य का चित्र देखिये —

रूपोद्यान प्रफुल्ल - प्राय - कलिका राकेन्दु - विम्बानना।
तन्वगी कल - हासिनी सुरसिका क्रीड़ा - कला पुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य लीला-मयी।
श्री राधा - मृदुभाषिणी मृगदृगी - माधुर्य मूर्ति थी।
फूले कज - समान मजु - दृगता थी मत्तता - कारिणी।
सोने सी कमनीय - कान्ति तन की थी दृष्टि उन्मेषिनी।
राधा की मुसकान की मधुरता थी मुग्धता - मूर्ति सी।
काली - कुचित - लम्बमान - अलकें थी मानसोन्मादिनी।
नाना - भाव - विभाव - हाव कुशला आमोद आपूरिता।
लीला लोल - कटाक्ष - पात - निपुणा भ्रूभगिमा - पडिता।
वादित्रादि समोद - वादन - परा आभूषणाभूषिता।
राधा थी सुमुखी विशाल नयना आनन्द - आन्दोलिता।
लाली थी करती सरोज - पग की भूपृष्ठ को भूषिता।
विम्बा विद्रुम को अकान्त करती थी रक्तता ओष्ठ की।
हर्षोत्फुल्ल मुखारविंद - गरिमा सौन्दर्यआधार थी।
राधा की कमनीय कान्त छवि थी कामागना मोहिनी।

स्वभावतया अपूर्व रूप-युक्त कृष्ण के प्रति यौवनावस्था में राधा का आकर्षण हुआ। यह आकर्षण प्रणय मे परिवर्तित हुआ। राधा अपने हृदय को कृष्णार्पण कर चुकी थीं। वे उन्हें पति के रूप मे भी वरण करना चाहती थीं परन्तु उनकी यह इच्छा दुर्भाग्य के कारण कभी पूर्ण न हो सकी। राधा सी रूपवती लावण्यमयी विदुषी नारी की कामनाओ पर तुषार-पात हुआ।

यदि राधा की चलती तो वह कृष्ण को कभी मथुरा न जाने देती। परतु कृष्ण का दृढ प्रतिज्ञ विचार और उनका साहसिक जीवन अबाध गति से आगे अग्रसर हो रहा था। वे किसी बाधा को अपने मार्ग का रोडा न बनने देते। राधा ने जब कृष्ण के मथुरा-गमन की बात सुनी तो वे रात भर रोती ही रह गयी। उनके ऑख के ऑसू न रुके। उन्होने भगवान से रात्रि न बीतने की भी प्रार्थना की परतु नियति के कठोर बधन से कब और कौन बच सका! प्रात काल हुआ और व्रज-धरा को भस्म कर देने वाला सूर्य प्राची मे उदित हुआ। सूर्य को राधा ने अग्नि पिण्ड के रूप में देखा। उसके कुछ समय बाद ही कृष्ण मथुरा चले गये। राधा का जीवन विषाक्त हो गया।

काल पाकर उनका दु ख कम हुआ। उन्हे यह भी ज्ञात हुआ कि कृष्ण लोक-कल्याण की दृष्टि से मथुरा गये है और कार्य-व्यस्त होने के कारण वे व्रज आने में विवश है। राधा के जीवन मे भी उपकार का महत्वपूर्ण स्थान था—

रोगी वृद्ध जनोपकार - निरता सच्छास्त्र चिन्तापरा।
राधा थी सुमना प्रसन्नवदना स्त्री जाति रत्नोपमा।

इन पक्तियो से स्पष्ट है कि श्रीमती राधा के विशाल हृदय मे त्याग का, उपकार का अकुर पहले से ही वर्तमान था।

राधा की सहृदयता और विशाल हृदयता का तब परिचय मिलता ह जब उन्होने पवन को दूती बनाकर भेजा था। वे विरह के जोश मे अपना होश नही खो बैठी थी। अपनी आकुलता में उन्हे दूसरो का कुछ भी ध्यान न था यह बात नही। वे उससे कहती हैं कि तू मार्ग में इस प्रकार जाना जिससे कि किसी को कष्ट न पहुँचे। जहाँ तक सभव हो दूसरो की सहायता करना, और—

लज्जाशीला पथिक महिला जो कहीं दृष्टि आये।
होने देना विकृत-वसना तो न तू सुन्दरी को।
जो थोड़ी भी श्रमित वह हो गोद ले श्रांति खोना।

यही नही वे पवन से कहती है कि यदि कोई सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा हो तो उसे किसी प्रकार का कष्ट न हो इस बात का भी ध्यान रखना —

जो पुष्पा के मधुर - रस को साथ सानन्द बैठे।
पीते होवें भ्रमर भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना।

*　　　*　　　*

तेरी जैसी मृदु पवन से सर्वथा शान्ति कामी।
कोई रोगी पथिक पथ में जो कहीं भी पड़ा हो।
मेरी सारी दुखमय दशा भूल उत्कण्ठ होके।
खोना सारा कलुष उसका शान्त सर्वांग होना।

राधा का प्रेम स्वार्थी नही है, एकागी नही है। उसमे किसी प्रकार का प्रमाद नही है। उनकी उदारता विरहाग्नि में तप्त होने पर और भी खरी उतरी। उनके स्वार्थ और परोपकार मे किसी प्रकार का सघर्ष नही है। राधा नारी है, उनमे भी नारी सुलभ दुर्बलताएँ है, विशेष कर कृष्ण के प्रेम के सबध में। वे उन्हे अपने प्राणो से अधिक चाहती थी। जहा कृष्ण का उनका सबध स्पष्ट रूप से सम्मुख आता है वहाँ उनकी वह हार्दिक दुर्बलता प्रकट हो जाती है। परतु यह दुर्बलता केवल उलाहना मात्र तक ही सीमित है। इसने उनके जीवन पर प्रभाव नहीं डाला है।

जब हम व्यथिता है ईदृशी तो मुझे क्या।
कुछ सदय न होना चाहिये श्याम - बन्धो।

प्रिय निठुर हुए है दूर हो के दृगों से।
मत निठुर बने तू सामने लोचनों के।

राधा के हृदय के भाव वियोग की उत्कटता के कारण छिपे न रह सके। उनके हृदय की भावना व्यक्त हो ही जाती है—

वैसी वाछा जगत-हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है।

राधा भी तो मनुष्य है। उनके हृदय में भी ममता है, स्नेह है और नारी-जीवन की कोमल आसक्ति। ऐसी स्थिति में जगत-हित के कारण जो कठोर और नीरस जीवन उनका हो गया है वे उसे कहाँ तक सहन करतीं। राधा का कृष्ण के प्रति महान आकर्षण था। वे उनकी सच्ची प्रेमिका है। कृष्ण तो केवल प्रेम-पात्र हैं। ऐसी स्थिति में कृष्ण की निष्ठुरता ने उनके हृदय में अतुलनीय वेदना उत्पन्न कर दी है। ऐसी स्थिति में राधा का दुर्बल हृदय चित्रित करना भी आवश्यक था। यदि कवि ने राधा को इस रूप में चित्रित न किया होता तो उसके सामने बडी कठिनाई हो जाती। राधा अपने हृदय की दुर्बलता को भलीभाँति जानती हैं। वे उद्धव से कहती हैं—

यत्नों द्वारा प्रतिदिन अत मै महा सयता हूँ।
तो भी देती विरह-जनिता वासनाएँ व्यथा हैं।

राधा के हृदय में केवल ममता और मोह का ही निवास नही है। उनके प्रणय का भी उनके हृदय में निवास है—

प्यारे प्यारे सगुण गण के सात्विकी मूर्ति वे हैं।
कैसे व्यापी प्रणय उनका अन्तरो में न होगा।

समय बडा बलवान होता है। समय की गति धीरे धीरे बडे

से बडे दु ख हलका कर देती है। सारे ब्रज-वासियो के साथ ही राधा का भी दु ख हलका हुआ—

कोई प्राणी भला कब तक खिन्न होता रहेगा।
ढालेगा अश्रु कब तक क्यों थाम टूटा कलेजा।
जी को मार नखत गिन के ऊब के दग्ध हो के।
कोई होगा विरत कब लौं विश्व व्यापी सुखो से।

* * *

गोपी गोपों जनक जननी बालिका बालकों के।
चित्तोन्मादी प्रबल दुख का वेग भी काल पा के।
धीरे धीरे बहुत बदला हो गया न्यून प्राय।
तो भी व्यापी हृदय तल में श्यामली मूर्ति ही थी।

जीवन के इस परिवर्तन से दृष्टिकोण मे भी परिवतन हुआ। विरहावस्था में प्रकृति की जो सामग्री दु ख का उद्दीपन करती थी वही नवीन परिवर्तनो के कारण दूसरे रूप में सम्मुख आयी। इस परिवर्तन ने सम्पूर्ण प्रकृति को कृष्ण का प्रतिरूप ही बना दिया। राधा के जीवन का यह नवीन अध्याय था। जो वस्तुएँ दुखद थी वे अब केवल सुखद ही नहीं अनुपम शान्तिदायिनी हो गयी—

फूली सन्ध्या परम प्रिय की कान्ति सी है दिखाती।
मैं पाती हूँ रजनि तन में श्याम का रग छाया।

* * *

साय प्रात सरस स्वर से कूजते हैं पखेरू।
प्यारी - प्यारी मधुर - ध्वनियाँ मत्त हो हैं सुनाते।
मैं पाती हूँ मधुर ध्वनि में कूजने में खगों के।
मीठी - तानें परम - प्रिय की मोहिनी वंशिका की।

राधा की इस तन्मयावस्था ने उनकी और कवि की एक बडी भारी समस्या का हल ढूँढ निकाला। श्याम का भौतिक रूप तो आँखो से ओझल भी हो सकता था परतु सारी प्रकृति मे व्याप्त उनका रूप तो सदा सम्मुख वर्तमान रहने वाला है। राधा के इस मानसिक धरातल की उच्चता ने उनके बधन छिन्न-भिन्न कर दिये। उनके दुख का कारण विलुप्त हो गया.—

प्यारे आवें सु बयन कहें प्यार से गोद लेवें।
टटे होवे नयन - दुख हो दूर मैं मोद पाऊँ।
ये भी हैं भाव मम उर के और ये भाव भी हैं।
प्यारे जावें जग हित करें गेह चाहे न आवें।

राधा का यह उन्मुक्त रूप उनके हृदय की सबलता का परिचायक है। उनके हृदय में चिता के स्थान पर परम शाति का निवास हो गया। उनके नेत्रो में वियोगजन्य अश्रु के स्थान पर लोकोपकारिता के आनन्द से उद्भूत जल-विन्दु के दर्शन होते हैं। अब वे मोह-माया-युक्त साधारण नारी के स्थान पर देवी हैं। उन्हे अब अपना दुख नही सताता और न उन्हे उसकी चिन्ता ही है। अब तो वे जनता के दुख से द्रवित है —

मै ऐसा हूँ न निज दुख से कष्टिता शोक मग्ना।
हा! जैसी हूँ व्यथित व्रज के वासियो के दुखो से।
गोपी गोपो विकल व्रज का बालिका-बालको को।
आ के पुष्पानुपम मुखडा प्राणप्यारे दिखावें।

राधा ने अपने इसी सदेश द्वारा गोप-गोपियो के हृदय की वेदना कम की —

देखो प्यारी भगिनि सब को प्यार की दृष्टियों से।
जो थोडी भी हृदय - तल में शान्ति की कामना है।

ला देता है जलद दृग में श्याम की मंजु - शोभा।
पक्षाभा से मुकुट - सुषमा है कलापी दिखाता।
पी का सच्चा प्रणय उर मे आँकता है पपीहा।
ये बातें है सुखद इनमें भाव क्या है व्यथा का।

राधा का उदार हृदय विश्व प्रेमिका के रूप मे विकसित हुआ। वे चींटी से लेकर मनुष्य तक, सबकी सेवा मे निरत हो गयीं;—

आटा चींटा विहग - गण ये वारि औ अन्न पाते।
देखी जाती सदय उनकी दृष्टि कीटादि में भी।
* * *
दीनों की थी बहिन जननी थीं अनाथाश्रिता की।
आराध्या थी ब्रज अवनि की प्रेमिका विश्व की थी।

साधारण मानव-जीवन, विकसित होकर कितना ऊपर उठ सकता है इसका राधा के जीवन से सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है। राधा किस प्रकार साधारण मनुष्य से देवी के रूप मे परिवर्तित हो गयी, इस कथा का वर्णन करने का तात्पर्य यह है कि हमे यह स्पष्ट हो जाय कि राधा के जीवन मे एक वह स्थिति आयी जब वे सुख-दुख को समान रूप प्रदान कर सकती थी। उनके लिए सुख-दुख में किसी प्रकार का अन्तर न रह गया। राधा की इस मानसिक दशा का पाठक को ज्ञान रहता है फिर भी उसके हृदय में राधा के प्रति सहानुभूति जागरित होती है और वह राधा के दुख से दुखी हुए बिना नहीं रह सकता। प्रश्न उठता है कि राधा ने लोक-सेवा का पथ किस लिए स्वीकार किया? केवल इसी लिए न कि वह अपने जीवन के उद्देश्य में सफल न हो सकी! जिस सुख की आकाक्षा उन्हे थी वह अप्राप्य रह गयी। स्वभावतया उनके लिए हृदय में सहानुभूति

उठती है। इस प्रश्न पर एक प्रकार से और विचार किया जा सकता है। क्या जिन दिनो विरह-वियोग से दग्ध होकर राधा अपना जीवन व्यतीत कर रही थी उन दिनों ही या जब उनके हृदय में विश्व का प्रेम जागृत हो चुका था तब यदि यह विरहावस्था समाप्त हो जाती या उन्हे प्रियतम प्राप्त हो जाते तो उनका यह विश्व-प्रेम स्थिर रह पाता ? इस प्रश्न का केवल यही उत्तर है कि राधा के लिए उस समय विश्व-प्रेम मे लिप्त रहना सभव न होता। वे निश्चय ही उनकी मुरली की तानो पर थिरक उठती।

राधा को वाछित इष्ट की प्राप्ति नही हुई—चाहे उसके स्थान पर उन्हे कुछ भी प्राप्त क्यो न हो गया हो—इसका ध्यान कर हमें दु ख और सहानुभूति होती है। यह तो राधा की विशेषता है कि उन्होने अपने जीवन के प्रौढावस्था में अपनी वृत्तियों को सयमित कर सन्मार्ग पर लगाया। यदि राधा की अवस्था जीवन भर दयनीय ही बनी रहती तो प्रियप्रवास का उद्देश्य ही सिद्ध न होता।

राधा ने मानवीय हृदय के माध्यम से ईश्वर-प्राप्ति की साधना में किस प्रकार सफलता प्राप्त की यह हरिऔध जी की अनुभूति की देन है। राधा के जीवन मे हरिऔध जी की मानसिक वृत्तियो का, धार्मिक भावना का हमें एक उदार रूप व्यक्त हुआ दीख पडता है।



यशोदा

भारतीय सभ्यता, सस्कृति और साहित्य मे माता का बडा उच्च और गौरवपूर्ण स्थान है। माता का स्थान पिता से कही अधिक उच्च है। माता का स्निग्ध-हृदय ही उसे यह उच्च पद दिलाने मे समर्थ हुआ है। माता की पुत्र के प्रति जो ममता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अपने पुत्र की बलाएँ माता स्वय लेने को तैयार रहती है। वह अपन पुत्र पर किसी प्रकार की ऑच नही आने देना चाहती।

प्रियप्रवास मे भारतीय माता के आदर्श चरित्र की उद्भावना की गयी है। यशोदा का मातृ स्नेह-हृदय श्रद्धा तो उत्पन्न करता ही है साथ ही वह हमारे हृदय को करुणा से ओत-प्रोत कर देता है। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रारभ से अन्त तक हमें यशोदा माता की करुण मूर्ति का ही दर्शन होता है। कृष्ण, यशोदा माँ को प्राणो से भी अधिक प्रिय है। वे उन्हे एक क्षण के लिए भी ऑखो से ओझल नही करना चाहतो। कृष्ण के मथुरा-गमन की बात सुनकर उनका हृदय सशकित हो उठता है और वे उनके भावी कष्टो के कारण उद्वेलित हो उठती है। उनके भग्न-हृदय की पीड़ा का अनुमान नही लगाया जा सकता। कृष्ण, यशोदा के

जीवन के आधार-स्तम्भ से हैं। इस आधार-स्तभ के टूट जाने से उनका हृदय बैठ जाता है।

यशोदा एक सीधी-सादी माँ है। वे लोक-सेवा, जन-हित आदि बातो को न जानती है और न ये बाते उनके हृदय को किसी प्रकार प्रभावित करती हैं। वे तो एक मात्र अपने पुत्र को अपनी आँखो के सम्मुख रखना चाहती हैं। अक्रूर को देखते ही वे भावी आशका भाँप गयी। बहुत समझाने-बुझाने पर वे कृष्ण को अपने पति के साथ भेजने के लिए तैयार हो जाती है परतु वे उन्हे अनेक बाते इस भावुकता के साथ समझाती है कि पाठक का हृदय द्रवित हो जाता है। उन्हे यह विश्वास नही होता कि उनके अतिरिक्त और कोई भी उनके पुत्र का उनके इतना योग-क्षेम का ध्यान रख सकेगा। वे नन्द जी से कहती हैं—

सब पथ-कठिनाई नाथ है जानते हो।
अब तक न कही भी लाडिले है पधारे।
मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना।
कुछ पथ-दुख मेरे बालको को न होवे।
विमल जल मँगाना देख प्यासा पिलाना।
कुछ क्षुधित हुए हो व्यजनो को खिलाना।
दिन वदन सुतो का देखते ही बिताना।
विलसित अधरों को सूखने भी न देना।

जो यशोदा माता कृष्ण को सोया देख इस लिए जोर से नही रोती कि कही उनके रुदन की आवाज से कृष्ण जग न जायँ। वे उन्हे अपने हृदय से विवश होकर पृथक् करती है। वे उनके दो दिन के वियोग में बेचैन हो उठती है। उन्हे यह क्या पता था कि कृष्ण अनिश्चित काल के लिए उनसे विदा हो रहे है। जब

मथुरा से नन्द अकेले आये और कृष्ण उनके साथ न लौटे तब उनका रहा-सहा, धैर्य का बाँध भी टूट गया। वे बिलख उठी —

प्रिय - पति वह मेरा प्राण - प्यारा कहाँ है।
दुख जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है।
अब तक जिसको मैं देख के जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहाँ है।

मुझ विजित - जरा का एक आधार जो है।
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा।
धन मुझ निधनी का लोचनो का उँजाला।
सजल जलद की सी कान्तिवाला कहाँ है।

वर-वदन विलोके फुल्ल अभोज ऐसा।
करतल-गत होता व्योम का चद्रमा था।
मृदु रव जिसका है रक्त सूखी नसों का।
वह मधु - मय - कारी मानसो का कहाँ है।

ममता का पाश बडा कष्टकर होता है। आशा उसे निराशा के बीच भी जिलाती रहती है। वह असभव को भी सभव बना देने की कल्पनाओ को जन्म देती है। यशोदा को किसी प्रकार यह विश्वास नही होता था कि अब उनका लाडिला कभी लौटकर नही आयेगा। आज भी वे उसकी बाट जोहती थी। उसके लिए सब कुछ व्यवस्थाएँ करती थी —

दिन दिन भर वे आ द्वार पै बैठती थीं।
प्रिय-पथ लखते ही वार को थी विताती।
यदि पथिक दिखाता तो यही पूछती थीं।
मम सुत गृह आता क्या कहीं था दिखाया।

अति अनुपम मेवे औ रसीले फलों को।
बहु मधुर मिठाई दुग्ध को, व्यजनों को।
पथ-श्रम निज प्यारे पुत्र का मोचने को।
प्रति दिन रखती थी भाजनों में सजा के।

यशोदा के जीवन का यह क्रम बहुत दिन तक चलता रहा परन्तु उनकी निराशा आशा में परिणत न हुई। बहुत दिन व्यतीत हो गये। कृष्ण जी न आये। उनका सदेश लेकर उद्धव आये। उद्धव को देख कर यशोदा का वियोग पुन. उमड पडता है। वे उद्धव से अपनी दशा का वर्णन नही करती। उन्हे तो अपने शरीर और प्राण से भी कही अधिक श्याम की चिता है। वे यह भी नही पूछती कि श्याम मथुरा से क्यो नही आये। वे तो बस यही जानना चाहती है कि कृष्ण आनन्द से ता है—

मेरे प्यारे स-कुशल सुखी और सानन्द तो है?
कोई चिंता मलिन उनको तो नही है बनाती?
ऊधो छाती वदन पर है म्लानता भी नही तो?
हो जाती है हृदय-तल मे तो नही वेदनाएँ?
सकोची है अति सरल है धीर है लाल मेरा।
होता लज्जा अमित उसको माँगने मे सदा थी।
जैसे ले के स रुचि सुत को अङ्क मे मै खिलाती।
हा! वैसे ही अब नित खिला कौन माता सकेगी।

यशोदा की वेदना माता के हृदय की वेदना है। उनका घाव ऐसा है कि उसे कोई मलहम भर नही सकता। कृष्ण के मथुरा चले जाने और वसुदेव-देवकी द्वारा रोक लिए जाने से उनकी वेदना और भी अधिक हो गयी है। वे ऐसा अनुभव करती हैं कि उनका हृदय का टुकडा बरबस उनसे छीन लिया गया है और वे

ऐसी अवस्था में है कि कुछ कर भी नहीं सकती। इस भावना के फल-स्वरूप उनकी स्पष्टता दूसरे के लिए भले ही कष्टकर हो परन्तु वह उनके हृदय को तो शीतलता पहुँचानेवाली है। यशोदा की आशा-लतिका पर जो भयकर तुषारपात हुआ है उसके कारण वह कभी पनप नहीं सकती —

मेरी आशा नवल लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा।
नीले पत्ते सकल उसके नीलमों के बने थे।
हीरे के थे कुसुम फल थे लाल गोमेदको के।
पन्नों द्वारा रचित उसकी सुन्दरी डलियाँ थी।

उद्विग्ना औ विपुल विकला क्यों न सो धेनु होगी।
प्यारा लैरू अलग जिसकी आँख से हो गया है।
ऊधो कैसे व्यथित अहि सो जी सकेगा बता दो।
जीवोन्मेषी रतन जिसके शीश का खो गया है।

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल छल से लाल ले ले किसी का।
पूँजी कोई जनम भर की गाँठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का।

पत्रों पुष्पो रहित विटपी विश्व मे हो न कोई।
कैसी ही हो सरस सरिता वारि-शून्या न होवे।
ऊधो सीपी सदृश न कभी भाग फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोवे।

यशोदा बड़े ही व्यजनात्मक रीति से कहती है—'ऊधो कोई न कल-छल से लाल ले ले किसी का।' उनका स्पष्टत सकेत देवकी की ओर है। उपर्युक्त पंक्तियो में कवि ने अपना हृदय

निकाल कर माता यशोदा के हृदय का वर्णन किया है। उनकी पीडा मृत्यु से भी अधिक कष्टकर हो जाती है जब —

हो जाती हूँ मृतक सुनती हाय जो यों कभी हूँ।
होता जाता मम - तनय भी अन्य का लाडिला है।

यशोदा तो केवल एक बार कृष्ण का मुखडा देख लेना चाहती हैं। उनकी यह प्रबल उत्कठा है। उनके रोम रोम, कृष्ण की झॉकी प्राप्त करने के लिए लालायित है —

'होती भी है यह ध्वनि मेरा गात रोमावली से।
मेरा प्यारा सुअन ब्रज मे एकदा ओर आवे।'

परतु यशोदा की यह बलवती इच्छा कभी पूरी होगी यह आशा उन्हे स्वय नही है। परतु उनकी इस आशा ने उनके जीवन को विडम्बना से तो बचा ही लिया है —

'आशा होता न यदि मुझको श्याम के लौटने की।
मेरा सूखा हृदय तल तो सैकडा - खण्ड होता।'

यशोदा का हृदय परिस्थितियो से अनभिज्ञ है यह बात नही। वे मन ही मन देवकी की स्थिति का अनुभव करती हैं। वे यह भी स्वीकार करती है कि देवकी का कृष्ण पर विशेष अधिकार है। कृष्ण किसके पुत्र हैं ? इस सबध मे जहॉ उनकी ममता उन्हे अपने विश्वासो पर स्थिर रहने के लिए बल प्रदान करती है वही ब्रज-निकुजो की ममता, गोप-गोपियों का स्नेह, ब्रज के प्रति अनन्य आकर्षण को कृष्ण के हृदय से विलीन होते देख उन्हे भयकर आशकाएँ होती है। ऊद्धव से वे जो प्रश्न करती हैं, वे उनके हृदय मे न जाने कितनी बार उठे होगे! परन्तु उनका हृदय नही मानता। वे उद्धव से उत्सुकतापूर्वक पूछती हैं —

कैसे भूली सरस-खनि सी प्रीति को गोपिकाएँ।
　　कैसे भूले सुहृद पन के सेतु से गोप-ग्वाले।
शान्ता धीरा मधुर-हृदया प्रेम-रूपा रसज्ञा।
　　कैसे भूली प्रणय-प्रतिमा राधिका मोह-मग्ना।
कैसे वृन्दा विपिन बिसरा क्यों लता-वेली भूली।
　　कैसे जा से उतर ब्रज की कुञ्ज-पुञ्जें गया है।
कैसे फूले विपुल फल से नम्र भूजात भूले।
　　कैसे भूला विस्च-तर सो अर्कजा कूल वाला।

यशोदा के इन प्रश्नो को सुनकर ऊद्धव भी निरुत्तर हो गये। इन अकाट्य प्रश्नो का उनके पास भी कोई उत्तर न था। ऐसी परिस्थितियो में यशोदा कृष्ण को कब तक अपना लाडिला कह कर हृदय को सतोष दे सकती है? यशोदा हार कर अपने को धाय कहला कर ही सतोष करने को तैयार है यदि उन्हें कृष्ण का दर्शन प्राप्त हो जाय। वे देवकी के प्रति उदार होकर कहती है—

मै रोता हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही।
　　हा। ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी।
प्यारे जीवें पुलकित रहें औ बनें भी उन्हीके।
　　धाई नाते वदन दिखला एकदा और देवें।

माता की यह अपार ममता है। वे यह नहीं चाहती कि श्याम अब मेरे हो कर रहे, क्योकि उनकी ममता के कारण जो कष्ट मुझे हो रहा है वही देवकी को होगा। दूसरी बात यह भी है कि वे परिस्थितियो की भीषणता में छिपे सत्य को भी तो नहीं भूल सकती थी। यही कारण है कि उनका हृदय रुदन करता है और भाग्य को कोसता है। प्रियप्रवास में यशोदा की मूर्ति वास्तव में बडी ही कारुणिक है।

****

'प्रियप्रवास' की पवन दूती

महाकवि कालिदास के मेघदूत की कल्पना के आधार पर हरिऔध जी ने अपने काव्य प्रियप्रवास में पवन-दूती की कल्पना की है। दोनो की कल्पनाओ मे परिस्थितियो की भिन्नता है। कालिदास का मेघदूत यक्ष का दूत था। पुरुष का, प्रिया के वियोग में सतप्त हृदय का उद्गार, लेकर जाने वाला दूत था। यक्ष ने उपयुक्त दिशा मे जाने वाले मघ का अपना छोटा भाई संबोधित कर अपना सदेश प्रियतमा के पास भेजा। यक्ष ने मेघ को मार्ग बतलाया और उसके उपरान्त अपनी प्रिया के प्रति सदेश कहा। इन कार्यों के उपरान्त यक्ष ने मेघ का आशीर्वाद प्रदान कर यात्रा पर भेज दिया। मेघदूत में विशेषकर पूर्व मेघ में मार्ग में पड़ने वाले विभिन्न स्थानो का, प्रकृति का बडा ही मनोहारी चित्रण है।

प्रियप्रवास की पवन दूती का भी उसी वृत्त में वर्णन है जिस वृत्त में मेघदूत का वर्णन है। दोनों ही महाकवियो ने मन्दाक्रान्ता छन्द का उपयोग किया है।

कृष्ण के मथुरा चले जाने के कारण राधा का हृदय वियोग से सतप्त हो गया है। वे कृष्ण के वियोग में चिंतित थी। उसी

समय प्रभात कालीन वायु ने उनका सस्पर्श किया। उनकी विरह-चेतना जागृत हो उठी। शीतल पवन उनके दग्ध हृदय को और भी अधिक दग्ध करने लगी। राधा विरह से व्याकुल तो थी ही उन्होने पवन को अनेक जली-कटी बातें सुनायीं, परतु थोड़ी देर बाद उनका चित्त शात हुआ और वे उससे अत्यन्त मधुर रीति से शातिपूर्वक वार्तालाप करने लगी। पवन को वे अपनी वेदना कह सुनाती हैं, और कहती है—हे भगिनि! तू श्याम के पास जाकर मेरी वेदना की फरियाद कर आ.—

मेरे प्यारे नव-जलद से कज से नत्रवाले।
जा के आये न मधुवन मे औ न भेजा सँदेशा।
मै रो रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ।
जा के मेरी सब दुख कथा श्याम को तू सुना दे।
हो पाये जो न यह तुझमे तो क्रिया चातुरी से।
जा के रोने विकल बनने आदि ही को दिखा दे।
चाहे ला दे प्रिय-निकट से वस्तु कोई अनूठी।
हा हा! मै हूँ मृतक बनती प्राण मेरा बचा दे।

प्रिय की वस्तु का प्रिय से कम महत्व नहीं होता। प्रिय के अभाव में प्रिय की वस्तु से मनुष्य के हृदय को बडा सतोष मिलता है। पवन प्रत्येक स्थान का भ्रमण करती है। वह जहाँ चाहे बे खटके जा सकती है। उसे कोई रोकने वाला नही। अत. राधा कहती है —

तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ा है।
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है।
मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा।
जैसे हो ऐ भगिनि बिगड़ी बात मेरी बना दे।

राधा को पवन की क्षमता पर विश्वास है। उसकी तरल हृदयता, उसका सरल स्वभाव ऐसा है कि वह सबके हृदय के ताप का उन्मूलन करती है अत वे उससे अपना बिगडा काम बना देने की प्रार्थना करती हैं। विवश होकर राधा किस प्रकार पवन से प्रार्थना करती है यह उनके हृदय की विकलता का चित्रण है।

यक्ष मेघदूत से कहता है कि तुम मेरे कार्य के लिए जा रहे हो परतु प्रत्येक पर्वत पर तुम्हे देर हो जायगी पर सजल नेत्रो से अपनी वाणी द्वारा मयूरो के स्वागत कर लेने पर तुम मार्ग पर बढने मे शीघ्रता करना —

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासो
कालक्षेप ककुभसुरभा पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गै सजलनयनै स्वागतीकृत्य केका
प्रत्युद्यात कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥

इसी प्रकार राधा भी पवन दूती को चेतावनी देती हैं कि मार्ग मे अनेक आकर्षण-युक्त विरामस्थल मिलेंगे, परन्तु —

ज्यो ही मेरा भवन तज त अल्प आगे बढगी।
शोभाशाली सुखद कितनी मजु-कुजें मिलेंगी।
प्यारी छाया, मृदुल स्वर से मोह लेंगी तुझे वे।
तो भी मेरा दुख लख वहाँ जा न विश्राम देना।

यक्ष मेघदूत को सबोधित करते हुए कहता है कि अधकारावृत्त रात्रि मे यदि स्त्रियॉ मार्ग से अपने प्रियतम के गेह को जा रही हो तो चपला के प्रकाश मे तुम उनके पथ को प्रकाशमान कर देना परतु वर्षा और गर्जन से तुम उन्हे दहलित मत कर देना —

गच्छन्तीना रमणवसतिं योषिता तत्र नक्त
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभि ।

कोई प्यारा-कुसुम कुम्हला गेह में जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसी को।
यों देना ऐ पवन। बतला फूल सी एक बाला।
म्लाना हो हा कमल-पग को चूमना चाहती है।

मेघदूत में इस प्रकार की अनूठी उक्तियाँ नही हैं। हरिऔध जी की ये मार्मिक उद्‌भावनाएँ सर्वथा मौलिक हैं। यक्ष, मेघदूत से सदेश लेकर आने को कहता है, परतु राधा यह जानती है कि पवन दूती सदेश तो नही ही ला सकती। अत वे उससे कहती हैं कि तू अपने साथ प्रियतम के चरण की धूलि के कण ही ला दे, मैं उसीसे सतुष्ट हो जाऊँगी। प्रियतम के चरणरज से वे कृतार्थ हो जायँगी। यही नहीं, वे तो यहाँ तक कहती है —

पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरा विनय इतनी मान ले औ चली जा।
छू के प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आ जा।
जी जाऊँगी हृदय-तल मे मैं तुझी को लगा के।

राधा की प्रेमाभिव्यक्ति की यह पराकाष्ठा है। दूसरी बात यह है कि राधा की दूती नारी हृदय की कोमलता, दयार्द्रता की प्रतीक है। इस प्रकार की कोमल भावनाओ का समावेश यक्ष के मेघदूत मे नहीं हो सकता था। मेघदूत के यक्ष के हृदय से वे कोमल और कारुणिक भावनाएँ कभी प्रसूत नही हो सकती थी जो राधा के वियोग-दग्ध-हृदय से हुई। इस दृष्टि से पवन दूती मेघदूत की अपेक्षा अधिक मर्मस्पर्शी है।

चतुर्थ खण्ड

(काव्य-संबंधी नूतन प्रयोग)

****

हरिऔध-काव्यकला की नयी दिशा

आजमगढ़ में जिन दिनो हरिऔध जी सदर कानूनगो थे उन्हीं दिनो फारसी के प्रख्यात विद्वान् मौलाना शिवली नोमानी का कार्यक्षेत्र भी आजमगढ ही था। वे उर्दू भाषा के वडे कट्टर समर्थक थे। अग्रेज शासको मे भी उनका बडा मान था। जो भी अग्रेज कलक्टर आता वह मौलाना साहब को अवश्य अपने यहाँ बुलाता था और उनकी बडी आवभगत करता था। यत अग्रेज कलक्टर हरिऔध जी का 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल 'सिविल सर्विस' के पाठ्यक्रम मे पढ कर आते थे अत वे उनका भी सम्मान करते थे। हरिऔध जी के जीवन में अनेक ऐसे अवसर आये जब कि मौलाना शिबली नोमानी के साथ साथ वे भी कलक्टरो के यहाँ उपस्थित रहे। मौलाना साहब हिन्दी की बडी खिल्ली उडाया करते थे। वे कहते—'हिन्दी भी क्या कोई भाषा है। जो जबान आमफहम नही, जिसमें मुहाविरेदानी नहीं वह जबान भी अपनी इज्जत कराना चाहे, यह हैरतअगेज चीज है। हिन्दी भषा न तो आमफहम है और न उसमें मुहाविरे ही ढाले जा सकते हैं।'

हरिऔध जी ने मौलाना साहब का मुँह बन्द करने का बडा प्रयत्न किया, परन्तु केवल मौखिक रूप से मौलाना साहब की बातें अशुद्ध नहीं ही सिद्ध की जा सकती थी। स्वाभाविक था

कि—'पडित वही जो गाल बजावा।' मौलाना साहब मैदान मार ले जाते थे। हरिऔध जी के लिए यह बडे ही दु ख की बात थी। वे हिन्दी का इस प्रकार अपमान सह सकने के लिए तैयार न थे। उन्होने सोचा, क्यो न मौलाना साहब को निरुत्तर करने के लिए सक्रिय कदम उठाया जाय। प्रयोग-स्वरूप सर्व प्रथम उन्होने 'अधखिला फूल' नामक उपन्यास मे कुछ साधारण बोलचाल की भाषा मे तथा उर्दू बह्र मे पद लिखे —

दिन कटा तो न रात कटती है।
हम घडी भर न चैन पाते है।
भूल कर भी कही नही लगता।
अपने जी को जो हम लगाते है।

❀ ❀ ❀

आप ही हैं बुरे वे बन जाते।
जो बुरा ओर को बनाते है।
हो तुम्हारा भला, फलो फूलो।
अब चले हम यहाँ से जाते है।

''अधखिला फूल' मे यत्र-तत्र इस प्रकार के कुछ बोल-चाल के पदो का समावेश है। हरिऔध जी के प्रयोग की पीठिका इन्ही छन्दो ने तैयार की। प्रवृत्ति तथा हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में खडी बोली का आन्दोलन खडा हो जाने के कारण उनका ध्यान इधर चला गया था, परिणामत वे सस्कृत-वर्णवृत्तो मे महाकाव्य लिखने के लिए सन्नद्ध हुए। प्रियप्रवास की रचना समाप्त कर लेने के पश्चात् उनका ध्यान बोल-चाल की भाषा ओर मुहाविरो की ओर गया। मौलाना साहब की बातो से उन्हे ठेस लगी थी अत वे जमकर इस कार्य में लग गये। मुहावरो से युक्त बोल-चाल

की भाषा मे वे कविता-रचना के लिए कितने आतुर थे यह बात इन पक्तियो से स्पष्ट होगी —

'एक दिन अपने 'शान्ति-निकेतन' मे बैठा हुआ मैं कुछ सोच रहा था, अछूते फूल तोडना चाहता था, अच्छे बेलबूटे तराशने मे लगा था, किन्तु अपना सा मुँह लेकर रह जाता था। समुद्र मे डुबकी बहुत लोग लगाते है परन्तु मोती सब के हाथ नही लगता। हलवा खाने के लिए मुँह चाहिये, आकाश के तारे तोडना सुलभ नही, परन्तु उमगे छलागे भर रही था, बामन होकर चॉद का छूना चाहती थी, जी मे तरह तरह की लहरे उठती थी, रग लाती थी, चमकती दमकती थी, किन्तु थोडी ही देर मे लोप हो जाती थी। इसी समय एक मक्खीचूस आ धमके, आपका कुछ चन्दा लग गया था, आप उससे अपना पिड छुडाना चाहते थे। आते ही बोले, आप अपने रुई सूत मे कब तक उलझे रहेगे, कुछ मेरी भी सुनिए। मैने कहा, क्या सुनूॅ, आप बडे आदमी है, आपको कौडियो को दॉत से न पकडना चाहिये। यह सुनते ही वे अपना दुखडा सुनाने लगे, नाक मे दम कर दिया, मै ऊब उठा ओर अचानक कह पडा —

"छोड़ देगा कौड़ियों सा ही बना।
यह तुम्हारा कौड़ियालापन तुम्हे।"

वे बिगड खडे हुए, बोले, वाह साहब! मै कौडियाला हूँ? कौडियाला तो सॉप होता है, क्या मै सॉप हूँ? अच्छा सॉप तो सॉप ही सही, कौडियाला ही सही, सॉप का यहॉ क्या काम!"

उपर्युक्त अवतरण की भाषा मुहावरो-युक्त चलती बोल-चाल की भाषा है। इसमें अनेक मुहावरो का उपयोग हुआ है। पद की दो पक्तियो ने हरिऔध जी का मार्ग प्रशस्त किया। वे आगे बढ़े —

"मैने सोचा, यदि सात आठ सौ पद्य भी इस नमूने के बन जावेंगे तो चाहे कुछ और न हो, चाहे वे किसी काम के न हो, पर जो मै चाहता हूँ वह हो जावेगा और बोल-चाल की भाषा में लिखे गये कुछ खडी बोली के पद्य जनता के सामने उपस्थित हो जावेंगे।"

हरिऔध जी की यह उत्कट इच्छा कार्य रूप मे ही परिणत नही हुई वरन इसने उनकी शक्ति का, उनकी प्रतिभा का बडा अपव्यय किया। हरिऔध जी को लाग लग गयी थी। अत अन्य कोई आकर्षण उन्हे इस पथ से विमुख भी न कर सकता था। यह नही कि हरिऔध जी सर्व प्रथम उर्दू बह्र मे कविता लिखने के लिए क्षेत्र मे उतरे हो। उनके पूर्व भारतेन्दु बाबू ने और भारतेन्दु जी के साथियो ने भी उर्दू भाषा के शब्दो से बोझिल गजले लिखी। भारतेन्दु बाबू की एक गजल की कुछ पक्तियाँ देखिए—

दिल मेरा ले गया दगा कर के।
बेवफा हो गया वफा कर के।
हिज्र का शब घटा ही दी हमने।
दास्ताँ जुल्फ की बढा कर के।
शोला रू कह तो क्या मिला तुझको।
दिल जलो को जला जला कर के।

उपर्युक्त गजल को भला हिन्दी की रचना कौन स्वीकार करेगा। उर्दू का छद ही हो यह बात नही, पूरे पद्य में फारसी और अरबी के शब्द भरे गये हैं। पडित प्रतापनारायण मिश्र की गजल की भाषा का अवलोकन कीजिए—

बने पढ के गौरण्ड-भाषा द्विजाति,
मुरीदाने पीरे मुगाँ कैसे कैसे।

बसो मूरते देवि ! आर्यो के जी मे,
तुम्हारे लिए है मकॉ कैसे कैसे ।
अनुद्योग आलस्य सतोष सेवा,
हमारे भी है मिहरबॉ कैसे कैसे ।

उसी समय के प्रसिद्ध कवि पडित नाथूराम शकर शर्मा की कविता देखिये —

बुढापा नातवानी ला रहा है ।
जमाना जिंदगी का जा रहा है ।
किया क्या खाक आगे क्या करेगा ।
अखीरी वक्त दौडा आ रहा है ।

इस प्रकार की कविता धडल्ले से हो रही थी। पडित श्रीधर पाठक, लाला भगवानदीन जी, श्री बालमुकुन्द गुप्त आदि फारसी और अरबी शब्दो से युक्त भाषा का ऑख मूँद कर प्रयोग कर रहे थे। छदो का प्रयोग तो हो ही रहा था। भारतेदु जी से पूर्व भी कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि की भाषा मे कही कही फारसी-अरबी शब्दो का प्रयोग हुआ है। परतु उन शब्दो का प्रयोग केवल इस दृष्टि से हुआ कि हिन्दू और मुसलमानो की सस्कृति का आदान-प्रदान प्रारभ हो गया था। एक दूसरे की भाषा पर, विचारो पर भिन्न सस्कृतियो का प्रभाव पडना स्वाभाविक ही है।

हिन्दी साहित्य-क्षेत्र मे उर्दू बह्रो को स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं। यदि हम हिन्दी भाषा के साहित्य में सस्कृत वृत्तो का उपयोग करते है तो फारसी के बह्रो को भी स्वीकार कर लेना अनुचित नही। परतु छद को स्वीकार करने का यह अर्थ नहीं कि हिन्दी भाषा का स्वरूप ही विकृत हो जाय या उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। आवश्यकता इस बात की है कि इन छन्दो

का सस्कार कर हम उन्हे हिन्दी के अनुरूप बना कर आत्मसात कर लें।

हिन्दी के मात्रिक छन्दो की एक बडी विशेषता है। जिस छन्द मे जितनी मात्राऍ होती है उतनी मात्राऍ होना तो आवश्यक है ही, साथ ही उसके छदो मे दीर्घ वर्णो को दीर्घ और ह्रस्व को ह्रस्व पढा जाता है। यह नही कि कविता मे लिखा तो दीर्घ गया है और उच्चारण के समय उनको ह्रस्व रूप मे पढा जाय। इस नियम मे अपवाद हो सकते है परतु नियम का वास्तविक रूप निश्चित है।

इसके विपरीत फारसी छन्दो के विचित्र नियम है। वहॉ नियमत दीर्घ वर्णों को ह्रस्व रूप मे पढा जाता है। निम्नलिखित पद्य को यदि आप शुद्ध रूप से पढे तो प्रवाह ही समाप्त हा जाता है —

कहा पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है।
सुरों के सगीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है।
हर एक स्वर में नवीनता है हरेक पद मे प्रवीनता है।
निराली लय है औ लीनता है, अलाप अद्भुत मिला रहा है।

रेखाकित शब्दो को उपर्युक्त पद्य मे ह्रस्व पढने पर ही कविता में प्रवाह आता है। यदि इन्हे दीर्घ रूप में जिस प्रकार लिखे गये है पढा जाय तो सौदर्य ही समाप्त हो जाता है।

यह कहा जा चुका है कि 'प्रियप्रवास' के उपरान्त हरिऔध जी का ध्यान बोल-चाल की भाषा और मुहावरो की ओर गया। परंतु इस सबध मे उन्हे कुछ महत्वपूर्ण निर्णय भी करने पडे। बोल-चाल की भाषा के लिए किस प्रकार के छदो का उपयोग

किया जाय, छदो का क्या रूप हो, भाषा का स्वरूप क्या हो, उसमे फारसी-अरबी शब्दो का प्रयोग किया जाय अथवा नही ? हरिऔध जी ने अपने जीवन के प्रारभिक काल मे फारसी का गहन अध्ययन किया था। सस्कृत और फारसी दोनो भाषाओ पर उनका समान अधिकार था। हिन्दी साहित्य में उर्दू छन्दो और अरबी-फारसी भाषा के बे मेल शब्दो के प्रयोग से जो विपमता उत्पन्न हो रही थी उस ओर उनका ध्यान गया। उर्दू भाषा का जिस प्रगति से विकास हुआ है इसका प्रधान कारण है उसका जनता से सम्पर्क बना रहना। जन-भाषा मे ही लोकोक्तियो और मुहावरो का विकास होता है। उर्दू भापा मे इन मुहावरो का इसलिए अधिक बाहुल्य है कि उर्दू भाषा जन-साधारण की भापा मे ही भावो को व्यक्त करने को महत्व देती रही है और इसी दृष्टिकोण से उसका परिमार्जन हुआ है। जिस समय हरिऔध जी बोल-चाल की भाषा मे काव्य-रचना का विचार कर रहे थे उस समय हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी भाषाओ का सघर्ष चल रहा था। प्रत्येक पक्ष अपने अपने पक्ष की उपादेयता सिद्ध करने में लगा हुआ था। उस समय हिन्दुस्तानी के अधिकतर हिमायती लोग भी वे ही थे जो उर्दू भाषा को महत्व देते थे परतु हिन्दी वालो के आन्दोलन के कारण वे ऐसी भाषा लेकर सामने आ रहे थे जिसमे फारसी शब्दो का तो बाहुल्य था परन्तु उसका नाम था हिन्दुस्तानी।

हरिऔध जी यह चाहते थे कि वे हिन्दी भाषा के हिन्दुस्तानी रूप का निर्माण करे। वे उस भाषा को हिन्दुस्तानी भाषा के रूप मे स्वीकार करने को तैयार थे जिसमे न सस्कृत शब्दो की बहुलता हो और न फारसी शब्दो की। वह भाषा जन-भाषा, लोगो की बोल-चाल की भाषा, पर आधारित हो। इस प्रकार की भाषा

लिखना अत्यत कठिन कार्य था, परतु हरिऔध जी ने अपनी प्रतिभा के योग से यह कार्य प्रारभ किया।

हमने ऊपर सकेत किया है कि उस समय हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी का झगडा चल रहा था। इधर हिन्दी वाले हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित होने का स्वप्न देख रहे थे। लोगो ने प्रश्न किया कि राष्ट्र-भाषा का क्या स्वरूप होना चाहिये। क्या वह सस्कृत बहुला होगी, क्या प्राकृत होगी और क्या तत्कालीन प्रचलित छायावादी भाषा राष्ट्र-भाषा होगी ? इन प्रश्नो के उत्तर अनेक हो सकते है, परन्तु एक बात तो स्पष्ट थी कि सस्कृत भाषा जन-भाषा इस लिए नही रह सकी कि वह साधारण जन के लिए बोधगम्य नही रह गयी थी। दूसरे शब्दो मे वह साधारण बोल-चाल की भाषा से बहुत दूर पीछे रह गयी थी। ठीक यही स्थिति प्राकृत की भी हुई। अत यदि हम हिन्दी भाषा को अत्यधिक सस्कृत-बहुला या प्राकृत-बहुला बना देते है तो वह जनता के लिए उपयुक्त नही रह जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि समयानुसार उसका प्रचलन भी समाप्त हो जायगा। यह बात भी ठीक है कि राष्ट्र-भाषा को सस्कृत शब्दो का उपयोग करना चाहिए। ऐसी स्थिति मे वह बोल चाल की भाषा कैसे रह जायगी ? इस प्रश्न का केवल यही उत्तर होगा कि बोल-चाल की भाषा की परम्परागत विशेषताओ का हमे ध्यान रखना ही होगा, साथ ही उसमे प्रचलित सस्कृत शब्दो का भी उपयोग किया जाये। यदि अन्य लोगो का विचार न कर हम हिन्दी को पूर्णत सस्कृत-गर्भित रूप प्रदान कर देगे तो अन्य जातियो से विचार-विनिमय में कठिनाई होगी। राष्ट्र भाषा का रूप ऐसा होना चाहिए जिसे सब समान दृष्टि से देखें और उसका उसी रूप में

आदर भी करें। निश्चय ही ऐसी समान रूप से आदृत भाषा हमारी बोल-चाल की भाषा ही हो सकती है। इस दृष्टिकोण से जब हम हरिऔध जी की बोल-चाल-सबधी रचनाओ का अवलोकन करते है तब उनका महत्व हमारी समझ मे आ जाता है। प्रतीकात्मक अथवा दुरूह शब्दो से श्लथ भाषा का जन-जीवन से सम्पर्क नही रह सकता। यदि हमे हिन्दी को लोकप्रिय बनाना है तो उसे बोल-चाल की भाषा का रूप देना ही होगा। अन्य प्रान्त वालो की सुविधा की दृष्टि से उसमे उपयुक्त सस्कृत शब्दो का भी उपयोग किया जा सकता है।

हरिऔध जी के चौपदो मे कुछ ऐसी विशेषताए भी है जो आज तक हिन्दी पद्य रचना मे नही मिलती। हिन्दी लेखको की दो-चार रचनाएँ भी ऐसी हमे नहीं मिलती जो पूर्णत तद्भव शब्दो मे ही लिखी गयी हो। साधारणतया हिन्दी भाषा की कविताओ मे सस्कृत के तत्सम शब्दो की बहुलता होती है। हिन्दी भाषा का निर्माण तद्भव शब्दो से हुआ है। तद्भव शब्द ही हिन्दी भाषा के जनक है। परतु किसी कवि अथवा लेखक ने तद्भव शब्दो मे पद्य-रचना का आज तक प्रयास नही किया था। हरिऔध जी ही पहले व्यक्ति है जिन्होने हिन्दी के तद्भव शब्दो के उपयोग से चौपदो की रचना की। अधिकाश चौपदो मे तद्भव शब्दो का उपयोग हुआ है।

दूसरी बात यह है कि हिन्दी के कवि और लेखक लोकोक्तियो और मुहावरो का महत्व नही समझते रहे है। उनकी रचनाओ मे इनका प्रयोग भी नही होता था। भावाभिव्यजन की दृष्टि से ये मुहावरे गागर मे सागर की भाँति है। इनके प्रयोग द्वारा बहुत सी बाते अत्यत सक्षेप मे कही जा सकती हैं। इन मुहावरो

के उपयोग से व्यजना-शक्ति का भी विकास होता है। मुहावरे भी तद्भव शब्दो से ही बनते है क्योकि वे बोल-चाल की भाषा पर आधारित रहते है। अत स्वाभाविक है कि जब इन मुहावरो का प्रयोग होगा तब भाषा का तद्भव रूप ही सामने आयेगा।

मुहावरो का अधिकतर प्रयोग उर्दू भाषा मे होता है। उर्दू के कलाकार इनका उपयोग कर अपनी रचनाओ को कितना प्रभाव-कर बना लेते है यह किसी से छिपा नही। उर्दू की सरसता और प्रभावशालिनी होने का यह भी एक कारण है। वह अपना बोल-चाल का स्वरूप रखती हुई थोडे शब्दो मे बडी महत्वपूर्ण बातें कह जाती है। हरिओध जी भी हिन्दी भाषा का इसी रूप मे सस्कार करना चाहते थे। हरिऔध जी ने अपने चौपदो के लिए फारसी छदों को अपनाया, भाषा बोल-चाल की रखी और फारसी छदो के दीर्घ को ह्रस्व पढे जाने वाले दोष का परिमार्जन किया। आवश्यकतानुसार उन्होने सस्कृत के अत्यत प्रचलित शब्दो का भी उपयोग इन चौपदो मे किया। हरिऔध जी के ये चौपदे उनकी भावुकता, उनकी मर्मस्पर्शिता के द्योतक भले ही न हो परतु वे उनकी भाषा-सबधी अद्भुत बौद्धिक क्षमता के प्रतीक तो अवश्य ही है। इन चौपदो मे भी हरिऔध जी ने मानव, प्रकृति और मानवीय भावनाओ का सुदर चित्रण किया है। इन चित्रो पर हृदय का कम और बुद्धि का अधिक गहरा रग दिखलाई पड़ता है। बोल-चाल की भाषा मे हरिऔध जी के तीन प्रमुख ग्रथ हैं—'बोल-चाल', 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे'। इनके अतिरिक्त इस प्रकार की अन्य रचनाएँ भी उन्होने की जो 'फूल-पत्ते' नामक पुस्तक में सग्रहीत है।

****

चौपदों का विषय

हरिऔध जी के प्रियप्रवास ने हिन्दी के साहित्यिको का ध्यान बडी तीव्रता से अपनी ओर आकर्षित किया। सहृदय ससार ने जहाँ उसे महत्व दिया वहाँ उसकी भाषा के सबध मे दो स्पष्ट मत थे। लखनऊ हिन्दी साहित्य-सम्मेलन-अधिवेशन के सभापति पडित श्रीधर पाठक ने उसकी बडी सराहना की। व्यक्तिगत रूप से भी उन्होने प्रियप्रवास के छन्द मे ही उसकी प्रशसा की, परतु उन्हे भी उसकी भाषा खटकी। उन्होने भी भाषा की ओर सकेत करते हुए लिखा—'यदपि शब्द अमेल कही कही।' आलोचना यदि रचनात्मक हो तो उससे लाभ अधिक होता है। हरिऔध जी पर भी तत्कालीन आलोचनाओ का प्रभाव पडा और उन्होने हिन्दी-ससार के सम्मुख यह सिद्ध करना चाहा कि यदि वे प्रियप्रवास की तरह सस्कृत-बहुला भाषा लिख सकते है तो उसके साथ ही वे पूर्णत हिन्दी के तद्भव शब्दो पर आधारित भाषा मे भी रचना कर सकते है। हरिऔध जी ने इस बात को भी ध्यान मे रखकर सर्व प्रथम चोखे चौपदो की रचना प्रारभ की। जिस समय हरिऔध जी 'चोखे चौपदे' के निर्माण मे रत हुए उस समय उनके हृदय और मस्तिष्क को कौन से विचार उद्वेलित कर रहे थे इसका ज्ञान निम्नलिखित अवतरणो से होगा'—

"कोई दिन था कि हम कुछ थे, कुछ नही बहुत कुछ थे। देवते हमारा मुँह जोहते थे, स्वर्ग मे हमारी धूम थी और धरती हमारे उघारने से ही उघरती थी। हम आसमान में उडते, समुद्र

को छानते, जगलो को खँगालते और पहाडो को हिला देते थे।"

"आज हमारे घरो में फूट पॉव तोड कर बैठी है, बैर अकडा हुआ खडा है, अनबन की बन आयी है और रगडे-झगडे गुलछर्रे उडा रहे हैं। हमसे लम्बी लम्बी बाते सुन लो, लम्बी डगें भरने की कहानियाँ कहवा लो, लेकिन लम्बी तान कर सोना ही हमें पसन्द है।"

"हिन्दू जाति अपनी भूलभुलैया में बेतरह फँसी है, इससे हमारा जी दुखी है, हमारा कलेजा चोट खा रहा है, दिल में फफोले पड रहे हैं। हमने 'बोल-चाल' मे दिल के फफोले फोडे हैं, वे उसमे चौपदे की सूरत मे फूटे है। उसमें वे बिखरे हुए हैं, इस पुस्तक मे एक जगह जमा किये गये है। उनके छपने मे अभी देर है, इधर देर की ताब नही। हमे जल्दी इस लिए है कि जितनी ही जल्द हिन्दुओ की ऑखें खुले, उतना ही अच्छा। हमे उनका जी दुखाना, उन्हे कोसना, उन्हे बनाना, उन्हे खिजाना, उनकी उमगो को मटियामेट करना पसद नही, अपने हाथ से अपने पैर मे कौन कुल्हाडी मारेगा, अपनी उँगलियो से अपनी ऑखो को कौन कुचलेगा? मगर अपनी बुराइयो, कमजोरियो, भूल-चूको, ऐबो, लापरवाहियो और नासमझियो पर ऑख डालना हा पडेगा।"

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से सन् १९२४ में दिल्ली अधिवेशन के अवसर पर हरिओध जी ने कहा —

"न वह साहित्य साहित्य ह, न वह कल्पना कल्पना जिसमें जातीय भावो का उद्गार न हो। जिन काव्यो, ग्रन्थो को पढ़कर जोवन-शक्ति जागरित नही होती, निर्जीव धमनियो मे गरम रक्त का सचार नहीं होता, हृदय में देश-प्रेम की तरगे तरगित नही होती वे केवल निस्सार वाक्य-समूह मात्र हैं। जो

भाव देश को, जाति को, समाज को स्वर्गीय विभव से भर देते है, उनमें अनिर्वचनीय ज्योति जगा देते हैं, उनको स्वावलम्बी, स्वतत्र, स्वधर्म-रत और स्वकीय कर देते है, यदि वे भाव किसी उक्ति की सम्पत्ति नही तो वह मौक्तिक-हीन शुक्ति है। जिसमें मनुष्य जीवन की जीवन्त सत्ता नहीं, जो प्रकृति के पुण्य-पाठ की पीठ नही, जिसमें चारु चरित चित्रित नहीं, मानवता का मधुर राग नही, सजीवता का सुन्दर स्वॉग नही, वह कविता सलिल-रहित सरिता है।"

"× × जो गद्य अथवा पद्य जाति की ऑखें खोलता है, पते की सुना राह पर लगाता है, मर्म-भेदी बाते कह सावधान बनाता है, चूकें दिखा चौकन्ना करता है, चुटकियो से सोतो को जगाता है, वह इस योग्य है कि सोने के अक्षरो में लिखा जावे, वह अमृत है जो मरतो को जिलाता है।"

"× × × भगवान मुरली मनोहर की मधुमयी मुरलिका आज भी मोहती है। मोहती ही रहेगी, किन्तु अब हम उसके माधुर्य्य मे देश-प्रेम का पुट, ध्वनि में जातीयता की धुन और सुरीलेपन में सजीव स्वर लहरी होने के कामुक है।"

हरिऔध जी के चौपदे किन भावनाओ से अनुप्राणित हो रहे थे यह उपर्युक्त अवतरणो से स्पष्ट हो जायगा। हरिऔध जी कवि तो थे ही परतु वे कोरे कवि नही थे। वे समाज-उद्धारक और जाति-रक्षक के रूप मे अपने काव्य की अधिक चरितार्थता समझते थे। वे काव्य को केवल मनोरजन की सामग्री नही समझते थे। उनका यह दृढ मत था कि काव्यो को, हमारी रचनाओं को, सस्कारो का परिष्कार भी करना चाहिए। यदि साहित्य अथवा कविता, हमारी दूषित भावनाओ और सस्कारो का परिमार्जन

नही करती तो न तो वह साहित्य, साहित्य है और न वह कविता ही कविता कहलाने के योग्य है। हरिऔध जी की रचनाओ मे यह एक प्रमुख विशेषता रही है। चाहे उनके उपन्यास को देखे, चाहे रसकलस अथवा प्रियप्रवास को देखे, उनका अन्तर देश, जाति और समाज की दुर्दशा देखकर निरन्तर रोता रहा है और वे उसे उन्नति के शिखर पर पहुँचाने के लिए सदा कामुक रहे है। कपडे रँग कर जाल बिछाने वाले साधुओ को सबोधित करते हुए हरिऔध जी कहते है—

'तो तजा घर बना बनाया क्यो।
घर बनाया गया अगर बन मे।
आपको सत मान क्यो दैठे।
मान अपमान है अगर मन मे।

तब लगाया भभूत क्या तन पर।
जो सके मोह-भूत को न भगा।
तो किया क्या बसन रँगा कर के।
मन अगर राम - रग मे न रँगा।

यही नही, अगर हमारे हृदय की वासनाएँ बनी रही तो बन में बसने से भला कहाँ उद्धार हो सकता है! आवश्यकता तो मन पर सयम स्थापित करने की है, यदि यह न हुआ तो सब कुछ बेकार है—

घर बसे और क्या बसे बन में।
वासना जो बनी रहे बस में।
बे - कसे और क्या कसे काया।
मन किसी का अगर रहे कस में।

ढोंग हैं लोक साधनाएँ सब ।
जी हमारा अगर न हो सुलझा ।
उलझनें छोड़ और क्या है वे ।
मन कही और हो अगर उलझा ।

चमकने वाली सभी वस्तुएँ सोना नही होती। ससार में पग पग पर धोखा है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी ऑखें खुली रखे —

ठीक वैसा न मान लें उसको ।
जो कि जैसे लिबास मे दीखे ।
जी अगर है टटोल लेना तो ।
देखना ऑख खोल कर सीखे ।

हमारे बडप्पन का क्या महत्व यदि हम दूसरो की भलाई न कर सके, दूसरो के सुख-दुख मे साथ न दे सके। आकार की बडाई या वाह्य स्वरूप का आकर्षण सारहीन है। क्योंकि —

फल बहुत ही दूर, छाया कुछ नही ।
क्यो भला हम इस तरह के ताड़ हो ।
आदमी हो और हों हित से भरे ।
क्यो न मूठी भर हमारे हाड हो ।

और

चाहिये सारे बखेडे दूर कर ।
बात आपस की बिठाने को उठे ।
ऑख उठती दीन दुखियो पर रहे ।
पॉव गिरतो को उठाने के लिए ।

अध-भक्ति कल्याणकारी नही हो सकती है। भक्ति का स्वरूप क्या होना चाहिए यह देखिये —

भक्ति अधी भली नहीं होती।
भाव होते भले नही लूँजे।
है अगर पाँव पूजना ही तो।
पूजने जोग पाँव ही पूजे।

अनेक सतान होकर ही क्या करेगी यदि वह कपूत है। एक सुपुत्र ही पर्याप्त है —

सैकड़ों ही कपूत - काया से।
है भली एक सपूत की छाया।
हो पड़ी चूर खोपड़ी ने ही।
अनगिनत बाल पाल क्या पाया।

उपर्युक्त पद के 'बाल' शब्द मे श्लेष है। भाव तो स्पष्ट हैं ही।

लोक सग्रही हरिऔध जी को चौपदो के माध्यम से देश, जाति की उच्चतम भावनाओ को जगाने का एक अवसर और मिला। चौपदे-सबधी उनकी प्रथम रचना—'चोखे चौपदे'–१३ फरवरी सन् १९२४ मे प्रकाशित हुई। इसके उपरात तो अनेक वर्षों तक चौपदे-सबधी उनका बौद्धिक प्रयोग चलता रहा। उनके रचनात्मक और भावात्मक जीवन का एक बहुत बडा भाग इन रचनाओ के निर्माण मे बीता। इसके उपरात उन्होने भी यह अनुभव किया कि उनकी प्रतिभा का कुछ दुरुपयोग हुआ है और वे प्रियप्रवास के समान स्थायी साहित्य का और अधिक सर्जन कर सकते हैं। निदान बहुत दिनो से जिस 'वैदेही-वनवास' की रचना का वे विचार कर रहे थे उसकी रचना में दत्तचित्त हुए।

—❦—

****

चौपदों की भाषा और शैली

हरिऔध जी चौपदो की रचना में क्यों प्रवृत्त हुए इसका क्या कारण था इस सबध में आवश्यक बातो पर विचार किया जा चुका है। वे जहॉ उर्दूवालो को हिन्दी भाषा की शक्ति का परिचय करा देना चाहते थे वही वे यह भी चाहते थे कि हिन्दी के साहित्यिक, मुहावरो की उपयोगिता समझें और उनका उपयोग कर साहित्य की श्रीवृद्धि करे। 'बोल-चाल' की भूमिका मे उन्होने लिखा है —

"जब हिन्दी साहित्य पर ऑख डाली तो उसमे मुहावरे की कोई पुस्तक न दिखलायी पडी। खडी बोली की कविता के फलने-फूलने के समय किसी ऐसी पुस्तक का न होना भी मुझे बहुत खटका। मुहावरो की जैसी छीछालेदर हो रही है, जैसी उसकी टॉग तोडी जा रही है, जैसी उनके बारे में मनमानी की जाती है, वह भी कम खलनेवाली बात नही। इस लिए मैंने सोचा कि मुहावरो पर ही एक पुस्तक लिखूँ। ऐसा होने पर जो नमूना मेरे सामने है, उसके अनुसार काम भी होगा और सभव है कि हिन्दी साहित्य की कुछ सेवा भी हो जावे। अपने इस काम के लिए

मैने बाल से तलवे तक जितने अंग है, उन तमाम अगो के बहुत से मुहावरे चुने और अपना काम आरम्भ किया ।"

हरिऔध जी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र के एक महत्वपूर्ण अभाव की पूर्ति के लिए अग्रसर हुए इसमे कोई सदेह नही। भारतेन्दु बाबू के उपरान्त हिन्दी में जिस भाषा का उपयोग हो रहा था वह अत्यत कृत्रिम थी। हरिऔध जी के प्रियप्रवास की भाषा को भी कोई स्वाभाविक भाषा के रूप मे उस समय स्वीकार करने को तैयार न था अत हरिऔध जी हिन्दी के रूप-निर्द्धारण के लिए बोल-चाल की भाषा के सबध मे प्रयोग करने लगे। अवश्य ही यदि हरिऔध जी के ये प्रयोग पूर्णत सफल हुए होते तो अवश्य ही काव्य भाषा के सबध मे इस भाषा को दृष्टि मे रखकर महत्व-पूर्ण निश्चय किया जा सकता था। परतु प्रारभ से अन्त तक हरिऔध जी स्वय अपनी परिभाषा की बोल-चाल भाषा का निर्वाह कर सकने में कठिनाई का अनुभव करते रहे है। 'बोल-चाल' की भूमिका के उदाहरणो को ही देखिये —

"पद्य पूरा होने पर जी मे आया, राह खुल गयी, नमूना मिल गया, अब आगे बढना चाहिये, यदि ऐसी ही भाषा हो और मुहावरे की चाशनी चढ़ती रहे तो फिर क्या पूछना,–'आम के आम और गुठली के दाम।"

उपर्युक्त वाक्य की भाषा अत्यत सरल, मुहावरेदार और सुकुमारता से युक्त है। परतु यह भाषा प्रारभ से अन्त तक भूमिका में भी नही चल सकी। जहाँ कवि विषय मे रमा है भाषा का स्वरूप पूर्णत. बदल गया और वह सस्कृत-गर्भित हो गयी। देखिए.—

"वीणा का वादन, कोकिल का कलरव, सुधा का स्वाद, कुसुम-कुल का विकास, मृदग की ध्वनि, बालक का भाषण, कामिनी-

कुल का आलाप, मधुर होने ही के कारण हृदय-ग्राही और प्रिय होता है, फिर शब्दो के लिए उसकी आवश्यकता क्यो न होगी ! सुन्दर भाव जब मधुर कोमल कान्त पदावली के साथ होता है तो मणि काचन का योग हो जाता है ।"

उक्त दोनो अवतरणो की जब हम तुलना करते है तब स्पष्ट रूप मे दोनो की भाषा मे आकाश-पाताल का अन्तर है। वर्ण्य-विषय की विशेषता ने ही भाषा मे कितना अतर उपस्थित कर दिया। जब भावो मे रगीनी होती है, जब भावो मे सजीवता होती है तब भाषा स्वत उसी रग मे ढल जाती है। वह भी रगीन-बाना पहन कर पाठको के सम्मुख आती है। जब भाषा गभीर भावो को, रगीन भावो को व्यक्त करने के लिए आगे बढ़ेगी तब उसका सस्कृत-गर्भित हो जाना स्वाभाविक है। हरिऔध जी प्रयोगवादी कवि अथवा साहित्यकार रहे है। प्रयोग मे विश्वास करनेवाला व्यक्ति दुराग्रही नही होता। उनमे भी दुराग्रह न था। भाव के अनुकूल भाषा के निर्द्धारण मे ही वे विश्वास करते थे। किसी भाषा के प्रति उनका कोई विशेष आकर्षण रहा हो यह भी नही कहा जा सकता। उन्हे न तो नेता कहलाने की इच्छा थी और न वे यह चाहते थे कि वे साहित्य-भाषा के प्रवर्तक के रूप मे पूजे जायँ। उनकी यह भी इच्छा न थी कि उनकी शैली का कोई अनुगमन करे ही। वे विषय और छन्द की स्वाभाविक गति के अनुरूप अपने को ढालते चलते है। हमारे कथन के अनेक प्रमाण है। 'ठेठ हिन्दी का ठाट', 'अधखिला फूल' आदि की ठेठ भाषा और उन ग्रन्थो के समर्पण तथा भूमिका की भाषा में कोइ तारतम्य नही। दोनो दो छोर पर हैं। यदि वे ठेठ भाषा के ही आग्रही होते तो ठोक-पीट कर समर्पण और भूमिका की भाषा

को भी ग्रन्थ की भाषा के अनुरूप बना लेते, परतु उन्होने ऐसा नही किया। यदि वे ठेठ हिन्दी को ही महत्व देनेवाले साहित्यिक होते और यदि उसकी धुन मे पड गये होते तो 'प्रियप्रवास' की रचना का कोई प्रश्न ही न था।

'प्रियप्रवास' की भाषा मे काव्य रचना कर बोल-चाल की भाषा में काव्य-रचना के लिए कदम उठाना यदि भाषाधिकार का द्योतक है तो साथ ही वह इस बात का भी द्योतक है कि हरिऔध जी आवश्यकतानुसार प्रदर्शित पथ पर साहस-पूर्वक चलने के लिए सदा सन्नद्ध रहते थे। वे अपनी कला के सँवारने और उसके विकास के लिए आवश्यक तत्वो की बडी सूक्ष्म जानकारी रखते थे।

चोखे चौपदे, चुभते चौपदे और बोल-चाल आदि ग्रंथो के विषय ऐसे हैं कि उनके लिए बोल-चाल की भाषा ही उपयुक्त हो सकती है। हरिऔध जी में भाषा, छन्द आदि के स्वाभाविक तत्वो के पहचानने की अपूर्व क्षमता थी। इस विषय में उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति उन्हे सहायता पहुँचाती थी। यदि अन्य कवि ऐसे विषयो को लेकर काव्य-रचना करने के लिए मैदान मे आवे तो मेरा निश्चित मत है कि उन्हे भी इसी प्रकार की भाषा अपनानी पडेगी। यदि वे इस प्रकार की भाषा को न अपनावेंगे तो उन्हे अपने कार्य मे कदापि सफलता नही मिल सकती। एक बात और है कि इस प्रकार की भाषा द्वारा हरिऔध जी वह आधार पीठिका भी निर्मित कर रहे थे जिस पर हिन्दू-सस्कृति यवन-सस्कृति की बातो को कुछ समझ सके। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जहाँ तक छन्द का प्रश्न है, हरिऔध जी ने फारसी के छन्दों को अपनाया। उन्होंने उन मुहावरों का भी उपयोग

प्रारभ किया जिनका उपयोग उर्दू भाषा में बडी सफलता के साथ हो रहा था। हरिऔध जी ने उन फारसी छन्दो और उर्दू में प्रयुक्त होनेवाले बोल-चाल के मुहावरो का उपयोग तो प्रारभ किया परतु भाषा का हिन्दी रूप बनाये रखने के लिए स्वरूप में कुछ परिवर्तन किये। परिवर्तन किस प्रकार किये गये उस पर हम थोडा विचार कर ले। उदाहरणार्थ उर्दू के एक छद का अवलोकन कीजिए,—

अगर अपना कहा खुद आप ही समझे तो क्या समझे।
मजा कहने का जब है इक कहे ओ दूसरा समझे।
कलामें मीर समझे औ जवाने मीरज़ा समझे।
मगर अपना कहा यह आप समझें या खुदा समझे।

उपर्युक्त अवतरण मे 'जबाने मीरजा' शब्दो का प्रयोग ही इस छन्द को उर्दू भाषा की विशेषता प्रदान करता है। हिन्दी भाषा में इस काव्य-भाषा और शैली को स्वीकार नही किया जा सकता। हॉ यदि इस मे परिवर्तन कर दिया जाय, फारसी के इस छद को हिन्दी के छन्दो के अनुरूप ढाल लिया जाय और फारसी तथा अरबी शब्दो के स्थान पर सस्कृत के प्रचलित शब्दो का उपयोग कर दिया जाय तो बडी सरलता से इस प्रकार के उर्दू के छद हिन्दी मे ग्रहण किये जा सकते है। हरिऔध जी ने वास्तव में यही कार्य किया भी। उन्होने फारसी के इन छन्दो का भारतीयकरण किया और सस्कृत शब्दो का उपयोग भी स्वतन्त्रतापूर्वक करने मे नही हिचके —

उन भली अनमोल रुचियो ओर जो
बन सुचाल अँगूठियों के नग सकीं।

जी लगायेंगे भला तब किस तरह,
जब नही आँखें हमारी लग सकीं।
आँख जैसा सीप मे होता नही,
रस अछूना लोच सुन्दरता बड़ी।
भेद है बे-मोल औ बहु मोल मे
है न आँसू की लडी मोती लड़ी।

उर्दू-काव्य-भाषा में 'रुचियों' और 'सुन्दरता' शब्द का इस रूप मे कभी उपयोग न होगा जिस रूप मे हरिऔध जी ने किया है। परिणामत इन शब्दो के उपयोग से और छन्दो मे जो परिष्कार किया गया उसके कारण इस प्रकार की कविता को उर्दू-काव्य की श्रेणी मे तो कभी गिना न जायगा। क्योंकि उर्दू की शैली इससे सर्वथा भिन्न है। यह भी नही कहा जा सकता कि यह बहुत सरल हिन्दी है और इसे साधारण से साधारण अपढ व्यक्ति भी समझ लेगा। ऐसी स्थिति मे इस प्रकार के काव्य और काव्य-भाषा का क्या स्थान है? इसे न तो उर्दू कहा जा सकता और न हिन्दी। तब क्या इसे हिन्दुस्तानी की सज्ञा प्रदान की जा सकती है? हरिऔध जी के सम्मुख स्वत यह समस्या उठ खडी हुई। उन्होने 'बोल-चाल' की भूमिका मे स्वत लिखा है —

"हिन्दी भाषा के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने मेरे चौपदो की चरचा करके मुझसे एक बार कहा,—मै उसकी भाषा को हिन्दी नही कह सकता। मैंने कहा—उर्दू कहिये। उन्होने कहा, उर्दू भी नही कह सकता। मैंने कहा, हिन्दुस्तानी कहिये। उन्हाने कहा, मैं इसको हिन्दी-उर्दू के बीच की भाषा कह सकता हूँ। मैने कहा, हिन्दुस्तानी ऐसी ही भाषा को तो कहते हैं। उन्होने कहा, हिन्दुस्तानी मे उर्दू का पुट अधिक है। मैंने निवेदन किया, फिर आप इसे हिन्दी ही

क्यो नही मानते ! उन्होने कहा, चोपदो की वह उर्दू , उसके कहने का ढग उर्दू, उसमे उर्दू की चाशनी और उर्दू का ही रग है, उसकी भाषा चटपटी भी वैसी है, उसे हिन्दी कहूँ तो कैसे कहूँ ?"

इस प्रकार का प्रश्न उठना स्वाभाविक था। प्रत्येक विषय के पक्ष और विपक्ष, दो रूप होते हैं। भाषा के सबध मे सकीर्ण विचार रखनेवाले अथवा सस्कृत-बहुला हिन्दी-भाषा को महत्व देनेवाले भला इस प्रकार की भाषा को कैसे स्वीकार करते! परतु एक समय ऐसा आता है जब इस प्रकार की सकीर्णता नही टिक पाती और भाषा तथा आचार-विचार के सबध मे उदार दृष्टिकोण अपनाना पडता है। यह अवश्य है कि हरिऔध जी के चौपदो का प्रकाशन समय के बहुत पहले ही हो गया। उस समय इस प्रकार के छदो और भाषा को स्वीकार करने में सबको हिचक होना स्वाभाविक था, परतु यह भी सत्य है कि यदि भाषा का स्वाभाविक गति से विकास हुआ और उसमे अनावश्यक कृत्रिमता उत्पन्न करने का प्रयत्न न किया गया तो हिन्दी-भाषा की बोल-चाल भाषा ही कुछ परिवर्तित रूप मे राष्ट्र-भाषा के रूप मे ग्रहीत होगी। राष्ट्र की भाषा किसी एक भाषा के रूप पर ही आधारित होगी यह नही कहा जा सकता। उसमें सभव है हिन्दी, उर्दू और अन्य भाषा के शब्दो, छन्दो और शैली का समावेश हो। यह भी सभव है कि विभिन्न प्रान्तो की प्रान्तीय भाषाओ के जन साधारण मे प्रचलित शब्दो का, विचारो का भी उसमें समावेश हो। यदि हिन्दी भाषा का यह लचीला रूप न बना रहा और उसके आत्मसात करने की शक्ति का विकास न हुआ तो वह राष्ट्र-भाषा के रूप में आदृत नही हो सकती। विधान-

नियम आदि द्वारा भले ही वह लाद दी जाय परतु वह लोक-प्रियता नही प्राप्त कर सकेगी।

हम पहले ही कह चुके है कि फारसी छन्दो मे दीर्घ वर्णों को ह्रस्व करके पढने की रीति प्रचलित है और उनका यह नियम छन्दो के नियमानुसार है। इस सबध मे भी श्री नारायणप्रसाद जी 'बेताब' ने अपनी 'पद्य परीक्षा' नामक पुस्तक मे लिखा है —

'तकीअत' (पद्य-परीक्षा) करते समय आवश्यकता हो तो गुरु वर्ण को लघु मान लेते है। हिन्दी मे भी यह छूट जारी है परतु बात यह है कि हिन्दीवाले किसी किसी छन्द मे इस छूट से लाभ उठाते है, वर्णवृत्तो मे कदापि नही, और उर्दूवाले हर बह्र में। 'भी' का 'भि', 'किसी' का 'किसि', 'से' का 'स', थे' का 'थ', 'मेरी' का 'मिरी', 'मेरि', 'मिरि', आदि मानने में कोई हानि नही समझते। यह घटाना-बढाना अन्धाधुध नही, नियत नियमानुसार है। सातो विभक्तियो के प्रत्यय गुरु से लघु होते रहते है।'

भारतेन्दु जी के बाद जिन कवियो ने उर्दू-बह्रो का उपयोग किया वे भी इन नियमो का इन्ही रूपो मे अनुकरण करते रहे। परन्तु हरिऔध जी को हिन्दी की यह दासता पसद न थी। वे इसे उर्दू के सम्मुख हिन्दी का आत्मसमर्पण समझते थे अत उन्होने इस नियम का परिष्कार किया। वे 'बोल-चाल' की भूमिका में लिखते हैं —

"जिन नियमो के अनुसार उर्दू-शब्द-ससार मे यह विप्लव उपस्थित होता है यदि वे निमय हैं तो अनियम किसे कहेगे? उर्दू-भाषा के नियामक भले ही इस प्रकार के परिवर्तन को नियत नियमानुसार समझे, परन्तु हिन्दी भाषा के आचार्यों ने उन्हें दोष माना है। × × × वे उर्दू तक़ीअत और प्रणाली

से भले ही शुद्ध हो, किन्तु हिन्दी-नियमो की कसौटी पर कसने के बाद उनका वास्तव रूप प्रकट हो जाता है।"

अपने इस विचार का हरिऔध जी ने बडी दृढ़ता के साथ पालन किया। उन्होने उर्दू के छन्दो का पूर्ण रूप से परिष्कार किया और उनको हिन्दी-नियमो के अनुसार उपयुक्त बनाकर ही उनका उपयोग किया। निम्नलिखित पद्य इसके प्रमाण है —

है किसी का दिल फफोलो से भरा।
और कोई है बहुत फूला - फला।
एक की तो है उतरती आरती।
दूसरे का है उतर जाता गला।

पड़ कुदिन के झकोरो में।
पाँव किसके भला नही उखड़े।
कौन बस जो बिपद पड़े सिर पर।
क्या करे जो गले पड़े दुखड़े।

मठ महल, लाट पुल मदरसो को।
है अदम गोद मे लिटा देता।
हैं कहाँ आज मय - रचे मदिर।
है समय हाथ सब मिटा देता।

है कलेवा काल का होता सभी।
है कहाँ वह आज लका सा किला।
काँख में जिसकी दबा दसमुख रहा।
वह बली बाली गया पल में बिला।

हरिऔध जी अपने इन चौपदो के प्रति बड़े ही ममतावान थे। यत इन्होने इन चौपदो पर अथक परिश्रम किया था,

एक-एक बदिशो में उन्हे कई घटे तक सर खपाना पडा था अत इनके प्रति ममता होना स्वाभाविक था। उन्हे इस बात का भी बडा सतोष था कि इन चौपदो ने हिन्दी के विरोधियों का मुँह बद कर दिया और अब वे यह कह कर कि हिन्दी-भाषा 'आमफहम' नही है, खिल्ली न उडा सकेंगे। न्यायमूर्ति सर सुलेमान 'हिन्दुस्तानी अकादमी' प्रयाग के बहुत दिनो तक सदस्य थे। हरिऔध जी भी उसके सदस्य थे। उन्होने सुलेमान साहब को अपने इन चौपदो को कई बार सुनाया। वे बाग-बाग हो गये और उन्होने यह स्वीकार किया कि हरिऔध जी ने वास्तव मे हिन्दी की इस प्रकार महान सेवा की है। कभी कभी तो हरिऔध जी इन चौपदो को 'प्रियप्रवास' से भी अधिक महत्व देते थे। ठीक यही हाल अग्रेज कवि मिल्टन का भी तो था। उसे अपने 'पैराडाइज लास्ट' की अपेक्षा 'पैराडाइज रीगेण्ड' अधिक प्रिय मालूम पडता था। हरिऔध जी ने जिस प्रकार इन चौपदो के लिए अपनी शक्ति और प्रतिभा का उपयोग किया उसके कारण इनके प्रति ममता होना स्वाभाविक ही था।



****

चौपदों में प्रकृति, पुरुष और ईश्वर के चित्र

हरिऔध जी को जहाँ कही और जब कही अवसर मिला है तब वे प्रकृति और मनुष्य की वृत्तियो के चित्रण में रम गये हैं। चौपदो मे प्रकृति-चित्रण के लिए यद्यपि अधिक स्थान न था और न चौपदो के लिए वह विषय ही था तथापि बसत की बहार का वर्णन करते करते वे कुछ बहारदार बाते कह ही गये हैं। प्रकृति का यथातथ्य स्वाभाविक रूप ही इन चित्रो मे देखने को मिलता है। स्वाभाविक प्रकृति-चित्र जितने आह्लादकारी और हृदयस्पर्शी होते है उतने सवेदनात्मक नही। हरिऔध जी ने बसत और बसत-ऋतु के कुछ प्रमुख तत्वो का वर्णन 'चोखे चौपदे' में किया है। प्रकृति का एक सरल चित्र देखिये —

आम बौरे कूकने कोयल लगी।
ले महँक सुन्दर पवन प्यारी चली।
फूल कितनी बेलियों में खिल उठे।
खिल उठा मन, खिल उठी दिल की कली।
बेलियों में हुई छगूनी छबि।
बहु छटा पा गया लता का तन।
फूल फल दल बहुत लगे फबने।
पा निराली फबन फबीले बन।
है सराबोर सी अमी - रस में।
चाँदनी है छिड़क रही तन पर।

घूम महँ महँ महँक रही है वह।
बह रही है बसत की बैहर।
कूक करके निज रसीले कठ से।
है निराला रस रगो में भर रही।
कोयले से रग में रगत दिखा।
है दिलों मे कोयलें घर कर रही।

लाल-लाल टेसू फूले देखकर किसी दिल-जले के हृदय से क्या उक्तियाँ निकल सकती है इसका वर्णन करते हुए प्रकृति का सवेदनात्मक रूप कवि प्रस्तुत करता है—

कर दिलो का लहू लहू डूबे।
ये छुरे पूच पालिसी के है।
या खिले लाल फूल टेसू के।
या कलेजे छिले किसी के है।
जो हुआ है लालसाओ का लहू।
लाल फल दल है उसी में ही रँगा।
है उसी का दर्द कोयल कूक में।
कोयलों में है वही लोहू लगा।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इन चौपदो में प्रकृति-चित्रण के लिए कोई स्थान न था, ये तो विशेष कर मुहावरों के प्रयोग तथा मानव की वृत्तियो के परिष्कार के लिए लिखे गये थे। 'प्रियप्रवास' का क्षेत्र विशाल था। मनुष्य किस प्रकार अपने छुद्र स्वार्थों का त्याग कर विश्व-प्रेम के लिए अग्रसर हो सकता है इसका मनोहारी चित्र हमें उसमें देखने को मिला। विश्व-प्रेम की वेदी पर सब कुछ बलिदान कर देने का अनुपम संदेश प्रियप्रवास

ने दिया परतु इस प्रकार का विश्व प्रेम का वर्णन इन चौपदो मे न हो सका। हरिऔध जी मे हिन्दू-जाति के प्रति बडी ही अपनत्व की भावना थी। उसका ह्रास देखकर उनका हृदय रो उठता था। वे पुन हिन्दू-जाति के उत्थान के गीत गाने लगे। वे हिन्दू-जाति को उसकी हीनावस्था का ज्ञान करा कर चिढाना नही चाहते। वे तो यह चाहते है कि अपनी इस हीनावस्था को आँख खोलकर हिन्दू-जाति देख ले और उनमें सुधार कर अपना भविष्य बनाये। हिन्दू-मुसलिम एकता की दुदुभि बजते सुनकर वे खीज उठे। उन्हे कष्ट यह था कि अपने को उठाने के लिए कोई आगे नही बढ़ रहा, सब लोग 'युनिटी, युनिटी' चिल्ला रहे हैं। युनिटी अथवा एकता की बात पर वे खीझ उठे—

हैं लट्टू हम यूनिटी पर हो रहे।
और वह लट बे-तरह है पिट रही।
सुध गँवा सारी हमारी जाति अब।
है हमारे ही मिटाये मिट रही।
जाति अपनी सँभालते है वे।
हम नही है सँभाल सकते घर।
क्या चले साथ दौडने उनके।
जो कि है उड़ रहे लगा कर पर।
क्यों न मुँह के बल गिरे खा ठोकरें।
छा अँधेरा है गया आँखों तले।
हो न पाये पाँव पर अपने खड़े।
साथ देने चालवालों का चले।

हिन्दू-जाति का उत्थान करनेवालो को देखकर नाक-भौ सिकोडनेवालो को संबोधित कर हरिऔध जी कहते हैं:—

है पसीना जाति का गिरता जहाँ।
वे वहाँ अपना गिराते है लहू।
जाति - लोहू चूस लेने के लिए।
कब नही हम जिन्द बनते हूबहू।

* * *

बावलो जैसा बना उनको दिया।
दूर से आ जाति-दुख के नाम ने।
आँख मे उतरा नहीं मेरे लहू।
जाति का होता लहू है सामने।
जाति को ऊँचा उठाने के लिए।
बाग अपनी कब न वे खीचे रहें।
नीच बन आँखें बहुत नीची किये।
हम गिराते जाति को नीचे रहे।

हरिऔध जी की ये पक्तियाँ कितनी उद्बोधनात्मक है यह स्पष्ट है। ये जातीयता का मूल्य कितना बढा रही है इस सबध मे क्या कहा जाय। चौपदो मे हरिऔध जी का मन जाति के उत्थान की ओर ऐसा रमा कि वे सब कुछ भूल गये। उन्हे जाति की अवनति की गहरी चिता थी। इस चिता ने उन्हे इतना व्याकुल किया कि वे प्रकृति-चित्रण आदि की बाते ही भूल गये। विशेष कर 'चुभते चौपदे' की यही दशा है। 'चोखे चौपदे' मे तो हरिऔध जी अन्य विषयो को भी लेकर समाज के सम्मुख आये है। बोल-चाल' में भी जो मानव-चित्र अकित हुआ है उसमे सकीर्णता नही है। इन चौपदो में व्यापक भावनाओ का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। इन चौपदो मे हरिऔध जी सीमित परिधि मे ही इन भावनाओं का वर्णन कर सके इसका एक कारण यह भी

था कि उन्हें मुहावरो का भी ध्यान रखना था। मुहावरों की परिधि में जिन भावो, जिन विषयो का समावेश किया जा सकता था उन्हें वे समाविष्ट कर सके। कुछ भिन्न भिन्न चित्र देखिये —

गोद सूनी हुई भरी पूरी।
है धरोहर बहुत बड़ा खोती।
छिन गया लाल आँख का तारा।
माँ न कैसे बिलख बिलख रोती।

* * *

एक माँ मे कमाल ऐसा है।
कुभ को कर दिया कमल जिसने।
रस भरे फल हमे कहाँ न मिले।
फल दिये दूध से भरे किसने।

* * *

लुट सदा के लिए गया सरवस।
आज बेवा सोहाग है खोती।
फूट जोड़ा गया जनम भर का।
क्यों न वह फूट-फूट कर रोती।

* * *

बात भी पूछता कोई नही।
डीग हो हर बात में क्या ले रहे।
देख लो मुँह तो तवा सा हो गया।
मूँछ पर तुम ताव क्या हो दे रहे।
क्या मिला बरबाद करके और को।
क्यों लगा दुख बेलि सुख खोते रहे।
आह! तो हो तुम बुरे से भी बुरे।
जो बुराई बीज ही बोतें रहे।

'चोखे चौपदे' और 'बोल-चाल' मे इस प्रकार के मानव-जीवन के अनेक चित्र वर्तमान है। परतु ये विषय अधिकतर सामयिक हैं और समय के प्रवाह का निदर्शन करते है। मुहावरो के प्रयोग के कारण तथा कुछ भावो के कारण उनको स्थायित्व भी प्राप्त हो सकता है।

हरिऔध जी का ईश्वर-चित्रण में मन नही रमता था। परम्परा से जो ईश्वर का वर्णन होता चला आ रहा है उस रूप में भले ही उन्होने यत्र-तत्र ईश्वर का वर्णन कर दिया हो परतु अपनी अनुभूति के आधार पर उन्होने इन चित्रो का निर्माण नही किया है। ससार की जो सुव्यवस्थित व्यवस्था है उसका कोई न कोई तो नियामक होगा ही, परतु वह कौन नियामक है यह एक जिज्ञासा है। इस जिज्ञासा की तुष्टि से ही ईश्वरत्व की भावना का विकास होता है। हरिऔध जी के हृदय मे जिज्ञासा अवश्य है परतु वे उस जिज्ञासा का हल खोजने के लिए अग्रसर न हो सके। उनकी यह जिज्ञासा कहीं कही रहस्यात्मक रूप में व्यक्त हुई है, इन्ही के कारण हरिऔध जी के काव्यो मे रहस्य-वादी कविता की कल्पना करना स्पष्ट रूप से उनके साथ अन्याय करना होगा। हरिऔध जी रहस्यवादी तथा उसके वर्तमान रूप छायावादी कविताओ के विरोधी तो न थे परतु वे नयी लहर देख कर उसी मे बह जायँ ऐसा भी न था। छायावादी कवियो में वे 'प्रसाद' जी की कविताओ को ही वास्तविक कविता की सज्ञा प्रदान करने के पक्ष में थे। 'प्रसाद' जी की प्रतिभा का वे आदर भी करते थे। हरिऔध जी की ईश्वर-सबधी कविताओ के कुछ उदाहरण देखिये —

बात कैसे बता सकें तेरी।
है मुहो में लगे हुए ताले।
बावले बन गये न बोल सके।
बाल की खाल काढने वाले।

पाँव मेरे हिले नही वाँ भी।
थे बखेड़े जहाँ अनेक मचे।
हर जगह मिल गये तुम्हारा बल।
सब बलाओ से बाल - बाल बचे।

ठीक लौ जो लगी रहे हरि ओर।
तो करेगा न कुछ जगत जजाल।
जो न होती रहे कपट की काट।
क्या रखे और क्या कटाये बाल।

प्रकृति के नाना रूपो में, नाना तत्वो में उस रहस्यमय पुरुष की झलक किस प्रकार दीखती है इसका चित्र देखिये —

कर अजब आसमान की रगत।
ये सितारे न रग लाते हैं।
अनगिनत हाथ - पाँव - वाले के।
नख जगा जोत जगमगाते है।

हैं चमकदार गोलियाँ तारे।
औ खिली चाँदनी बिछौना है।
उस बहुत ही बडे खिलाड़ी के।
हाथ का चन्द्रमा खिलौना है।
मदिरों मसजिदों कि गिरजों में।
खोजने हम कहाँ कहाँ जावें।

कहते है कि—'तुम्हारी झलक कहाँ नही है, परतु हमारा मुँह ऐसा नही कि तुम्हारे सामने कर सके' —

हो कहाँ पर नही झलक जाते ।
पर हमें तो दरस हुआ सपना ।
कब हुआ सामना नही पर हम ।
कर सके सामने न मुँह अपना ।

विश्व-नियामक कौन है ? किसके बल पर इस ससार की व्यवस्था होती है ? वह शक्ति कौन-सी है जो सबका सचालन करती है, ये रहस्यमय बातें हैं । इनके प्रति औत्सुक्य की भावना स्वाभाविक है परतु इन्हे रहस्यवादी कविता कहना न्यायसगत नही । अधिकतर आधुनिक छायावादी कवि भी परम्परा से चले आते रहस्यवाद के उच्छृष्ट अशो का उपयोग कर उन्ही में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर अपनी भावनाएँ जटिल भाषा में व्यक्त करते रहे है । उनकी रचनाएँ उनकी अनुभूति की आधार-पीठिका पर निर्मित हुई हैं ऐसा नही कहा जा सकता । हरिऔध जी की कविताओ में केवल एक जिज्ञासु का रूप ही है —

जान जब तक सका नही तब तक ।
था बना जीव बैल तेली का ।
जब सका जान तब जगत सारा ।
हो गया आँवला हथेली का ।

पेड़ का हर एक पत्ता हर घड़ी ।
है नहीं न्यारा हरापन पा रहा ।
गुन सको गुन लो सुनो जो सुन सको ।
है किसी गुनमान का गुन गा रहा ।

है उसी एक की झलक सब में।
हम किसे कान कर खड़ा देखें।
तो गड़ेगा न आँख में कोई।
हम अगर दीठ को गड़ा देखें।

* * *

छा गया हर एक पत्ते पर समा।
पेड़ सब ने सिर दिया अपना नवा।
खिल उठे सब फूल, चिड़ियाँ गा उठी।
बह गयी कहती हुई हर हर हवा।

हरिऔध जी की इन कलात्मक रचनाओ में भावात्मकता भी है, परतु विशेषत इनमें शब्द-सगीत की ही प्रधानता है। भाव-सगीत की धारा बडी मद गति से इन चौपदो में प्रवाहित हुई है। प्रयोग की दृष्टि से, हिन्दी भाषा के विकास की दृष्टि से तो इन चौपदो का महत्व स्वीकार करना ही पडेगा। परतु इन चौपदो के द्वारा हरिऔध जी की भावात्मक अभिव्यक्ति का विकास हुआ यह कोई स्वीकार न करेगा। हरिऔध जी भी स्वय इस बात को समझते थे। जिस ध्येय से, जिस उद्देश्य को लेकर इन चौपदो की रचना हुई वह तो पूरा हुआ ही। कवि के आत्म-तुष्टि का भी महत्व है, क्योकि जब तक एक असतुष्ट भावना अज्ञात मन के किसी कोने में पडी रहती है तब तक वह मनुष्य को सतोष नही लेने देती और न वह कोई महत्व का कार्य ही कर पाता है, यही स्थिति हरिऔध जी की भी थी। इस कार्य को पूरा कर लेने के उपरात वे पुन एक महान रचना लेकर हिन्दी ससार के सम्मुख उपस्थित हो सके।

****

चौपदों में अलंकार-निरूपण

सामयिक और स्थायी साहित्य में बडा अन्तर होता है। सामयिक साहित्य किसी समय विशेष की विचारणाओ और भावनाओ की अभिव्यक्ति करता है। इस साहित्य का उद्बोधनात्मक महत्व है। अपने समय में वह जनता को प्रभावित कर उत्तेजित करता है और भावनाओ का परिष्कार होता है। इस प्रकार के साहित्य मे स्थायित्व नही होता। स्थायी साहित्य काल के बधन से परे रहता है। वह युग युग तक समाज का मनोरजन करता है। उसके द्वारा भावनाओ, विचारो और आदर्शों के उचित मार्गों का प्रदर्शन होता है। 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोल-चाल' के चौपदो का हरिऔध जी ने स्वत विश्लेषण किया है। इन ग्रथो को किस श्रेणी मे स्थान प्राप्त होगा इसका निर्णय वे स्वत करने का प्रयत्न कर चुके है। इसी प्रसग में उन्होने सामयिक और स्थायी साहित्य की मीमासा भी की है। 'चोखे चौपदे' की भूमिका मे सामयिक और स्थायी साहित्य के सबध मे उन्होने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है —

"सामयिक साहित्य वह है जिसमे तात्कालिक घात-प्रतिघात और घटित घटनाओं से प्रसूत आवेशो, उद्गारों और भावों

का समावेश होता है। उस समय जाति के नियन्त्रण, उद्बोधन, जागरित-करण और सरक्षण इत्यादि मे इससे बडी सहायता मिलती है, अतएव कुछ समय तक इस प्रकार के साहित्य का बडा आदर रहता है। किन्तु समय की गति बदलने और उसकी उपयोगिता का अधिक ह्रास अथवा अभाव होने पर वह लुप्त हो जाता है। सामयिक साहित्य पावस ऋतु के उस जलद-जाल के तुल्य है जो समय पर घिरता है, जल प्रदान करता है, खेतो को सीचता है, सूखे जलाशयो को भरता है और ऐसे ही दूसरे लोकोपकारी कार्यों को करके अन्तर्हित हो जाता है।"

स्थायी साहित्य के संबध मे हरिऔध जी के विचारो का अवलोकन कीजिये —

"प्रत्येक भाषा के लिए स्थायी साहित्य की आवश्यकता होती है। जो विचार व्यापक और उदात्त होते है, जिनका सबध मानवीय महत्व अथवा सदाचार से होता है, जो चरित्र-गठन और उसकी चरितार्थता के सम्बल होते है, जिन भावो का परम्परागत सबध किसी जाति की सभ्यता और आदर्श से होता है, जो उद्गार हमारे तमोमय मार्ग के आलोक बनते है, उनका वर्णन अथवा निरूपण जिन रचनाओ अथवा कविताओ मे होता है वे रचनाएँ और उक्तियाँ स्थायिनी होती हैं। इस लिए जिस साहित्य में वे सग्रहीत होती है वह साहित्य स्थायी माना जाता है। + + + स्थायी साहित्य उस जल-वाष्प-समूह के समान है, जो सदैव वायु मे सम्मिलित रहता है, पल पल ससार-हितकर कार्यों को करता है, जीवो के जीवन-धारण, सुख-सम्पादन, स्वास्थ्य-वर्द्धन का साधन और समय पर सामयिक जलद-जाल के जन्म देने का हेतु भी होता है।"

हरिऔध जी के इन्हीं मानदण्डो के आधार पर हमें उनके चौपदो पर विचार करना चाहिये। इस कसौटी पर कसने से 'चोखे चौपदे' और 'बोल-चाल' की गणना स्थायी साहित्य के रूप में की जा सकती है। परतु उनका स्थायित्व जैसा मै पहले कह चुका हूँ बहुत कुछ मुहावरो के कारण है। हरिऔध जी के 'चोखे चौपदे' और 'बोल-चाल' मे ऐसे विषयो का कुछ अश में समावेश अवश्य है जिनके कारण वे स्थायी साहित्य के अन्तर्गत आ सकते है, परतु जहाँ तक 'चुभते चौपदे' की बात है वह पूर्णत सामयिक साहित्य है। 'चुभते चौपदे' मे हरिऔध जी के भावुक हृदय ने जिस प्रकार हिन्दू जाति और सस्कृति के पक्ष को उसमे प्रोत्साहित करने का यत्न किया है वह आज के युग मे अतीत की वस्तु है। वर्तमान काल मे उन उद्बोधनो का कोई महत्त्व नही और न वे इस युग के लिए उपयुक्त ही कहे जायँगे। हाँ, 'चोखे चौपदे' और 'बोल-चाल' मे ऐसे विषय हैं जिनका मानव-वृत्तियो से सबध है और वे ऐसी भावनाएँ है जो काल और सीमा के बधनो मे नही बाँधी जा सकती। विशेष कर 'चोखे चौपदे' मे इस प्रकार की भावनाओ की अधिकता है। 'बोल-चाल' मे भी स्थायी साहित्य की पर्याप्त सामग्री कही जा सकती है। नि सदेह 'बोल-चाल' और 'चुभते चौपदे' से कहीं ऊँचा स्थान 'चोखे चौपदे' का है। उसमें शक्ति है और सुन्दर भावो का भी समावेश है।

अलकार-निरूपण के लिए मुक्तक रचनाएँ बहुत कुछ उपयुक्त होती है। प्रियप्रवास प्रबन्ध काव्य है और 'चोखे चौपदे' आदि मुक्तक काव्य है, अत दो भिन्न प्रकार के साहित्य है। प्रियप्रवास का आधार कथा है, अत उसमे प्रत्येक छद में कला के प्रदर्शन

का अवसर न था। इसके विपरीत चौपदो में कवि को पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ कला के प्रदर्शन का अवसर मिला है। इन चौपदो में चमत्कारो की भरमार है।

कवि अपनी कल्पनाओ द्वारा काव्य के रूप मे सौदर्य की सृष्टि करता है। वह काव्य जो किसी प्रकार के सौदर्य की सृष्टि नही करता काव्य की श्रेणी मे नही गिना जा सकता। अवश्य ही सौदर्य-सृष्टि और श्रेणियो का भी निश्चित मानदण्डो के अनुसार निर्णय किया जा सकता है। परतु एक बात ध्यान देने योग्य है। यदि कवि किसी निश्चित शैली अथवा सिद्धान्तो के अनुसार ही सौन्दर्य की सृष्टि करता है तो वह सौन्दर्य-सृष्टि के साथ न्याय नही कर सकेगा। कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह तटस्थ भाव, स्वतत्र हृदय और पूर्ण रसिकता से साहित्य का स्वरूप अकित करे। जब तक वह इस प्रकार का चित्र अकित न करेगा तब तक उसके चित्र स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी न होगे।

प्रियप्रवास की भाँति इन चौपदो में न तो चरित्र का और न प्रकृति का वह मनोहारी चित्र मिलेगा और न उनमें वह सरसता अथवा माधुर्य ही हो सकता है। इन चौपदो का निर्माण तो जाति और समाज के सरक्षण के लिए हुआ है और इनका नागरिक जीवन से सबध है। इस दृष्टि-कोण से जब हम इन चौपदों का अध्ययन करेंगे तब उनकी उपादेयता समझ में आ सकेगी।

'चोखे चौपदे' मे शृगार, शात और वात्सल्य रस के कुछ बड़े ही सुन्दर और सरल चित्र प्रस्तुत किये गये हैं:—

घुल रहा हाथ जब निराला था।

तब भला और बात क्या होती।

हाथ के जल गिरे ढले हीरे।
हाथ झाडे बिखर पड़े मोती।

कवि नायिका के हाथो का वर्णन करता है परतु यह नहीं कहता कि उसके हाथ फूल की अपेक्षा कही अधिक कोमल है। फूल उसके कोमल हाथो की समानता नही कर सकते —

देह सुकुमार बखाने पर।
और सुकुमारपन बतोले हैं।
छू गये नेक फूल के गजरे।
पड़ गये हाथ में फफोले है।

वात्सल्य रस के कुछ उदाहरण देखिये —

प्यार मा के समान है किसका।
है कढी धार किस हृदय-तल से।
छातियो मिस हमें दिये किसने।
दूध के दो भरे हुए कलसे।
प्यार से है प्यार की बातें भरी।
मा कलेजे के कमल जैसा खिले।
पाँव पाँव ठुमुक घर में चले।
लाल को हैं पाँव चदन के मिले।

हरिऔध जी करुण रस-सिद्ध कवि है। अन्य रसो की अपेक्षा वे करुण रस का अभूतपूर्व कुशलता से चित्रण करते हैं। कुछ पद्य करुण रस के देखिये —

दीन दुखियो पर पसीजें क्यों न हम।
देख उनकी आँख का आँसू छना।
क्यो किसी की वे गरम मूठी करें।
है न उनके पास मूठी भर चना।

एक दिन था कि हौसलो में डूब।
गूँथती प्यार मोतियों का हार।
अब लगातार रो रही है आँख।
टूटता है न आँसुओ का तार।

शान्त रस का एक उदाहरण देखिए —

जो किसी के भी नही बाँधे बँधे।
प्रेम बधन से गये वे ही कसे।
तीन लोको मे नही जो बस सके।
प्यारवाली आँख मे वे ही बसे।

हरिऔध जी अनुपम खिलाडी के खेल और खेल की सामग्री का वर्णन करते है। भगवान अनुपम खिलाडी है और चॉदनी के सुदर बिछौने पर चमकदार तारो की गोलियॉ खेल रहा है। इस खिलाडी के पास एक बडा खिलौना भी है और वह है चॉद। कवि ने "उस बहुत ही बडे खिलाडी के हाथ का चद्रमा खिलौना है" मे बडी सुन्दर व्यजना की अभिव्यक्ति की है। सूर्य को जगत की आतमा कहा जाता है—सूर्यो आत्मा हि जगत—अत इस आत्मा और उस खिलाडी मे अभिन्नता स्वाभाविक है। हाथ का अर्थ 'कर' होता है और कर किरण को भी कहते है। चन्द्रमा, सूर्य की किरणो के अनुसार ही घटता-बढता रहता है। अत वह समय समय पर भिन्न भिन्न कलाओ के साथ उदित होता है। स्वभावत चन्द्रमा भगवान के हाथ का अनुपम खिलौना हुआ।

हरिऔध जी के एक एक चौपदो में कई अलकारो का समावेश है, उनका विस्तार से वर्णन करना समय का अपव्यय होगा। हम यहॉ पर कुछ प्रधान अलकारो के एक एक उदाहरण अवलोकनार्थ प्रस्तुत करेंगे जिससे यह स्पष्ट हो जाय

कि इन चौपदो में भी अलकारों का बड़ी कुशलता के साथ निरूपण हुआ है।

श्लेषालकार

सैकड़ों ही कपूत - काया से।
है भली एक सपूत की छाया।
हो पड़ी चूर खोपड़ी ने ही।
अनगिनत बाल पाल क्या पाया।

स्वभावोक्ति

ढोल में पोल ही मिली हमको।
बारहा आँख खोल कर देखा।
है वहाँ मोल तोल मतलब का।
लाख हा। दिल टटोल कर देखा।

रूपक

हैं उसी के भाव के फूले कमल।
जो सदा सिर पर सुजन सुर के चढे।
हैं उपज लहरें उसी में सोहती।
सोत रस के मन सरोवर से कढे।

विचित्रालकार

आप ही समझें हमें है क्या पड़ी।
जो कि अपने आप पड़ जायें गले।
है जहाँ पर बात चलती ही नही।
कौन मुँह लेकर वहाँ कोई चले।

दृष्टांतालकार

कौन आला नाम रख आला बना।
है जहाँ गुन है निरालापन वहीं।

साँझ फूली या कली फूली फबी।
आँख की फूली फबी फूली नहीं।

मुद्रालकार

रग में जो प्रेम के डूबे नहीं।
जो न पर-हित की तरगो में बहे।
किस लिए हरिनाम तो सह साँसतें।
कठ भर जल में खडे जपते रहे।

यथासख्य

हैं कही बाल औ कहीं आँसू।
और मुँह में कहीं हँसी का थल।
है कहीं मेघ औ कही बिजली।
औ कहा पर बरस रहा है जल।

ललितालकार

चाँद को छील चाँदनी को मल।
रग दे लाल लाल रेजे में।
कवि कहा कर बदल कमल दल को।
छेद कर दे न छवि कलेजे में।

विरोधाभास

पास तक भी नही फटक पाते।
सैकड़ों ताड़ झाड सहते है।
आप में कुछ कमाल है ऐसा।
फिर भी सिर पर सवार रहते है।

सदेहालकार

साँझ के लाल लाल बादल में।
है दिखाती कमाल चन्द्रकला।

या बही लाल पर अमी-धारा।
या हँसी ओठ पर पड़ी दिखला।

कवि द्वारा चौपदों में नियोजित कुछ अन्य अलंकारों का अवलोकन कीजिए—

दीपक

है बड़ा ही कमाल कर देती।
है सुरुचि भाल के लिए रोली।
नींव सारी भलाइयों की है।
बात सच्ची, जँची, भली भोली।

वृत्यानुप्रास

चैन चौपाल चोज चौबारा।
चाव चौरा चबाव आँगन है।
चाल का चौतरा चतुरता कल।
चाह थल चेतना महल मन है।

यमक

सूर को क्या अगर उगे सूरज।
क्या उसे जाय चाँदनी जो खिल।
हम अँधेरा तिलोक मे पाते।
आँख होते अगर न तेरे तिल।

उपमा आदि अलंकार

रस-रसिक पागल सलोने भाव का।
कौन कवि सा है लुनाई का सगा।
लोक-हित-गजरा लगन फूलों बना।
है रखा किसने कलेजे से लगा।

चाहिये था चाँदनी जैसी छिटक ।
वह बना देती किसी का आँख तर ।
कर उसे बेकार बिजली कौंध सम ।
क्या दिखायी मुसकुराहट होंठ पर ।

पहले ही कहा जा चुका है कि इन चौपदों की रचना विशेष-कर मुहावरों के प्रयोग के लिए हुई है । इन मुहावरों की करामात द्वारा किस प्रकार हरिऔध जी ने गागर में सागर भरा है इसके दो उदाहरण देखिये —

पाठ जिसने कर दिखाने का पढ़ा ।
संकटों में जो सका जीवट दिखा ।
काम करके ही जगत से जो टला ।
वह सका है टाल माथे का लिखा ।

* * *

धाक जिनकी मानती दुनिया रही ।
साधकर जो काम सब फूले फले ।
वे भला कब छोड़ अपने पथ को ।
मान माथे की लकीरों को चले ।

चौपदे तो अलंकारों और मुहावरों के खजाने हैं । सब अलंकारों और मुहावरों का विश्लेषण स्थानाभाव के कारण असंभव है । आशा है मुहावरों और अलंकारों के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं वे कवि के काव्य-कौशल का निदर्शन करने के लिए पर्याप्त हैं ।



पंचम खण्ड

(विवेचनात्मक गद्य)

****

हरिऔध जी का गद्य-साहित्य

कवि के रूप मे, नाटककार के रूप में और आचार्य के रूप में हरिऔध जी की रचनाओ का हमने अध्ययन किया। साहित्यिको की वास्तविक कसौटी गद्य होती है। जो व्यक्ति सफल गद्य-लेखक होता है वही सफल कलाकार कहलाता है। हरिऔध जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा साहित्य के सब कोनो को केवल झॉक ही नही आयी है वरन् उसने उन विभिन्न क्षेत्रो पर अपनी मुहर भी लगा दी है। हरिऔध जी के गद्य-साहित्य को हम चार भागो में बॉट सकते हैं —

१ प्रारभिक प्रयोगवादो साहित्य, २ समीक्षा-साहित्य, ३ भावात्मक साहित्य, ४ नीति और धर्म-सबधी साहित्य।

हरिऔध जी के प्रारभिक प्रयोगवादी साहित्य के सबध मे हम पहले ही विस्तार के साथ विचार कर चुके है। किन प्रेरणाओ के आधार पर, किन भावनाओ के वशीभूत होकर उन्होने 'ठेठ हिन्दो का ठाट' और 'अधखिला फूल' की रचना की इस पर भी

विचार किया जा चुका है। इन रचनाओ का हिन्दी-साहित्य में अप्रतिम स्थान है। हरिऔध जी की अमर कीर्ति उनके काव्यो के कारण है, परतु उनका समीक्षा-साहित्य भी कम महत्व का नही है। हरिऔध जी की रचनाएँ अधिकतर भावुकतापूर्ण होती है। वे गद्य की रचना करते करते भावुकता के प्रवाह मे ऐसे बह जाते है कि उनके गद्य-साहित्य मे भी पद्य के सगीत का आभास मिलता है। उनका गद्य भी सगीतात्मक है, परतु उनकी आलोचनाएँ और समीक्षाएँ बडी गभीर हुई है। डाक्टर सच्चिदानन्द सिनहा की प्रेरणा से उन्होने बाबू रामदीनसिह रीडर शिप के अतर्गत पटना विश्वविद्यालय मे हिन्दी-साहित्य के सबध में भाषण किये थे। इन भाषणो का सग्रह 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' के रूप मे प्रकाशित हुआ। इन भाषणो मे हरिऔध जी ने हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति और उसके विकास के सबध मे अपने गवेषणापूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। हरिऔध जी स्वत नव रस-सिद्ध कवि थे अत उन्होने साहित्य की विभिन्न मान्यताओ और सिद्धान्तो का बडी सहृदता के साथ विवेचन किया है। साहित्यिको की रचनाओ की भी उन्होने रचनात्मक आलोचनाएँ की है। हरिऔध जी द्विवेदी-युग के साहित्यकार थे, परतु उन्होने साहित्य की नवीन दिशाओ की भी सहानुभूतिपूर्वक विवेचना की है। हरिऔध जी ने बड़े तर्कयुक्त रीति से यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि आर्यों का मूल निवास भारत ही था। विवेचनात्मक गद्य लिखते समय हरिऔध जी की भाषा कितनी सयत और गभीर हो जाती है इसका एक उदाहरण देखिये। इस अनुच्छेद में उन्होने भाषा की उत्पत्ति के संबध में विचार किया है.—

"भाषा चाहे स्वभावज हो अथवा मनुष्य-कृत, ईश्वर को उसका आदि कारण मानना ही पडेगा क्योकि स्वभाव उसका विकास है और मनुष्य स्वय उसकी कृति है। मनुष्य जिन साधनो के आधार से ससार के कार्य-कलाप करने मे समर्थ होता है, वे सब ईश्वर-दत्त है, चाहे उनका सबध बाह्य जगत् से हो अथवा अन्तर्जगत से। जहाँ पचभूत और समस्त दृश्यमान जगत मे उसकी सत्ता का विकास दृष्टिगत होता है, वहाँ मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, विवेक, विचार आदि अन्त:-प्रवृत्तियो मे भी उसकी शक्ति कार्य करती पायी जाती है। ईश्वर न तो कोई पदार्थ विशेष है, न व्यक्ति विशेष, वरन् जिस सत्ता के आधार से समस्त ससार किसी महान यत्र के समान परिचालित होता रहता है उसी का नाम ईश्वर है। ससार स्वय विकसित अवस्था मे है, किसी बीज ही से इसका विकास हुआ है, इसी प्रकार मनुष्य भी किसी विकास का ही परिणाम है, किन्तु उसका विकास ससार विकास के अन्तर्गत है। कहनेवाले कह सकते है कि मनुष्य लाखो वर्ष के विकास का फल है, अतएव वह ईश्वर-कृत नही, किन्तु यह कथन ऐसा ही होगा, जैसा बहु वर्ष-व्यापी विकास के परिणाम किसी पीपल के प्रकाण्ड वृक्ष को देखकर कोई यह कहे कि इसका सबध किसी अनन्त कालव्यापी बीज से नही हो सकता। भाषा चिरकालिक विकास का फल हो, और उसके इस विकास का हेतु मानव-समाज ही हो, किन्तु जिन योग्यताओ और शक्तियो के आधार से वह भाषा को विकसित करने मे समर्थ हुआ, वे ईश्वर-दत्त है वैसे ही जैसे ससार के अन्य बहु विकसित पदार्थ।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि विषय की गंभीरता

के अनुरूप हरिऔध जी की भाषा का स्वरूप भी बड़ा ही गभीर हो जाता है। हरिऔध जी साहित्यिक विवादो पर विचार करते समय दूसरो की भावना, दूसरो की मनोवृत्ति का भी ध्यान रखते है। वे सबके ऊपर अपनी भावना ही नही लादना चाहते। उनका कहना यह है कि गुण जहाँ कही भी हो उसे ग्रहण करना चाहिये। यदि छायावाद मे गुण है तो उसका गुण-गान होना चाहिये और यदि उसमे दोष है तो उन्हे दूर करने का यत्न होना चाहिए—

"× × × अब तक मैने जो कुछ कहा इसका यह अभिप्राय नही है कि छायावाद के नाम पर जो अनर्गल और बे सिर पैर की रचनाए हो रही है, मै उनको प्रश्रय दे रहा हूँ। मेरे कथन का यह प्रयोजन है कि गुण का आदर अवश्य होना चाहिये। अनर्गल प्रलाप कभी अभिनन्दनीय नही रहा, उसका जीवन क्षणिक होता है और थोडे ही समय मे अपने आप वह नष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह है कि सच्चे समालोचक और सत्समालोचना का कार्य ही क्या है? यही न कि साहित्य से उसकी बुराइयाँ दूर की जाये और जो भ्रान्त है उनको पथ पर लगाया जावे, जो चूके हैं उनको सुधारा जावे और साहित्य में जो कूडा करकट हो उसको निकाल बाहर किया जाय। दोष गुण सब में है, गुण का ग्रहण और दोष का सशोधन एव परिमार्जन ही वाछनीय है। × × × यह भी मै मुक्त कठ से कहता हूँ कि छायावादी कवियो ने खडी बोल चाल की कर्कशता और क्लिष्टता को बहुत कम कर दिया है। जैसे प्राचोन खडी बोली की रचनाओ का यह गुण है कि उन्होने भाषा को बहुत परिमार्जित और शुद्ध बना दिया, उसी प्रकार छायावादी कविता का यह गुण है कि उसने कोमल-कान्त-पदावली ग्रहण कर खडी बोली

की कविता के उस दोष को दूर कर दिया जो सहृदय जनो को कॉटो की तरह खटक रहा था।"

हरिऔध जी ने छायावादी कवियो के स्वर में स्वर मिलाकर गाना न गाया हो परतु यह तो तथ्य है कि उनका दृष्टिकोण सदा उदार रहा। किसी भी सिद्धान्त पर विचार करते समय उन्होंने सकीर्णता से विचार नही किया है। वे अपरिवर्तनशील धारणाओ में विश्वास नही करते थे। यही कारण था कि उनके 'हिन्दी भापा और साहित्य का विकास' नामक ग्रथ का सब ने समान रूप से आदर किया।

हरिऔध जी का अध्ययन गहन था और वे चितनशील व्यक्ति थे। उनकी विचित्र मेधा इस कार्य मे बडी सहायक थी। विभिन्न भाषाओ के अनेक उदाहरण उन्हे कठाग्र थे। अनेक भापाओ के विभिन्न विचारो के तुलनात्मक उद्धरण वे बडे ही सहज और स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत कर सकते थे। इसका फल यह था कि वे अपनी उक्तियो को सबल सिद्ध करने मे समर्थ होते थे। बहुत दिनो की बात है कि पडित जनार्दनप्रसाद झा जी ने हरिऔध जी के सबध मे एक लेख लिखा था। वह लेख हरिऔध जी के अपरिमित ज्ञान पर प्रकाश डालता है। उस लेख का एक अश इस प्रकार है —

"हरिऔध जी का ज्ञानार्जन उनकी सग्रह और सचय-वृत्ति का परिणाम है। शृखलाबद्ध अध्ययन-क्रम के साथ यद्यपि इनकी स्थिति और मनोवृत्ति का घनिष्ठ साहचर्य नही प्रतीत होता तथापि इनके गद्य-लेखो से इस बात का पूरा पता चल जाता है कि ज्ञान-प्रदर्शन की कला में ये पूर्ण पटु है। कविता की ध्यान-धारा में बहनेवाले इस क्षमताशाली साहित्यिक की लेखनी जब गद्य

की भाव-भूमि पर दौडने लगती है तो मालूम होता है, इसकी नोक के साथ सस्कृत, प्राकृत, उर्दू, फारसी, बगला, अग्रेजी आदि अनेक उन्नत भाषाओ के अनमोल वैभव बँधे हुए है।"

वास्तव मे ये पक्तियाँ हरिऔध जी की गद्य-शैली की बडी सटीक विवेचना करती है। हरिऔध जी के विवेचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य अनेक भाषाओ के उद्धरणो से पूर्णत विभूषित है। वे जब किसी विषय का विवेचन करते है तब बडे वैज्ञानिक रीति से यथाक्रम आगे बढते है। वे पल्लवग्राही ज्ञान के आधार पर थोथा पाडित्य-प्रदर्शन नही करते।

हरिऔध जी के ग्रथो की भूमिकाओ का हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान है। सभवत अपने ग्रथो के विषयो के प्रतिपादन के सबध मे किसी भी हिन्दी साहित्यकार ने इतने तर्क उपस्थित न किये होगे। हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास', 'बोल-चाल', 'रस कलस' आदि ग्रथो की भूमिकाओ का ऐतिहासिक महत्व है। 'बोल-चाल' की भूमिका मे हरिऔध जी ने बोल-चाल की भाषा, ठेठ हिन्दी, हिन्दुस्तानी भाषा की उत्पत्ति, मुहावरो, मुहावरो का आविर्भाव आदि पर बडी गभीरता से विचार किया है और अनेक भाषाओ के उदाहरण प्रस्तुत कर यह स्पष्ट करने का यत्न किया है कि बोल चाल की भाषा कितनी आवश्यक है और मुहावरो के प्रयोग से भाषा की अभिव्यक्तिशक्ति मे कितना ओज उत्पन्न हो जाता है।

हरिऔध जी ने 'रस-कलस' की भूमिका मे रस साहित्य के अनेक दृष्टिकोणो का गहन विवेचन ही नही किया है वरन् कुछ नये नायक-नायिकाओ की उद्भावनाएँ भी की। हरिऔध जी की 'रस कलस' की भूमिका से प्रभावित होकर आचार्य शुक्ल ने लिखा है'—

"'रस-कलस' में हरिऔध जी ने जो विचारपूर्ण भूमिका लगा दी है उससे रस के सबध में लोगो को बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है। अन्त में यही कहना पड़ता है कि ब्रज भाषा की काव्य-परम्परा का अत्यन्त पूर्णता पर पहुँचा हुआ रूप दिखाकर हरिऔध जी ने एक बार फिर शिक्षित समाज को उसकी ओर आकर्षित कर लिया है।"

हरिऔध जी ने 'रस-कलस' की भूमिका में रस-सिद्धान्त से संबध रखनेवाले अनेक सिद्धान्तो, मतो तथा इनके अनुसार उसके विकास की विषद् मीमासा की है। यह भूमिका विषय-प्रवेश कराने की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही साथ ही वह रस-साहित्य का पर्याप्त ज्ञानार्जन भी करा देती है। 'रस-कलस' की भूमिका हरिऔध जी के प्रगाढ़ पाडित्य का स्पष्ट रूप सम्मुख उपस्थित कर देती है। हरिऔध जी रसवादी कवि थे। उन्हे रस के निरूपण मे परमानन्द की प्राप्ति होती थी। वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे। रस सिद्धान्तो की कसौटी पर ही उन्होने अन्य कवियो की रचनाओ की आलोचना अपने इतिहास मे की है।

हरिऔध जी का एक गद्यात्मक काव्य भी है। सस्कृत-लेखको के अनुसार इसे चम्पू काव्य कह सकते है। इसमे गद्य और पद्य दोनो का समावेश है। यह गद्य काव्य 'पगली का पत्र' शीर्षक देकर मीरा के हृदगत् भावो को व्यक्त करने के लिए लिखा गया है। पत्र की भाषा अत्यन्त भावात्मक और सरस है —

"सुना है कि तुम हमें पगली कहते हो। हाँ, मैं पगली हूँ। तुम्हारे सुन्दर मुखड़े की पगली हूँ, तुम्हारे घुँघराले अलको की पगली हूँ, तुम्हारी साँवली सूरत की पगली हूँ, तुम्हारी जादू भरी आँखो की पगली हूँ, तुम्हारी सुधा-भरी मुस्कान की पगली हूँ जो

ससार को पागल बना देती है, और पगली हूँ उस पत्थर की मूर्ति की जो वास्तव में अनिर्वचनीय है, आज दिन जो हमारा जीवन सर्वस्व है, जो पत्थर होकर भी मुझ पर पसीजती है, जो अकरुण होकर भी मुझ पर उस करुण रस की वृष्टि करती है, जिसका स्वाद वही जान सकता है जिसने उस रस को चखा है।

× × × जिधर मै ऑखे उठाती हूँ उधर ही नाना विभूतियो के रूप मे तुमको देखकर मुख से यही निकलता है—'इन ऑखिन प्यारे, तिहारे बिना जग दूसरो कोऊ दिखातो नही", मै पगली कही गयी हूँ। तो पगली ही रहूँगी और यही कहती फिरूँगी—

बताता है खग वृन्द कलोल।
सरस तरु पुज प्रसून मरद।
वायु - सचार प्रफुल्ल - मयक।
हमारा ब्रज जीवन - नभ - चन्द।
सत्य है, चित है, है आनन्द।

हरिऔध जी के गद्य में सदा मुहावरों की छटा देखने को मिलती है। उनका गद्य-काव्य रस से भरा रहता है। उपर्युक्त उद्धरण उनके पत्र-शैली में लिखे गये गद्य-काव्य का है। इस पत्र में केवल भाषा का बाह्य सौंदर्य ही नही भाव की भी आन्तरिक अनुपम मनोहारिता भी है। इसमे साहित्य के दोनो गुण वर्तमान है।

पहले ही कहा जा चुका है कि सस्कृत आचार्यों के अनुसार इस प्रकार की मिश्र भाषा-युक्त, गद्य-पद्य-युक्त रचना को चम्पू काव्य कहते हैं। ऐसे काव्यो में वर्णन और भावोन्मेष का भी मिश्रण रहता है। आधुनिक काल के गद्य काव्य की विशेषताएँ भी उसमें वर्तमान रहती हैं। गद्य-काव्य में केवल एक भावना अथवा भाव की अभिव्यक्ति होती है। हरिऔध जी के इस 'पगली

का पत्र' मे भी केवल एक भाव की ही प्रधानता है। इसमें केवल कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम का प्रदर्शन मात्र किया गया है।

हरिऔध जी ने पद्य की भॉति बिभिन्न प्रकार के विभिन्न शैलियो का गद्य भी लिखा है। कही कही अवसर के अनुसार भाषा मचलती हुई चलती है। साथ मे अनेक मुहावरो को लपेटती हुई कमनीय भावो की अभिव्यक्ति मे समर्थ होती है। यदि बोल-चाल आदि के चौपदो द्वारा उन्होने काव्य मे मुहावरो का उपयोग किया है तो उन्होने ऐसे निबध भी लिखे हैं जिन मे मुहावरो की छटा अवलोकनीय है। एक उदाहरण देखिये —

"हम आसमान के तारे तोडना चाहते है। मगर काम ऑख के तारे भी नही देते। हम पर लगाकर उडना चाहते है, मगर उठाने से पॉव भी नहीं उठते। हम पालसी पर पालिश करके उसके रग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालसी हमारे बने हुए रग को भी बदरग कर देती है। हम राग अलापते है मेल-जोल का, पर न जाने कहॉ का खटराग पेट मे भरा पडा है। हम जाति-जाति को मिलाने चलते है, मगर ताब अछूतो से ऑख मिलाने की भी नहीं। हम जाति-हित की तानें सुनाने के लिए सामने आते है, मगर ताने दे-दे कलेजा छलनी बना देते है।"

उपर्युक्त उद्धरण हरिऔध जी की चलती भाषा का एक उदाहरण है। उपर्युक्त उद्धरणो से हरिऔध जी का गद्य-क्षेत्र मे कर्तृत्व स्पष्ट हो जाता है। यदि हरिऔध जी की अमर कीर्ति उनके काव्यो के कारण है तो उनके गद्य-साहित्य ने उन्हे हिन्दी-भाषा की विभिन्न शैलियो के जनक के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

—०—

षष्ठ खण्ड

(आदर्श, खड़ी बोली का प्रबंध काव्य)

****

राम काव्य की परम्परा और 'वैदेही-वनवास'

उत्तरी भारत में राम-भक्ति के प्रचार का एक मात्र श्रेय स्वामी रामानन्द जी को है। यद्यपि रामानन्द जी के पूर्व अनेक वैष्णव भक्तो का नाम सुना जाता है तथापि राम-भक्ति के प्रवर्तक आचार्य रामानन्द जी ही थे। रामानन्द जो की यह विशेषता थी कि उन्होने सस्कृत भाषा के साथ ही जनता की भाषा मे वैष्णव-धर्म का प्रचार किया। राम-भक्ति के प्रचारक कबीर भी थे, परतु राम-भक्ति का पूर्ण रूप तुलसीदास जी के काव्यो मे ही निखरा। इन भक्त कवियो के पूर्व भारत मे राम-काव्य की परम्परा प्रचलित थी।

आदि कवि वाल्मीकि की रामायण में हमे सर्व प्रथम राम का वर्णन मिलता है। इस आदि कवि ने राम का गुण-गान ऐतिहासिको के अनुसार ईसा से छ या चार सौ वर्ष पूर्व प्रारभ किया।[१] कहा जाता है कि वाल्मीकि की रामायण मे पर्याप्त प्रक्षिप्त अश है। कुछ लोगो के मतानुसार रामायण का प्रथम और सप्तम खड प्रक्षिप्त है तथा द्वितीय से लेकर षष्ठ खड तक प्रामाणिक है। इस प्रामाणिक अश मे भी कहीं कहा प्रक्षिप्त अश घुसेड़े गये है परतु उनका अधिक अश प्रामाणिक ही है। वाल्मीकि-रामायण की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह लौकिक है। वाल्मीकि ने उसमें लौकिक दृष्टि-कोण को महत्व दिया है। इस

---

1 An outline of The Religious Literature of India, Page 47, J N Farquher

दृष्टि-कोण के फलस्वरूप हमे धर्म के सरल और स्वाभाविक रूप का परिचय प्राप्त होता है। यत धार्मिक भावना के वशीभूत होकर ग्रथ नही लिखा गया है अत उसमे अध विश्वासो और भावोन्मेष का अभाव है। वाल्मीकि रामायण के सबध में हम कह सकते है कि उसने एक लौकिक धर्म की स्थापना का यत्न किया। इस रामायण मे राम प्रारभ से अत तक मनुष्य रूप मे चित्रित किये गये है। उनमें ईश्वरीय और अलौकिक शक्तियो का सन्निवेश नही किया गया है। उन्हे हम एक महापुरुष कह सकते हैं, देवता नही।

ईसा के दो सो वर्ष पूर्व राम की अवतार के रूप में प्रतिष्ठा होने लगती है। मौर्य वश की समाप्ति के उपरान्त सुग वश का राज्य प्रारभ हो गया था। बौद्ध धर्म का भी विकास हो रहा था। इसी समय बुद्ध में ईश्वरीय गुणो की स्थापना की जाने लगी थी। धीरे धीरे उन्हे भगवान का पद प्राप्त हो रहा था। इस प्रकार बुद्ध को जब देवत्व प्राप्त हो रहा था तब राम को भी सभवत' देवत्व प्राप्त हो गया। इसी काल मे 'वायु पुराण' की रचना हुई और राम को विष्णु के अवतारो में स्थान प्राप्त हो गया। इस पुराण मे राम देवत्व के पद पर आसीन हो जाते हैं। वायु पुराण के रचना काल के सबध मे मत भेद है परतु यह सत्य है कि उस पर बौद्ध-विचारो का अवश्य प्रभाव पडा था।

वाल्मीकि रामायण के प्रक्षिप्त अशो में सृष्टि के तीन प्रधान नियामक और सहारक ब्रह्मा, विष्णु, महेश को देवत्व का समान आदर प्राप्त है, और राम को विष्णु का अशत अवतार माना गया है। विष्णु में इन्द्र के अनेक गुणो का आरोप कर दिया गया और वे अब अपनी शक्ति का प्रसार कर रहे है। राम के

रूप में विष्णु की पूजा का क्षेत्र विस्तृत हुआ। देव-पूजा के साथ ही वीर-पूजा की भावना भी जागरित हुई। ईसा के दो सौ वर्ष बाद मानव-धर्म शास्त्र मे विष्णु के अवतारो का विश्लेषण हुआ। उसके अनुसार विष्णु के छ अवतारो की कल्पना की गयी—वाराह, नृसिह, वामन, मत्स्य, राम और कृष्ण। मानव-धर्मशास्त्रानुसार विष्णु स्रष्टा के रूप मे चतुर्व्यूहियो का रूप धारण करते है। मानव धर्म-शास्त्र के नारायणीय भाग मे विष्णु के छ अवतारो की सख्या दश हो गयी और नारायणीय के बाद सहिता में तो शक्ति का भी आरोप विष्णु मे हो गया। इस शक्ति ने, राम की भक्ति क्षेत्र मे, सीता का रूप धारण किया। वास्तविक स्थिति यह है कि राम के पूर्ण रूप का विकास गुप्त काल मे हुआ। ईसा की छठवा शती के बाद 'राम पूर्व तापनीय' और 'राम उतर तापनीय' उपनिषदा मे राम की भक्ति का विकास हुआ और राम का ईश्वर का, ब्रह्म का अवतार मान लिया गया। राम जिस ब्रह्म के अवतार है उसका नाम है विष्णु। राम के रूप का इसी प्रकार क्रमश विकास होता रहा और 'अध्यात्म रामायण' में राम देवत्व के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गये। उनकी महिमा का विपद वर्णन ग्यारहवी शती के भागवत पुराण द्वारा प्रचारित हुआ। इस प्रकार हम कह सकते है कि राम के रूप का क्रमश विकास ग्यारहवी शती तक होता रहा। इसी समय राम की भक्ति ने सम्प्रदाय का रूप धारण किया।[१]

The cult of Rama, therefore, must have come into existence about the eleventh Century

Vaisnavism, Saivism and minor Religious Systems Page 47 Sri Bhandarkar

स्वामी रामानन्द जी ने चौदहवी शती के पूर्वार्द्ध मे इसी राम-मत का उत्तर भारत मे प्रचार किया। उनकी सब से बडी विशेषता यह थी कि उन्होने जाति-पॉति के बधनो को महत्व न दिया और ऊँच-नीच सब मे अपने मत का समान भाव से प्रचार किया। सर्वसाधारण उनकी राम-भक्ति मे डूब गये। इस राम-भक्ति का प्रचार उन्होने दास्य भाव से किया। गोस्वामी तुलसी-दास जी ने भी उसी भाव का अनुगमन किया। तुलसीदास जी ने राम-भक्ति को भारतीय-जन-जीवन का एक अग बना दिया।

तुलसीदास जी के उपरान्त केशवदास जी ने राम काव्य की परम्परा की दूसरी कडी 'राम चन्द्रिका' लिख कर निर्मित की। केशवदास जी ने 'राम चन्द्रिका' मे भक्ति के आदर्श की स्थापना का यत्न नही किया हे। वे कवि और आचार्य के सम्बद्ध व्यक्तित्व से युक्त थे। भक्ति के सबध मे न तो उनका कोई सिद्धान्त ही है और न उन्होने इस दृष्टिकोण से पुस्तक की रचना ही की थी। उनकी इस पुस्तक का निर्माण अपने आचार्यत्व-प्रदर्शन के लिए हुआ था। केशवदास जी के बाद तो राम काव्य से सम्बद्ध कवियो की एक शृखला निर्मित की जा सकती है। उनमे श्री नाभादास, प्राणचन्द चोहान, हृदयराम, बलदास, लालदास, बाल भक्ति, रामप्रिया शरण, जानकी रसिक शरण आदि उल्लेख्य हैं। रीवॉ-नरेश महाराज विश्वनाथसिह (सवत् १७९०) ने भी राम-काव्य की परम्परा को आगे बढ़ाने में योग दिया।

तुलसी की भक्ति भावना का सूत्रपात इस बीसवी शती मे बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त के 'साकेत', श्री बलदेवप्रसाद मिश्र के 'कोशल किशोर' और जोतिसी के 'राम चन्द्रोदय' में हुआ। श्री गुप्त जो ने राम को विश्व-व्यापी रूप प्रदान किया और उनकी

ईश्वर के रूप में उपासना की। प्रारभ में ही वे कहते हैं —

राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?
बिश्व में रमें हुए नहीं सभी कही हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुम मे रमा करे।

हरिऔध जी का 'वैदेही-वनवास' ग्रथ वाल्मीकि की परम्परा की दूसरी कडी कहा जा सकता है। 'वैदेही वनवास' हिन्दू-जनता के प्राण प्रिय आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र और जगज्जननी जानकी की कहानी है। यह कहानी राज्यारोहण के उपरान्त प्रारभ होती है। यहाँ सीता-राम अवतार के रूप में वर्णित नही हुए हैं। काव्य में अलौकिक घटनाओ का कही वर्णन नही मिलता। कवि ने प्रारभ से अन्त तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही महत्व दिया है। हरिऔध जी ने 'वैदेही-वनवास' की भूमिका मे स्वत अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है —

'सामयिकता पर दृष्टि रखकर इस ग्रथ की रचना हुई है, अतएव इसे बोधगम्य और बुद्धि-सगत बनाने की चेष्टा की गयी है। इसमें असभव घटनाओ और व्यापारों का वर्णन नही मिलेगा।'

हरिऔध जी ने इन शब्दो में अपने विचार का स्पष्टीकरण तो किया परतु सीता और राम के चरित्र में धार्मिक सस्कारो के प्रभाव के कारण कही कही ईश्वरत्व की झलक आ ही गयी है। 'वैदेही-वनवास' की रचना क्यो हुई, उसकी कल्पना हरिऔध जी के मस्तिष्क में क्यो उठी इन बातो पर हम विस्तार के साथ आगे विचार करेंगे।

****

'वैदेही-वनवास' की रचना के समय देश-काल की स्थिति

'वैदेही वनवास' की रचना का अपना इतिहास है। हरिऔध जी सरकारी नौकरी में थे। अग्रेज कलक्टरो का उन्हे बराबर सामना करना पडता था। वे अग्रेज कलक्टर हरिऔध जी को बडे सम्मान की दृष्टि से तो देखते ही थे साथ ही वे उन्हे हिन्दू-धर्म और सस्कृति का अच्छा पडित भी समझते थे। समय समय पर अवकाश के क्षणो मे वे इनसे विचार-विनिमय भी करते थे। एक अग्रेज कलक्टर ने विचार-विनिमय करते समय हरिऔध जी से कुछ विचित्र प्रश्न किये। वे प्रश्न ऐसे थे कि उनका उत्तर देना तो सरल था परतु तर्क से सिद्ध कर सकना असभव था। उस अग्रेज कलक्टर ने प्रसगवश हरिऔध जी से कहा—'आप लोग रामचद्र जी को ईश्वर का अवतार कहते है, उनकी पूजा करते हैं, उन्हे मर्यादा पुरुषोत्तम कहते है, परतु मैं तो उन्हे साधारण मनुष्य भी कहने में हिचकता हूँ। क्या कोई ऐसा भी महापुरुष होगा जो अपनी गर्भवती स्त्री को निरपराध होने पर भी जगल में निर्वासित कर दे और उसे उसकी सूचना तक न दे। क्या कोई ईश्वर इस प्रकार का अन्याय कर सकता है ? यदि आप यह कहे

कि लोकाराधन के लिए, अपनी प्रजाको सतुष्ट रखने के लिए उन्होने धोबी के कहने से सीता को निर्वासित कर दिया तो मैं यह कहूँगा कि क्या वे धोबी को अपने आचरण और व्यवहार द्वारा सद्‌बुद्धि प्रदान नही कर सकते थे ? साधारण से साधारण व्यक्ति भी मानवता के नाते अपनी गर्भवती पत्नी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता, फिर एक ईश्वर के अवतार ने ऐसा व्यवहार किया यह हमारी समझ मे नही आता। आप इस प्रकार के आचरणो से युक्त मनुष्य को ईश्वर की सज्ञा कैसे प्रदान करते है ?'

हरिओध जी ने अनेक दलीले देकर उन्हे सतुष्ट करने का यत्न किया परतु वास्तविक स्थिति यह थी कि हरिओध जी के पास इस प्रकार के प्रश्नो का कोई उत्तर न था। उनके मन मे एक टीस उत्पन्न हुई। राम के आदर्श चरित्र के विरुद्ध निर्वासन की घटना को वे एक लाछन समझने लगे। उनके मन मे इस लाछन को धो देने की उत्कट इच्छा बनी रही, परतु वे साहित्य क्षेत्र मे अन्य प्रयोगो मे लग गये, अत राम के प्रति इस लाछन को दूर करने का वे यत्न न कर सके। जब वे 'वैदेही-वनवास' की रचना मे प्रवृत्त हुए तब देश की सामाजिक, राजनीतिक स्थिति मे बडी उथल-पुथल मची हुई थी। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से उस उथल-पुथल का उन पर व्यक्तिगत रूप से कोई प्रभाव न पडा परतु अप्रत्यक्ष रूप से युग का प्रतिबिम्ब तो उनके विचारो मे उद्भासित हो ही उठा।

हरिऔध जी ने 'वैदेही-वनवास' की रचना १८ दिसम्बर सन् १९३७ मे प्रारभ की और १४ जनवरी सन १९३९ में उनका यह काव्य समाप्त हुआ। भारतवर्ष के इतिहास मे यह काल एक अभूत-

पूर्व क्राति का युग था। महात्मा-गाधी का अहिसात्मक आन्दोलन तीव्र गति से आगे बढ रहा था। महात्मा गाधी के व्यक्तित्व का प्रभाव धीरे-धीरे समस्त ससार पर व्याप्त हो रहा था। भारत तो उनके व्यक्तित्व की पूजा कर ही रहा था। गाधी जी का अहिसा-वाद धर्म के सार्वभौमिक सिद्धान्तो पर आधारित अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त है। अहिसावाद, व्यक्ति को तो महत्व देता ही है, लेकिन व्यक्ति के विकास के साथ समष्टि का विकास ही उसका निश्चित उद्देश्य है। गाधी जी के असहयोग आन्दोलन के दो अस्त्र थे—अहिंसा और सत्य। इन दो अस्त्रो का शान्ति-पूर्ण रीति से प्रयोग कर गाधी जी भारत मे क्रान्ति उत्पन्न करने पर तुले थे। वे अपने प्रतिद्वन्द्वी को इन्ही अस्त्रो से मैदान में पछाडने के लिए कटिबद्ध थे। इस प्रकार के अहिसात्मक युद्ध मे हिसात्मक युद्ध का सा न तो चीत्कार था और न कोलाहल ही। बडे ही शान्त भाव से विपक्षी तथा उसके हृदय पर विजय प्राप्त करने के यत्न चल रहे थे। गाधीवाद का आज भले ही सकीर्ण रूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा हो परतु गाधीवादी विचार-धारा तो विश्व-प्रेम पर आधारित है। विश्व के समस्त मानव को जाति-वर्ण मे विभक्त न समझना गाधीवादी विचार-धारा की महानतम देन है। मानव-प्रेम के द्वारा विश्व का कल्याण ही गाधी जी के अहिसावाद का चरम लक्ष्य है। लोक-कल्याण के लिए अपना जीवन अर्पण करने वाले महात्मा गाधी के सम्मुख अनेक विपत्तियाँ आयी, उनको अपने सुखो का बलिदान करना पडा, परतु वे अपने मार्ग से विचलित नही हुए। गाधीवादी विचारधारा के अनुसार वही व्यक्ति गाधीवाद के मानदण्ड पर खरा उतरेगा जो अपने दु:ख-सुख की चिता किये

बिना लोक-कल्याण मे निरतर निरत रहता है। वह अन्याय और अन्यायी का दमन हिसा से करने को उद्यत नही होता। अपने प्रतिद्वन्द्वी को अहिसा, प्रेम और सत्य से जीतता है। गाधी जी के गांधीवाद का मूर्त रूप उनके व्यक्तित्व मे ही विकसित हुआ और सभवत उन्ही के व्यक्तित्व के साथ विलुप्त भी हो गया। गाधी जी ने अपने इस अहिसावाद के द्वारा ही भारत को बधन-मुक्त किया और उन्ही की विचारधारा का आशिक रूप मे ही पालन कर आज भारत स्वतन्त्रता प्राप्त कर उन्नति के मार्ग पर चल रहा है।

हरिऔध जी कोमल वृत्ति के व्यक्ति थे। उन्हे हिसा, कलह, राग-द्वेष प्रिय न था। गाधी जी के अहिसावाद का उनके हृदय पर भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पडा। यही कारण है कि 'वैदेही-वनवास' पर गाधीवादी विचारधारा का प्रत्यक्ष प्रभाव दीख पडता है। 'वैदेही-वनवास' का प्रणयन करते समय तक हरिऔध जी की वृत्तियाॅ अत्यत सयमित ही नही हो चुकी थी वरन् उनमें अत्यधिक प्रौढता भी आ चुकी थी। उन्होंने अपनी रचनाओ की भिन्न-भिन्न प्रकार की आलोचनाओ का भी गभीरता-पूर्वक अध्ययन कर लिया था अत वे इस प्रकार की रचना लेकर सम्मुख आना चाहते थे जो यथासभव भाव, भाषा और विचारो की दृष्टि से पूर्णत निर्दोष हो। अनेक प्रकार के प्रयोग करते करते हरिऔध जी की लेखनी का पूर्ण विकास भी हो चुका था। मानव-जीवन के अनेक चित्रो का अध्ययन वे कर चुके थे अतः 'वैदेही-वनवास' में राम और सीता के पूर्ण मानव-चित्र को अकित करने मे वे सफलीभूत हुए।

'वैदेही वनवास' के राम मर्यादा पुरुषोत्तम के साथ ही एक

कुशल शासक और प्रजा-पालक सम्राट भी हैं। वे जन-हित को अपने जीवन का परम लक्ष्य समझते है। जन-कल्याण के लिए वे अपने सब सुखों का परित्याग करने को प्रस्तुत है। इसी कल्याण की भावना से वे अपनी प्रियतमा वैदेही को भी अपने से पृथक् करने को तैयार हैं। केवल जनता की भावना का अनादर न हो इस बात के लिए वे अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का त्याग करने के लिए उद्यत हैं। राम सम्राट थे। उनके हाथ मे शक्ति थी। वे चाहते तो एक क्षण मे जनता का मुँह बद किया जा सकता था परतु वे तो साम नीति में विश्वास रखते थे। लोकापवाद का शमन वे हिसा से नही करना चाहते। मत्रणा-गृह मे जिस समय राम ने अपने भाइयो को लोकापवाद की सारी कथा सुनायी उस समय सौमित्र का खून खौल उठा आर वे दर्प के साथ बोल उठे —

सँभल कर वे मुँह को खोलें।
राज्य मे है जिनको बसना।
चाहता है यह मेरा जी।
रजक की खिंचवालॅं रसना।

परतु इस प्रकार की बाते सुनने पर भी राम प्रशात महासागर के समान ही गुह-गभीर बने बैठे रहे क्योकि वे 'अहिसा परमो धर्म' में विश्वास करने वाले थे। उन्हे दमन की नीति भला कैसे प्यारी हो सकती है.—

दमन है मुझे कदापि न इष्ट।
क्योकि वह है भय - मूलक - नीति।
चाह है लाभ करूॅ, कर त्याग।
प्रजा की सच्ची प्रीति - प्रतीति।

राम लोकाराधन के मार्ग में आने वाली किसी भी बाधा

को दूर करने के लिए कटिबद्ध है। वे उसके लिए महान त्याग करने को प्रस्तुत हैं —

पठन कर लोकाराधन - मत्र।
करूँगा मै इसका प्रतिकार।
साध कर जन - हित साधन-सूत्र।
करूँगा घर घर शाति-प्रसार।

राम को साम नीति प्यारी है। वे हिंसा को, दण्ड को, भेद को पास नही फटकने देना चाहते। वे तो अपने साम्राज्य में शाति का स्थायी राज्य चाहते हैं —

इसी से साम नीति ही को।
बुधों से प्रथम स्थान मिला।
यही है वह उद्यान जहाँ।
लोक आराधन कुसुम खिला।

इसी साम नीति पर गाधीवाद भी आधारित है। अहिसात्मक क्राति का यही मूल मत्र है। राम के समान ही गांधी जी भी साम नीति को महत्व देते थे और यही कारण था कि उनका राम-राज्य में विश्वास था। एक गांधीवादी भी इसी प्रकार लोक-कल्याण की भावना लेकर समाज में प्रविष्ट होता है। आचार्य विनोबा भावे इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। किन्तु एक बात पर विचार कर लेना आवश्यक है। राम की साम नीति, राम का लोक-रजन-भाव तब तक सफल नही हो सकता था जब तक कि सीता भी उसी विचार की न होतीं। यदि वैदेही के विचार साम नीति के प्रतिकूल होते तो राम का कार्यक्रम असफल हो जाता। परतु हरिऔध की जनकजा राम के रग में ही रँगी हुई सहचरी हैं। वे भी उनके भावो से प्रेरणा प्राप्त करती हैं। वे भी राम के

पर विजय प्राप्त करना एक आदर्श नीति है इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ! गाधी जी ने अपने जीवन के उदाहरण से यह सिद्ध भी कर दिया, परतु उसका साधारण जीवन मे भी उसी प्रकार विकास हो सकता है इसमें सदेह है। मनुष्य भावना-मिश्रित प्राणी है, जहाँ उसमे दया, सहानुभूति, प्रेम, उपकार आदि की भावनाएँ है वही उसमे घृणा, क्रोध, ईर्ष्या आदि की भावनाएँ भी सदा वर्तमान रहती हैं। यदि समाज के लिए सहानुभूति आदि की आवश्यकता है तो सामाजिक जीवन-क्षेत्र मे क्रोध आदि का भी महत्व है इसे स्वीकार करना ही पडेगा। यह अवश्य कहा जा सकता है कि क्रोधादि भावनाओ का जहां तक सभव हो कम से कम उपयोग किया जाना चाहिये। दया आदि भावना का विकास उभय पक्षो पर आश्रित है। यदि हम दया दिखलाते रहे और एक आततायी समाज के लोगो को यातना देता रहे और उसकी भावना मे परिवर्तन न हो तो दया अधिक दिनो तक कहाँ टिक सकती है ! अत्याचार-ग्रस्त लोगो का तो जीवन ही दूभर हो जायगा। दूसरी बात यह है कि ऐसे लोगो पर अत्यधिक दयावान होने का परिणाम यह होता है कि उनका औद्धत्य और भी अधिक बढ जाता है, क्योकि वे यह समझने लगते है कि उनके साथ कठोरता का व्यवहार न होगा।

हरिऔध जी एक सीमा तक गाधीवादी विचार-धारा से प्रभावित हुए है। वे दुष्टो का दमन और दीनो की रक्षा में विश्वास रखते थे। यदि दुष्टो के दमन के लिए हिसा की आवश्यकता हो तो उसके उपयोग का वे समर्थन करते है। समाज का आधार अहिसा, सत्य, सहानुभूति और सौहार्द्र होना चाहिये, परतु इनका उपयोग दुष्टो के लिए नही किया जा सकता

और न इस प्रकार के प्रयोग दुर्वृत्तियो पर तत्काल विजय ही प्राप्त कर सकते हैं। यदि तत्काल दुष्टो का दमन न किया जाय तो उस समय तक तो समाज अथवा व्यक्ति उत्पीडित होता रहेगा जब तक कि आततायी का हृदय न परिवर्तित हो जाय। जहाँ तक राम के वैयक्तिक जीवन की समस्याएँ हैं वे साम नीति को प्रश्रय देते हैं। वे यह नहीं चाहते कि लोकापवाद की बात हिसा से अथवा दण्ड नीति से शात की जाय। इसके लिए वे साम नीति का, अहिसा का उपयोग करते है, परतु जब किसी अत्याचारी द्वारा समाज का उत्पीडन होता है तब वे दमन नीति का सहारा लेते है। लवणासुर के अत्याचारो से प्रताडित, पीडित और त्रस्त जनता के रक्षार्थ वे दण्ड का उपयोग करने के लिए भी तैयार हैं :—

दमन या दण्ड नीति मुझको।
कभी भी रही नहीं प्यारी।
न यद्यपि छोड़ सका उनको।
रहे जो इनके अधिकारी।

उपर्युक्त पक्तियाँ राम के हृदय की भावना को स्पष्ट व्यक्त कर रही है। वे स्पष्ट रूप से कहते है कि मुझे दण्ड नीति नही प्यारी है, परतु विवशता के कारण, अत्याचारो के शमन के लिए मैं इस नीति को छोड़ भी न सका। दूसरी बात यह है कि यदि राम दुष्टों का दमन न करते, प्रताडित जनता की, अत्याचारो से रक्षा न करते तो उनका लोकाराधन कैसे सफल होता ! यदि समाज में उत्पीडन है, यदि समाज के लोग दुष्टो के कारण दुखी रहते हैं तो लोक का कल्याण कैसे सभव हो सकता है ! लोक-कल्याण की स्थापना तो तब हो सकती है जब दुष्टो का मूलोच्छेद कर

समाज में सुख-शाति का प्रसार किया जाय। जब तक राज्य में सुख-शाति नही व्याप्त होती तब तक राजा का शासन सफल नहीं कहा जा सकता है —

रहेगी कैसे भव में शाति।
क्रूरता किया करें जो क्रूर।
तो हुआ लोकाराधन कहाँ।
लोक-कटक जो हुए न दूर।

हरिऔध जी का दृढ विश्वास था कि लोक-कल्याण के लिए, लोकाराधन के लिए और समाज के कटको को दूर करने के लिए दण्ड नीति की सदा आवश्यकता बनी रहेगी। जब तक इसका उपयोग नही होगा राज्य-शासन को सफलता नही प्राप्त हो सकती —

है क्षमा योग्य न अत्याचार।
उचित है दण्डनीय का दण्ड।
निवारण करना है कर्तव्य।
किसी पाखडी का पाखड।

दुष्ट की दुष्टता की उपेक्षा, उसे बढावा देती है। शठ का जब शठता के साथ दमन होता है तब वह उचित मार्ग पर आता है। यदि उनका दमन न किया जायगा तो रक्त-बीज के समान उनके वश की वृद्धि होगी। अत. दुष्टो की सख्या न बढ़े और प्रारभ मे ही शाति हो जाय इस लिए दुष्टो को तत्काल दण्ड देकर वश में कर लेना चाहिये। यही राजनीति है। शत्रुघ्न भी यही विचार व्यक्त करते हैं —

कठिनता है यह दुर्जनता।
मृदुलता से बढ़ जाती है।
शिष्टता से नीचाशयता।
बनी दुर्दान्त दिखाती है।

परतु दड नीति का उपयोग भी खूब समझ-बूझ कर होना चाहिये। ऑख मूँद कर दमन का उपयोग करने से गेहूँ के साथ घुन के भी पिस जाने की आशका रहती है। व्यर्थ का रक्त पात होता है, अत दण्ड का उपयोग इस प्रकार होना चाहिये कि केवल दण्ड के पात्रो को ही दण्ड मिले। राम स्पष्ट रूप से कहते है कि दण्ड केवल लवणासुर को ही दिया जाना चाहिये, अन्य दमन के शिकार न हो —

केवल उसका ही वध हो।
कुछ ऐसा कौशल करना।
लोहा दानव से लेना।
भू को न लहू से भरना।

दण्ड नीति का प्रतिपादन करते समय भी हरिऔध जी पर सदा साम नीति की छाया वर्तमान रही है। वे आशिक रूप से ही उसका समर्थन करते है। साथ ही राजनीति का यह सिद्धान्त है कि यदि अधिक लाभ के लिए थोडी हानि होती हो तो उसे भी सहन करना चाहिये। इस प्रकार का व्यवहार अनुचित नही —

जहाँ लाभप्रद अश अधिक पाया जाता है।
थोड़ी क्षति का ध्यान वहाँ कब हो पाता है।
जहाँ देश का प्रश्न सामने आ जाता है।
लाखो शिर अर्पित हो कटता दिखलाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि युग की तथा युग-धर्म की प्रतिच्छाया हरिऔध जी पर अवश्य पडी है परतु उसने उनके व्यक्तित्व को, उनकी अपनी स्पष्ट विचारधारा को आच्छन्न नही कर लिया है। उनकी स्वतत्र विचारधारा का स्रोत अबाध गति से प्रवाहित होता रहा है।

****

'वैदेही-वनवास' का इतिवृत्त

परम्परा से चली आती मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र और जगज्जननी जानकी की कथा ही 'वैदेही-वनवास' की कहानी है। रामचन्द्र के राज्यारोहण के पश्चात यह कथा प्रारभ होती है। राम और जानकी को युगो से हिन्दू-जनता अवतार के रूप में पूजती आ रही है। इनके प्रति हिन्दू भावना अकथनीय है। किन्तु 'प्रियप्रवास' के समान ही 'वैदेही-वनवास' में राम और जानकी हमारे सम्मुख महापुरुष और महती विदुषी नारी के रूप मे आती है। राम की अलौकिकता का अनेक प्रकार से विभिन्न ग्रथो मे वर्णन किया गया है परतु इस ग्रथ मे राम का अलौकिकता से कोई सबध नही। हरिऔध जी ने इस ग्रथ की रचना उस समय की जिस समय वैज्ञानिक युग का पूर्ण प्रभाव हो चुका था और सब बातें बुद्धि की तुला पर तौली जाने लगी थी। हरिऔध जी ने किसी ऐसी घटना का वर्णन करना आवश्यक नही समझा जो बोधगम्य नही हो सकती। हरिऔध जी का अवतारो के सबध में क्या विचार है इसका भी हमें ज्ञान हो चुका है। हरिऔध जी

लौकिकता को अधिक महत्व देते थे, लोक-कल्याण-व्रती थे अत उन्होने राम के लौकिक रूप द्वारा लोक-कल्याण की भावना का प्रतिपादन कराया है।

'वैदेही-वनवास' मे राम जानकी की कथा १८ सर्गों में विभक्त है। सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक सर्ग का कथानक यहाँ सक्षेप में दिया जा रहा है।

प्रथम सर्गः—लोक-रजनी उषा ससार और प्रकृति के रजन में रत थी। शीतल मद वायु चल रही थी। अयोध्या-नगरी सजी-सजाई खडी है। भवनो पर केतु-पट लहरा रहे है। प्रासादो पर लगे स्वर्ण-कलश प्रकाशित हो रहे है। ऐसे मनोरम समय मे रामचन्द्र, गर्भवती वैदेही के साथ एक उपवन मे बैठकर प्रकृति की मनोहर छटा का अवलोकन कर रहे है। एकाएक वैदेही के मन में यह भावना उठती है कि क्या ही अच्छा होता ससार मे सुख का ही साम्राज्य होता और दु ख अपना वदन कही न दिखलाता। रामचद्र जी वैदेही का मन बहलाने के लिए उनका ध्यान फेर कर लोक-हित की चर्चा चलाते है। वे प्रकृति द्वारा लोक कल्याण की शिक्षा देते हुए कहते हैं कि प्रकृति की जो वस्तुएँ हमे विनाशकारी दीख पडती है वस्तुत वे विनाशकारी नही हैं, उनके मूल में भी हित की, कल्याण की, भावना निहित है। वे भी अन्तत' हितकारी ही होती है।

द्वितीय सर्गः—राम अपने प्रासाद के चित्रशाला में घूम-घूम कर चित्रों का अवलोकन कर रहे हैं। इसी समय दुर्मुख नामक चर उनके सम्मुख उपस्थित होता है और धोबी द्वारा जन-पद में फैलाये गये अपवाद की सूचना देता है। वह कहता है—

'एक रजक अपनी पत्नी को घर मे जाने से वर्जित करते हुए कह रहा था कि तू मुझे राम मत समझ, जिन्होने लका में रावण के यहाँ रही अपनी पत्नी को स्वीकार कर लिया। मैं ऐसा कदापि नही कर सकता। राम का यह कार्य अनुचित था।' दुर्मुख की बातें सुनकर राम का चित्त चिन्तित हो जाता है। वे अत्यत व्यथित हो जाते है। सहसा उनकी दृष्टि एक चित्र पर पडती है। यह चित्र वैदेही की अग्नि-परीक्षा का था। चित्र को देखते ही पुरानी स्मृतियाँ जागरित हो आई। वे उधेडबुन मे लग जाते है। वे कहते है कि मै पूर्ण निष्ठा के साथ सारी शक्ति लगाकर जनता की सेवा करता हूँ। सम्पूर्ण राज्य मे सुख-शाति का साम्राज्य है। फिर इस प्रकार का लोकापवाद कैसे उत्पन्न हुआ?

तृतीय सर्ग.—मत्रणा-गृह मे अपने तीनो भाइयो के साथ राम बैठकर लोकापवाद की घटना पर विचार-विनिमय कर रहे है। राम की आज्ञा होने पर सर्व प्रथम भरत अपने विचार व्यक्त करते है। वे कहते है—'गधर्व देश मे गधर्वों ने अत्याचारो की पराकाष्ठा कर दी थी इस लिए उनके दमन के लिए केकयाधिप ने उन पर आक्रमण की आज्ञा दी। युद्ध प्रारभ हुआ। युद्ध का सचालक मै ही था। इस लिए यह सभव है कि वे गधर्व इस प्रकार के मिथ्या प्रचारो द्वारा समाज मे अशाति और द्वेष की भावना प्रसारित करना चाहते हो।' भरत ने कहा—'दुष्टो का दमन अपेक्षित है। उन्हे छोडना ठीक न होगा।'

भरत की बाते सुनते ही सोमित्र क्रोध से लाल हो उठते है और दुष्टो के नाश के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। भाई को क्रोधित देखकर रिपुसूदन ने कहा—'मथुरा-प्रदेश मे लवणासुर का आतक छाया हुआ है। वह अनेक षड्यन्त्र कर रहा है। रावण के वध

का मूल कारण वह वैदेही को ही समझता है। उसका ऐसा विचार है कि जानकी जी ही आपको असुरों का विनाश करने के लिए उत्तेजित करती रहती है। इस लिए वैदेही पर कीचड उछालने मे उसका भी हाथ होगा। उस दुष्ट को इस प्रकार की दुष्टता के लिए अवश्य दण्ड दिया जाना चाहिये।' राम ने अत्यत शात चित्त से सब भाइयों का परामर्श सुना, उसके बाद उन्होने कहा—'मेरी दमन नीति मे आस्था नहीं है। मै इसे अच्छा नही मानता। मेरा ध्येय तो साम नीति के द्वारा शाति स्थापना करना है, अत इस प्रकार के लोकापवाद को शात करने के लिए मै वैदेही को स्थानान्तरित कर देना चाहता हूँ।'

चतुर्थ सर्गः—अवध पुरी के निकट स्थित मुनि वशिष्ठ के पुनीत आश्रम और प्रकृति का मनोहारी चित्रण है। आश्रम में चारो ओर शान्ति का साम्राज्य फैला हुआ है। राम मुनि के आश्रम मे पहुँचते है और उन्हे सारी कथा तथा अपना विचार कह सुनाते है। राम इस सबध मे वशिष्ठ का परामर्श लेने के लिए ही आये है। वशिष्ठ ने राम से कहा कि इस समय वैदेही को महर्षि वाल्मीकि के आश्रम मे भेज देना ही अधिक कल्याण-कर होगा।

पचम सर्गः— राका रजनी का मनोहारी रूप मन को मुग्ध कर रहा है। पूर्णमासी का पूर्ण चद्र अपनी सोलहो कला से धरती को प्रकाशित कर रहा है। वैदेही अपनी अट्टालिका पर चन्द्रिका की अनुपम छटा का अवलोकन कर रही हैं। अचानक बादल पूर्ण चन्द्र को ग्रसित कर लेते है। चन्द्रिका धूमिल हो जाती है। इसी समय रामचद्र अन्त पुर में प्रवेश करते हैं और लोकापवाद

के कारण वाल्मीकि-आश्रम में उन्हें भेजने का प्रस्ताव रखते हैं। अपने प्रस्ताव के समर्थन में राम ने यह भी कहा कि प्राचीन काल से यह परम्परा चली आ रही है कि चक्रवर्ती सम्राटो की पत्नियाँ गर्भावस्था मे मुनि-आश्रमो मे रहती आयी हैं। यह एक सुन्दर प्रथा है, अत हम इस प्रथा के अनुसार कार्य कर सकते हैं। वैदेही अपने प्रियतम के सुख में ही सुख माननेवाली धर्म पत्नी है। उन्होंने राम के प्रस्ताव को तत्काल स्वीकार कर लिया।

षष्ठ सर्गः—प्रात -काल का समय है। रजनी की मणि-मालाएँ छिन्न-भिन्न हो चुकी है। प्रात कालीन वायु मथर गति से चल रही है। यह सब होने पर भी प्राची दिशा विरहिता है। उसमे उत्साह नही दीख पडता। वैदेही वाल्मीकि-आश्रम में जाने के लिए अपनी सासा और बहिनो से मिलकर विदा होती है।

सप्तम सर्गः—सज्जिता अवध पुरी दिव्य सुन्दरी के समान लग रही है। सारा नगर दमक रहा है। नागरिक प्रसन्न है। गर्भवती सीता अच्छे सस्कारो की दृष्टि से मुनि-आश्रम मे जा रही है, यह उनके तथा जनता के लिए प्रसन्नता की बात है। वैदेही, लक्ष्मण के साथ रथ पर बैठ कर यात्रा के लिए प्रस्थान करती है। जनता विह्वल होकर नगर की सीमा तक उन्हे पहुँचाने आती है। अन्त मे लक्ष्मण के निवेदन करने पर नगर के नर-नारी लौट आते है। मार्ग का बडा ही सुन्दर वर्णन है। रथ आगे बढ़ता है।

अष्टम सर्गः—प्रात -काल का समय है। वाल्मीकि-आश्रम का सात्विक आकर्षण बरबस अपनी ओर ध्यान आकर्षित कर लेता है। आश्रम का पुनीत वातावरण अत्यंत आह्लादकारी है।

वैदेही, ऋषि के आश्रम मे प्रवेश करती हैं। महर्षि वाल्मीकि उनका स्वागत करने के लिए आगे आते हैं। फिर कहते है कि वैदेही जिन कारणो से मेरे आश्रम में पधारी है उन कारणो का ज्ञान मुझे वशिष्ठ जी के पत्र से हो गया है। वैदेही को आश्रम में ही एक सुन्दर स्थान प्रदान कर दिया जाता है।

नवम सर्ग:—सध्या का समय है। नीरवता छायी है। राम चिंतित अवस्था मे बैठे हुए सौमित्र के प्रत्यावर्तन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसी समय एक गायिका करुण कठ से गान गाती है। राम ने पूरा गान सुना। उनकी करुणा जाग ही उठी थी कि सामने लक्ष्मण खडे दीख पडे। लक्ष्मण ने उन्हे सारी बाते कह सुनायी और उन्होने राम से वैदेही की मुक्त कठ से प्रशसा की।

दशम सर्ग:—रात के समय वाल्मीकि-आश्रम स्थित देवालय के समक्ष बैठी हुई वैदेही शरच्चन्द्रिका का सुन्दर दृश्य देख रही है। चॉदनी की सात्विकता उन्हे मुग्ध कर रही है। वे कहती है कि प्रकृति की जितनी भी वस्तुएँ हैं वे कभी न कभी कष्टकारक हो जाती है परतु चन्द्रिका ही एक ऐसी वस्तु है जो कभी कष्टकारक नही होती। वह सदा सुख प्रदान करती है। चन्द्रिका के इस परोपकारी गुण का वे अनुगमन करना चाहती हैं। चन्द्रिका का अवलोकन करते समय ही वे राम की स्मृति से विचलित हो उठती है।

एकादश सर्ग—वर्षा काल का समय है। मेघ आकाश में मॅडरा रहे हैं। आकाश में बगुलो की श्वेत पक्तियॉ उड रही है। चारो ओर हरियाली ही हरियाली है। वर्षा के दृश्य को वैदेही देख रही हैं। श्याम वर्ण के मेघो को देखकर वैदेही को

घनश्याम राम का स्मरण हो आता है। मेघों को वे राम के ही आकार का, स्वरूप का बतलाती है, परन्तु दोनो के गुणो में भिन्नता का अनुभव करती है। वे राम के गुणो का गान करने लगती है। इसी समय शत्रुघ्न उनके सम्मुख आते है। शत्रुघ्न को देखकर वैदेही अवध का योग-क्षेम जानना चाहती है। उसके उपरान्त वे राम के सबध मे अपनी जिज्ञासा प्रकट करती हैं। शत्रुघ्न जब कुशल समाचार कह चुके तब उन्होने कहा कि लवणासुर का अत्याचार अत्यधिक बढ गया है ओर राम की आज्ञा से मै उसके दमन के लिए जा रहा हूँ। शत्रुघ्न के वहाँ से बिदा हाने के पश्चात् श्रीमती जानकी पुत्रवती होती है।

द्वादश सर्गः—वाल्मीकि-आश्रम स्थित देवालय मे आश्रम के सब निवासी एकत्र होते है। देवालय में वैदेही के पुत्रो का नामकरण-सस्कार हाता है। इसी समय महर्षि वाल्मीकि समुपस्थित लोगो को लवणासुर के वध का समाचार सुनाते है। इसके बाद आश्रम की अधीश्वरी वैदेही की प्रशसा के व्याज से उनके विवाह की पूर्ण कथा कह सुनाती है। इसके उपरान्त सत्यवती नामक आश्रमवासिनी बधाई का गीत गाती है।

त्रयादश सर्गः—कवि ने वैदेही की सेवाओ का वर्णन किया है। आश्रम के सब पशु पक्षी और पेड-पौधो की सेवा मे वे सदा निरत रहती है। उनके पुत्र लव और कुश अब चलने लगे हैं। सत्यवती उन्हे खिला रही है। इसी समय वैदेही से वार्तालाप करने के लिए परम विदुषी आत्रेयी वहाँ आती है। वैदेही की प्रशसा के साथ वे उनकी जीवन-गाथा का एक अश भी कहती हैं। उन्होने यह भी सूचना दी कि मेरा अध्ययन-काल समाप्त हो

चुका है और अब मै अगस्त-आश्रम में जा रही हूँ। जानकी जी उन्हे बिदा करती है।

चतुर्दश सर्गः—वसत-ऋतु का सुन्दर वर्णन है। कवि सुन्दर फल-फूलो का वर्णन करता है। वैदेही अपने पुत्रो का मन बहला रही है। बच्चो की अवस्था ५ वर्ष की हो गयी है। इसी समय वैदेही से मिलने के लिए विज्ञानवती नाम की आश्रम-वासिनी महिला आती है। वह वैदेही से विवाह-विच्छेद समस्या पर बातचीत करती है। विज्ञानवती की बाते सुनकर वैदेही जीवन के भौतिक दृष्टिकोण का खडन और आध्यात्मिक पक्ष का समर्थन करती है।

पचदश सर्गः—सुरसरि, परम सरसता के साथ प्रवाहित हो रही है। प्रात -काल का अत्यत सुहावना समय है। वैदेही पुत्रो सहित गगा के तट पर घूम रही है। वहाँ वे मछलियो और सरिता द्वारा अनेक प्रकार की नैतिक शिक्षा पुत्रो को प्रदान कर रही हैं। इसी समय वे उन्हें गगावतरण की कथा सुनाकर परोपकार की शिक्षा देती है।

षोडश सर्गः—वाल्मीकि-आश्रम मे सध्या समय लव और कुश मजु वीणा और मृदग बजा कर वाल्मीकि कृत रामायण की सरस पदावली का गान कर रहे है, उसी समय शत्रुघ्न मथुरा से लौटकर आते हैं। अवध में शान्ति है इसकी सूचना देते है। राम अश्वमेध यज्ञ कर रहे है, उसी में सम्मिलित होने के लिए वे जा रहे है इसका भी पता वैदेही को लगता है। शत्रुघ्न ने उन्हें यह भी बतलाया कि वाल्मीकि के साथ वैदेही भी यज्ञ में निमत्रित की गयी हैं।

सप्तदश सर्गः—राम शबूक को खोजते खोजते पचवटी मे पहुँचते है। पचवटी में पहुँचते ही उन्हे सीता का स्मरण हो आता है। उनका चित्त बडा दुखी हो जाता है। गोदावरी तट पर उनका वन-देवी से साक्षात्कार होता है। वन-देवी वैदेही-परित्याग के लिए राम को उलाहना देती है।

अष्टादश सर्गः—शीत काल का प्रभात है। अश्वमेध यज्ञ के के उपलक्ष्य मे अवध मे चारो ओर बडी धूम-धाम है। सारा नगर अत्यत सजा हुआ है। भिन्न-भिन्न प्रान्तो के अनेक राजे-महाराजे, ऋषि-महर्षि, विबुध जन यज्ञ मे सम्मिलित होने के लिए एकत्र हुए है। इसी अवसर पर वैदेही अपने पुत्रों के साथ रथ पर बैठ कर आती दिखलायी पडती है। राम उनकी अगवानी के लिए रथ के समीप जाते है। रथ से उतरते ही पतिप्राणा सीता, राम के चरण-स्पर्श के लिए बढी। स्पर्श करते ही वे दिव्य ज्योति मे परिणत हो गयी। गगन से पुष्पो की वर्षा होने लगती है।



/ ***********************************

'वैदेही-वनवास' का कथा-आधार

'वैदेही-वनवास' मे राम के जीवन के जिस अश का वर्णन है उसका हिन्दी-काव्यो मे वर्णन नही प्राप्त होता। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस मे लव-कुश का जीवन-वृत्तान्त रखा ही नही है। 'वैदेही-वनवास' की कथा का वर्णन सस्कृत के कुछ ग्रथो मे मिलता है। उन ग्रथो के आधार पर कथा का रूप निश्चित किया गया है। 'वैदेही-वनवास' की कथा निम्न-लिखित ग्रथो मे मिलती है—

श्री वाल्मीकीय रामायण, रघुवश, उत्तररामचरित नाटक और अध्यात्म रामायण।

'वैदेही-वनवास' की कथा का सूत्र विशेषत वाल्मीकीय रामायण, रघुवश और उत्तररामचरित नाटक पर आधारित है। कथा का मिलान करने पर हमे यह ज्ञात होगा कि हरिऔध जी ने इन ग्रथो से प्राप्त सामग्री मे किस प्रकार परिवर्तन किया है। कथासूत्र मात्र ही इन ग्रथो से लेखक ने लिया है। कथा का मूल प्रसग वाल्मीकीय रामायण पर आश्रित है। उसके अतिरिक्त छोटी छोटी घटनाऍ और प्रसग उन्होने उत्तररामचरित नाटक से लिया है। 'वैदेही-वनवास' पर कुछ प्रभाव रघुवश का भी है।

'वैदेही-वनवास' के प्रथम सर्ग का प्रसग कवि की उद्भावना पर आश्रित है। 'वाल्मीकीय रामायण', 'उत्तररामचरित' नाटक अथवा 'रघुवश' में इस प्रसग का कही वर्णन नही प्राप्त होता। 'वैदेही-वनवास' का द्वितीय सर्ग उत्तररामचरित पर आधारित है। 'उत्तररामचरित' मे भी राम को समाचार सुनाने वाले चर का नाम दुर्मुख है। हरिऔध जी के 'वैदेही-वनवास' मे भी चर का नाम दुर्मुख है। वाल्मीकीय रामायण और रघुवश मे चर का नाम भद्र दिया हुआ है। अध्यात्म रामायण में चर का नाम 'विजय' है।

द्वितीय सर्ग मे चित्रशाला का वर्णन तो सस्कृत-काव्यो पर आश्रित है परतु घटना मे कवि ने अपनी इच्छानुसार परिवर्तन किया है। 'उत्तररामचरित' नाटक में, लक्ष्मण, सीता और राम को घूम-घूम कर चित्रशाला के चित्र दिखा रहे है। परतु 'वैदेही-वनवास' में राम अकेले चित्रशाला में घूम-घूम कर स्वत चित्रो का अवलोकन कर रहे है।

आधार ग्रथो मे सीता अपनी गर्भावस्था में ऋषि-आश्रम में जाकर रहने की इच्छा व्यक्त करती हैं। 'वैदेही-वनवास' मे इस घटना में भी कवि ने परिवर्तन किया। हरिऔध जी के वैदेही वनवास' में राम, सीता से कहते हैं कि तुम गर्भवती हो अत भावी पुत्र के अच्छे सस्कारो के लिए तुम्हारा ऋषि-कुल में जाना आवश्यक है। इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण और रघुवश में जब राम, चर से जन पद का सवाद पूछते है तब वह लोकापवाद की बात कहता है, परतु उत्तररामचरित नाटक में चर आकर बिना राम के पूछे ही लोकापवाद का सवाद कहने लगता है। हरिऔध जी ने 'वैदेही-वनवास' में भी उत्तररामचरित को ही आधार माना है।

'वैदेही-वनवास' में राम, वैदेही के सम्मुख वन मे जाकर ऋषि-कुल मे रहने का प्रस्ताव रखते है और वैदेही उसे सहर्ष स्वीकार करती है —

> वही करूँगी जो कुछ करने की मुझको आज्ञा होगी।
> त्याग करूँगी, इष्ट सिद्धि के लिए बना मन को योगी।
> सुख-वासना स्वार्थ की चिंता दोनो से मुँह मोडूँगी।
> लोकाराधन या प्रभु-आराधन निमित्त सब छोडूँगी।

परतु आधार ग्रथो मे इस प्रकार का वर्णन कही नही है। इसके विपरीत वाल्मीकीय रामायण, रघुवश और अध्यात्म रामायण मे जब लक्ष्मण सीता जी को गगा-तट पर छोड कर लौटने लगते है तब उनसे कहते है कि राम ने आपका परित्याग कर दिया है। उत्तररामचरित मे तो लक्ष्मण ने इतना भी न कहा और चुपचाप लौट आये। कहने की आवश्यकता नही कि हरिऔध जी की इस मौलिक उद्भावना ने कथा को कितना सजीव बना दिया है! इस घटना से सीता और राम दोनो के चरित्र मे क्रातिकारी परिवर्तन उत्पन्न हो गया है।

'वैदेही-वनवास' मे राम अपने बधुओ से लोकापवाद के सबध में विचार-विमर्ष करते है। 'वाल्मीकीय रामायण' और 'रघुवश' में भी यह घटना इसी रूप मे वर्णित है। 'उत्तरराम-चरित' नाटक मे इस प्रसग का उल्लेख नही मिलता।

'वैदेही वनवास' मे लोकापवाद तथा ऋषि-कुल मे वैदेही को भेजने के सबध में राम ने गुरु वशिष्ठ से भी विचार-विनिमय किया और उनका परामर्श माँगा। साथ ही सीता अपनी सासो और बहिनो से बिदा माँग कर वन को प्रस्थान करती है। कवि की ये कल्पनाएँ मौलिक है। किसी भी आधार ग्रथ मे ये प्रसग

नही मिलते। 'उत्तररामचरित' के अनुसार तो सीता की सब सासे और गुरु वशिष्ठ अयोध्या में थे नही। वे लोग ऋष्य शृग के यहाँ यज्ञ मे योग देने गये थे।

'वैदेही-वनवास' मे लवणासुर का प्रसग मुख्य कथा के साथ सन्निहित कर दिया गया है। यह कवि की अपनी मौलिक कल्पना है। कवि ने लोकापवाद का कारण भी लवणासुर का द्वेष भाव बतलाया है। आधार ग्रथो मे भी लवणासुर की कथा का वर्णन मिलता है परतु उसका मूल कथा से कोई सबध नहीं है।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि सब आधार ग्रथो मे यही वर्णन मिलता है कि सीता जी को गगा-तट पर ही छोड कर लक्ष्मण लौट आये, किन्तु 'वैदेही-वनवास' मे कवि ने इस प्रसग में थोडा परिवर्तन किया है। लक्ष्मण जी सीता जी के साथ वाल्मीकि आश्रम में जाते है और उन्हे वाल्मीकि ऋषि को सौप देते है। आधार ग्रथों में यह वर्णन मिलता है कि गगा-तट पर जब सीता ने विलाप करना प्रारभ किया तब वाल्मीकि ऋषि उनके पास जाते है और उन्हे सान्त्वना देते हुए कहते है कि मुझे सारी घटना का ज्ञान समाधि द्वारा हो गया है —

'आपापा वेद्मि सीते त्वा तपोलब्धेन चक्षुषा।
विस्रब्धा भव वैदेहि साम्प्रत मयि वर्तसे।'

वैदेही-वनवास का कवि अलौकिकता में विश्वास नही करता अत उसने इस प्रसग में भी बडा सुन्दर परिवर्तन किया और इस घटना को अत्यत बुद्धि-सगत बना दिया। 'वैदेही-वनवास' की सीता जब वाल्मीकि-आश्रम में पहुँचती हैं तब वाल्मीकि जी कहते है कि मुझे गुरु वशिष्ठ के पत्र से सारी घटना का विवरण प्राप्त हो गया है।

हरिऔध जी के 'वैदेही-वनवास' के नवम सर्ग में लक्ष्मण वाल्मीकि-आश्रम से लौटकर राम को सारा वृत्तान्त सुनाते हैं। वे वैदेही की प्रशसा भी करते हैं। यह वर्णन न तो 'उत्तरराम-चरित' नाटक मे है और न वाल्मीकीय रामायण मे। इसका वर्णन केवल 'रघुवश' मे ही मिलता है —

आर्य प्रभु सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुक शक्रजितोपि हन्ता।
शशस सीता परिदेवनात्तमनुष्ठित शासनमग्रजाय॥

'वैदेही-वनवास' का दशम सर्ग पूर्णत कवि की कल्पना पर आधारित है।

वाल्मीकीय-रामायण और रघुवश में लवणासुर के वध के समय शत्रुघ्न वाल्मीकीय आश्रम मे जाते हैं और वैदेही का दर्शन करते हैं। उनके ठहरने का वर्णन इन ग्रथो में नही है। शत्रुघ्न जी वर्षा ऋतु में वाल्मीकि-आश्रम मे पहुँचे थे। 'वैदेही-वनवास' में इस कथा-प्रसग में थोडा सा परिवर्तन कर दिया गया है। इस काव्य के अनुसार शत्रुघ्न वाल्मीकि-आश्रम में पहुँचते हैं और आश्रम में ठहरते हैं। उसी रात लव और कुश का जन्म होता है।

त्रयोदश सर्ग मे वैदेही की सेवाओ का वर्णन है। किस प्रकार वैदेही आश्रम के पशु-पक्षियो की सेवा मे निरत रहती हैं इसका कवि ने विषद वर्णन किया है। वैदेही ने हाथी का एक बच्चा भी पाल रखा है इसका वर्णन भी आता है। उत्तरराम-चरित में भी हाथी का बच्चा पालने का वर्णन है —

सीतादेव्या स्वकरकलितै सल्लकीपल्लवाग्रै-
रग्रे लोल करिकलभको य पुरा वर्धितोऽभूत्।

इसी सर्ग में आत्रेयी का जो वर्णन आया है वह भी उत्तर-रामचरित पर ही आधारित है।

चतुर्दश सर्ग पर युग का प्रतिबिम्ब पडा है। विज्ञानवती का प्रसग पूर्णत कवि की अपनी सूझ है। विज्ञानवती की उत्पत्ति केवल विवाह-विच्छेद समस्या पर अपने विचार व्यक्त करने के लिए ही कवि ने किया है। विज्ञानवती आधुनिक युग की नारी का प्रतीक है।

षोडश सर्ग मे लव और कुश वाल्मीकीय रामायण का जब गान कर रहे है तब उसी समय लवणासुर का वध कर शत्रुघ्न उनके आश्रम मे पधारते है। यह वर्णन वाल्मीकीय रामायण पर ही आधारित है। 'रघुवश' मे लवणासुर के वध के पश्चात लौटते समय शत्रुघ्न आश्रम मे ठहरते ही नही।

सभी आधार ग्रन्थो में शम्बूक का प्रसग मिलता है। परन्तु वाल्मीकीय रामायण और 'रघुवश' मे उसका मूल कथा से कोई सबध नही है। 'उत्तररामचरित' मे शम्बूक-वध के लिए राम पचवटी जाते है और वही उन्हे सीता का स्मरण हो आता है। 'वैदेही-वनवास' मे पचवटी मे पहुँचने पर राम के विरह का जो विषद वर्णन है वह 'उत्तररामचरित' पर आधारित है। पचवटी मे राम और वन-देवी मे जो बातचीत हुई है उसका आधार भी 'उत्तररामचरित' नाटक ही है।

'उत्तररामचरित' मे राम के अश्वमेध-अश्व को लव द्वारा पकड लिए जाने पर चन्द्रकेतु और लव का युद्ध वर्णित है। ठीक इसी समय राम भी शम्बूक का वध कर उसी घटनास्थल पर पहुँच जाते है। अन्य आधार ग्रन्थो मे अश्वमेध का अश्व छोडे जाने का वर्णन नही मिलता। वाल्मीकीय रामायण और रघुवश आदि मे वाल्मीकि, लव-कुश के साथ अयोध्या पहुँचते हैं। यज्ञ के अवसर पर राम लव-कुश द्वारा रामायण का गान सुनते है।

'वैदेही-वनवास' में उपर्युक्त प्रसग सर्वथा भिन्न रूप से वर्णित है। उसमे न तो अश्व का प्रसग मिलता है और न रामायण सुनने का।

उत्तररामचरित नाटक को सुखान्त बनाने के लिए अन्त में सब पात्र मिला दिये जाते है। परतु वाल्मीकीय रामायण आदि में वैदेही यज्ञ मे बुलायी जाती है और वही पृथ्वी से एक सिहासन प्रकट होता है। वे उसी पर बैठ कर रसातल मे चली जाती है। 'वैदेही-वनवास' में कवि ने इस प्रसग को बडा मार्मिक बना दिया है। इस काव्य मे तो यज्ञ मे पहुँचते ही वैदेही दिव्य ज्योति में परिणत हो जाती है।

उपर्युक्त तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वैदेही-वनवास' की कथा का आधार तो वाल्मीकीय रामायण है, परन्तु कुछ प्रसग 'उत्तररामचरित' नाटक और 'रघुवश' से भी लिए गये हैं। साथ ही कवि ने स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी कल्पनाओ का उपयोग कर काव्य मे नवजीवन का सचार किया है।



****

'वैदेही-वनवास' में धार्मिक भावना

'हरिऔध' जी ने ७२ वर्ष की अवस्था मे 'वैदेही-वनवास' की रचना प्रारभ की। वार्द्धक्य के साथ उनके मन मे अनेक प्रकार के प्रश्न उठने लगे थे। ईश्वर की भावना उनके हृदय में किस रूप मे वर्तमान थी कहा नही जा सकता। कभी कभी वे जिज्ञासु के रूप मे हठात् यह अवश्य कह उठते थे—'मालूम नही मृत्यु के बाद क्या है। ईश्वर है या नही। परतु कोई शक्ति ऐसी तो है ही जो ससार की व्यवस्था करती है। ससार का नियामक कोई न कोई अवश्य होगा।' इन प्रश्नो का उत्तर उन्हे उपयुक्त रीति से न मिल सका यह सत्य है। सस्कार के कारण उनका हृदय कभी कभी आलौकिकता की ओर झुकता था परतु उनकी बौद्धिक विचार-धारा उस पर पर्याप्त नियत्रण रखती थी। वे इस सबध मे भावुकता के प्रवाह मे नही वहे।

प्रियप्रवास के प्रसग मे यह कहा जा चुका है कि किस प्रकार भाव, भाषा और विश्वासो मे क्राति की भावना हरिऔध जी मे उत्पन्न हुई थी। क्रान्ति की भावना तो उत्पन्न हुई परतु जिन आदर्श चरित्रों को लेकर हरिऔध जी काव्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए उनके प्रति विश्वासो की परम्परा थी। सस्कार से ही हिन्दू-जाति का सदस्य उन्हे पूज्य भावना से देखता रहा है। उन्हे ईश्वर कह कर श्रद्धा से नमित होता रहा है। हरिऔध जी ने

इस भावना को तो अधिक महत्व नही दिया परतु वे इस भावना के प्रभाव को अपने ऊपर से पूर्णत हटा भी नही सके। 'प्रिय-प्रवास' मे तो उनकी बुद्धि का अकुश पूर्णरूपेण वर्तमान रहा, परतु यह अकुश 'वैदेही-वनवास' की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते शिथिल अवश्य हो गया। इस शैथिल्य का कारण बहुत कुछ अवस्था भी है। कृष्ण के समान ही राम भी लौकिक पुरुष के रूप मे 'वैदेही-वनवास' मे चित्रित किये गये है। उनके जीवन से सबध रखने वाली अनेक अलौकिकताओ को ग्रथ से दूर रखने का भी कवि ने प्रयत्न किया है। परतु कुछ ऐसे स्थल भी है जहॉ अज्ञात सुषुप्त भावना के कारण कवि को राम की अलौकिकता का भी आभास मिल जाता है। कवि इतना दुराग्रही भी नही है कि वह इस प्रकार के सहज और स्वाभाविक सुषुप्त भावना की अभिव्यक्ति के चिह्न को मिटा डाले। यही कारण है कि 'वैदेही-वनवास' के राम मे और सीता मे भी कुछ स्थलो मे अलौकिकता का आरोप हो गया है।

वाल्मीकि के आश्रम मे श्रीमती वैदेही राका रजनी की शरच्चन्द्रिका को मुग्ध होकर देख रही है। चन्द्रिका की स्निग्धता उनके हृदय मे राम का विरह जागरित करती है और वे राम का गुण-गान करती हुई कह उठती है —

जिनकी लोकोत्तर लीलाएँ,
लोक - ललक की थाती है।
ललित - लालसाओ को विलसे,
जो उल्लसित बनाती है।

जिसकी लोक - ललाम - मूर्ति।
भव - ललामता की जननी है।

जिसके आनन की अनुपमता।
परम - प्रमोद प्रसविनी है।
जिसकी अति - कमनीय - कान्ति से।
कान्तिमानता लसती है।
जिसकी महा - रुचिर - रचना में।
लोक - रुचिरता बसती है।

महात्मा गाधी भी जीवधारी मनुष्य थे। उनकी कथा भी एक दो युगो के बाद अलौकिकता के रग मे रँग जायगी। क्या कोई भी इस बात का उस समय शीघ्र विश्वास करेगा कि महात्मा जी ने बडे बडे हिसक अस्त्रो का केवल सद्भावना से सामना किया! उनका यह कार्य अलौकिकता को श्रेणी मे ही गिना जायेगा। रामचन्द्र के जीवन मे भी इसी प्रकार की घटनाएँ हुई होगी। आज उनको हम अलौकिक बातें समझते है। कवि ने उपर्युक्त छन्दो मे कुछ ऐसे शब्दो का प्रयोग किया है जिन से राम के ईश्वरत्व और उनके अलौकिकत्व का बोध होता है। 'लोकोत्तर लीलाएँ,' 'भव-ललामता की जननी' और 'महा-रुचिर रचना' शब्द-समूह राम की अलौकिक सृष्टि-रचना का सकेत करते है।

इसी प्रकार सीता भी साधारण नारी नही है। वाल्मीकि-आश्रम से जब लौटकर वे अयोध्या आयी और रथ से उतर कर राम का चरण-स्पर्श करने लगी तो —

ज्योंही पति - प्राणा ने पति - पद - पद्म का।
स्पर्श किया निर्जीव - मूर्ति सी बन गईं।
और हुए अतिरेक चित्त - उल्लास का।
दिव्य ज्योति मे पारिणत वे पल में हुईं।

सीता जी का दिव्य ज्योति में परिणत हो जाना लौकिक

कार्य नही। यह तो पूर्णत अलौकिक कार्य है। इस प्रकार कवि 'वैदेही-वनवास' मे आकर राम मे और वैदेही मे अलौकिकता की भावना का आरोप करता है। इस प्रकार के आरोप का कारण सुषुप्त भावनाओ का सस्कार मात्र है।

साख्य दर्शन के अनुसार इस सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति और पुरुष के योग से हुई है। प्रकृति और पुरुष ही इस सृष्टि के दो प्रधान तत्व है। श्रीमद्भागवतकार के मतानुसार ईश्वर के साक्षात्कार का सर्वोत्तम माध्यम भक्ति है। उन्होने भक्ति को ही प्रधानता दी है। हरिऔध जी ने भी सृष्टि का कारण प्रकृति और पुरुष को माना है तथा भक्ति को प्रमुखता प्रदान की है.—

यदि रघुकुल तिलक पुरुष है।
श्रीमती शक्ति हैं उनकी॥

राम के विष्णु और सीता के भक्ति रूपो की ओर भी कवि बडी सुन्दरता से सकेत करता है—

जो प्रभुवर त्रिभुवन पति है।
तो आप भक्ति है उनकी।

उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम और जगज्जननी सीता की अलौकिकता मे चाहे कवि का विश्वास न भी रहा हो परतु अज्ञात सस्कारो के कारण कवि ने उनके अलौकिक शक्ति सम्पन्न होने की ओर सकेत अवश्य किया है। 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-वनवास' की धार्मिक भावना मे यह थोडी सी भिन्नता अवश्य हुई है।

****

'वैदेही-वनवास' पर युग की छाया

'वैदेही-वनवास' की रचना जिस काल में हुई वह काल बडी उथल-पुथल का था। राजनीतिक क्षेत्र मे अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ विकसित हो रही थी। सामाजिक जीवन में सह-शिक्षा और स्त्री-शिक्षा के प्रचार के कारण भी अनेक धारणाओ का जन्म हो रहा था। अग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से अनेक ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो रही थी जिन पर लोग विचार-विनिमय करने लगे थे। स्त्रियाँ, विवाह, विवाह-विच्छेद, समान अधिकार पर अपने दृष्टि कोण स्वतत्रता से व्यक्त करती थी। हरिऔध जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के महिला-विद्यालय में महिलाओ को उच्च शिक्षा प्रदान करते थे। लडकियाँ उनसे स्वतत्रतापूर्वक समानाधिकार, विवाह-विच्छेद आदि विषयो पर बातचीत करती थी। कुछ ऐसी भी लडकियाँ थी जो विवाह को बधन ही नही दासता समझती थी। वे बडे ही कठोर शब्दो मे पुरुषो की निन्दा करती थी। हरिऔध जी इस सबध मे लडकियो को सत्परामर्श देने का बराबर प्रयत्न करते रहे। वर्तमान भावापन्न लड़कियो की विचारधारा का प्रतिनिधित्व 'वैदेही-वनवास' की

विज्ञानवती नामक पात्र करती है और हरिऔध जी की विचार-धारा जानकी जी के मुख से व्यक्त होती है।

समाज मे छोटे-बडे का भेद-भाव भी मिट रहा था। ऊँच-नीच की भावना भी धीरे धीरे लुप्त हो रही थी। 'वैदेही-वनवास' में तत्कालीन समाजवाद के जन्म का भी सकेत मिलता है। समाजवाद मे व्यक्ति और समाज दोनो को समान आदर प्राप्त है। समाजवाद मे जाति, वश, धर्म, वर्ण आदि का कोई महत्व नही। महर्षि वाल्मीकि भी वैदेही का सम्मान इस लिए अपने आश्रम मे नही कर रहे है कि वे चक्रवर्ती सम्राट की पत्नी है वरन् इस लिए कि उनमे अलौकिक गुणो का विकास हुआ है और वे अलौकिक आदर्शों वाली नारी है—

> किसी चक्रवर्ती की पत्नी आप हैं।
> या लालित है महामना मिथिलेश की।
> इस विचार से है न पूजिता-वन्दिता।
> आप अर्चिता है अलौकिकादर्श से।

समाजवादी विचारधारा का धूमिल सकेत इन पक्तियो में हमे मिलता है। कवि भी उस समय की विकसित होने वाली भावना से अपने को न बचा सका।

आज के 'कल' युग ने मनुष्यो को अधिक भौतिकवादी बना दिया है। वैज्ञानिक आविष्कारो का इसमे बडा हाथ रहा है। आज मनुष्य भौतिक सुखो को अधिक महत्व देता है। मनुष्य मे स्वार्थ-भावना का विकास भी इसी के कारण दृष्टि-गोचर होता है। आज इसी स्वार्थ की भावना के कारण हमारे समाज का जीवन विषमय हो रहा है और जितनी भी व्यवस्थाएँ और मान्यताएँ थी धीरे धीरे शिथिल होती जा रही हैं। मनुष्य

को जब अपने सुखो की प्राप्ति मे किसी प्रकार की आशंका होती है तब उसके हृदय मे ईर्ष्या-द्वेष आदि की भावना जागरित होती है। इस सुख की, अथवा सुख के साधनो की प्राप्ति की आकाक्षा के कारण हमारे बीच विषमता का जन्म होता है। यह विषमता मनुष्य को सघर्ष की ओर ले जाती है। पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा के प्रभाव तथा समाजवाद के कारण समानता की भावना की उत्पत्ति ने स्त्रियो का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया। अब तक हिन्दू सस्कृति के अनुसार स्त्रियाँ मनुष्यो की अर्द्धांगिनी थी, आश्रिता थी। कभी कभी पुरुषो द्वारा उन पर आश्रित रहने के कारण अत्याचार भी होता था। उनके अधिकारो का अपहरण भी हुआ। जब स्त्रियाँ पुरुषो की आश्रिता रही है तब उन्हे समय समय पर असुविधाओ का भी सामना करना पडा है। इन असुविधाओ और वास्तविक सुख के अभाव ने उनके ध्यान को भी समानता की ओर आकर्षित किया। वे भी समाज में पुरुषो के साथ समान स्तर पर खड़ी होने के लिए और कधे से कधा लगा कर समाज के बीच कर्म-रत होने के लिए उत्सुक हुई। शिक्षा ने उन्हे अपने पैरो पर खडा होने की भी शक्ति दी। जब उनमे स्वतत्र भावना का उदय हुआ तब वे पुरुषो से समान स्तर पर व्यवहार करने की आकाक्षा लेकर समाज मे विचरण करने लगी। उनमे स्वच्छन्दता की भावना भी आयी। इस स्वच्छन्दता की भावना ने विवाह-विच्छेद की समस्या सामने ला खडी की। इस भौतिकवाद की भावना के कारण ही आज अनेक गृहस्थो का गार्हस्थ्य जीवन सुखमय नही है। पति और पत्नी दोनो ही अर्थ को महत्व देने लगे है और उसी के लिए आतुर रहते हैं।

हरिऔध जी ने इस भौतिकवादी युग की कुछ इन समस्याओं

पर भी 'वैदेही-वनवास' में विचार किया। इन समस्याओं का क्या हल हो सकता है वह भी उन्होंने प्रस्तुत करने का यत्न किया है। चतुर्दश सर्ग मे विज्ञानवती की कल्पना कवि ने इसी ध्येय से की है।

विचार-विनिमय के प्रसग मे विज्ञानवती वैदेही से कहती है —

देवि! आत्म-सुख ही प्रधान है विश्व में।
किसे आत्म गौरव अतिशय प्यारा नही।
स्वार्थ सब-जन जीवन का सर्वस्व है।
है हित - ज्योति-रहित अन्तर तारा नही।

भिन्न प्रकृति से कभी प्रकृति मिलती नही।
अहभाव है परिपूरित ससार में।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह स्वर है भरा।
प्राणि मात्र के हृत्तत्री के तार में।

है विवाह - बधन ऐसा बधन नही।
स्वाभाविकता जिसे तोड़ पाती नही।
विविध - परिस्थितियाँ है ऐसी बलवती।
जिससे मुँह चित - वृत्ति मोड़ पाती नही।

विज्ञानवती वैदेही से कहती है कि ससार में सब आत्म-सुख चाहते है। पति-पत्नी भी जब आत्म-सुख की वाछा करने लगते है तब दोनो के सबध में विषमता उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यही विषमता जब उग्र रूप धारण कर लेती है तब पति-पत्नी का सबंध-विच्छेद हो जाता है। अत क्या ससार में कोई ऐसा मार्ग नही है जिसके कारण यह विषमता उत्पन्न ही न हो!

वैदेही ने विज्ञानवती से कहा कि समाज में सारी विषमता का कारण भौतिकवाद है। भौतिकवाद से प्रभावित व्यक्ति दूसरो के सुख की चिन्ता नही करता। उसे तो बस स्व की चिता रहती

है, परन्तु जो व्यक्ति आध्यात्मिकता मे विश्वास करता है वह पहले दूसरे के सुखो की ओर ध्यान देता है। उसे अपने सुख की अधिक चिता नही रहती। सर्वोपरि सासारिक सुख-दुख का उसके लिए कोई अधिक महत्व नही होता। स्त्री और पुरुष दोनो ही त्रिगुणात्मक है। दोनो मे ही सत्, रज और तम गुणो का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। किन्तु यदि पति और पत्नी मे इनका सतुलन बना रहे तो विषमता न उत्पन्न हो। यदि एक मे तमो गुण का प्राधान्य हो गया हो तो यदि दूसरे मे सतो गुण का विकास कर लिया जाय तो विषमता न उत्पन्न हो। यदि दोनो में ही साथ ही तमो गुण का प्राधान्य हो जायगा तो सघर्ष स्वाभाविक है। इसी बात को वैदेही निम्नलिखित पद्य में प्रकट करती हैं —

ऐसे अवसर पर प्राणी को बन प्रबल।
आत्म - शक्ति की शक्ति दिखाना चाहिये।
सत्प्रवृत्ति से दुष्प्रवृत्तियों को दबा।
तम में अन्तर्ज्योति जगाना चाहिये।

वैदेही कहती है कि इस भौतिक प्रधान जीवन में त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही मुख्य स्थान मिला है किन्तु आध्यात्मिक भावना के विकास द्वारा मनुष्य त्रिगुणात्मक प्रकृति पर भी विजय प्राप्त कर सकता है —

सत्य है प्रकृति होती है अति बलवती।
किन्तु आत्मिक सत्ता है उससे सबल।
भौतिकता यदि करे भूतपन भूत बन।
क्यों न उसे आध्यात्मिकता तो दे मसल।

पुरुष और नारी की प्रकृति में कुछ मौलिक भिन्नताएँ हैं। पुरुष प्रकृत्या परुष और नारी कोमल होती है। दोनो ही एक दूसरे

के प्रपूरक हैं और दोनो के योग से पूर्ण मानव-जीवन का विकास होता है। इस लिए जीवन की पूर्णता के लिए दोनो को ही कुछ न कुछ त्याग करने की आवश्यकता होगी। जहाँ कही भी जब भौतिकता की अधिकता हो जाती है तब सामाजिक जीवन तो छिन्न-भिन्न हो ही जाता है, देश भी अवनति के गर्त में गिर जाता है। लका मे जब भौतिकवाद पराकाष्ठा को पहुँच गया तब उसका ध्वस हुआ और वहाँ विवाह-सबध क्षणिक हो गया.—

लका मे भौतिकता का साम्राज्य था।
था विवाह का बधन, किन्तु अप्रीतिकर।

* *

होता रहता था साधारण बात से।
पति-पत्नी का परित्याग प्रतिदिन वहाँ।
अहभाव दुर्भाव तथा दुर्वासना।
उसे तोड़ देती थी पतित-प्रवचना।
ऐंचा तानी हुई कि वह टूटा नही।
कच्चा धागा था विवाह-बधन बना।

यही अहंभाव, दुर्वासना और दुर्भाव ही लका के सर्वनाश का प्रधान कारण था। हमारे देश की अवनति का भी यही कारण हुआ। आज वैवाहिक समस्याओ के कारण जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही है वे देश को किस दिशा की ओर ले जायँगी कहा नही जा सकता।

भारतीय सभ्यता पर पाश्चात्य सभ्यता का अत्यधिक प्रभाव पडा है। वहाँ की रहन-सहन, वहाँ का खान-पान हमारे घरो में घर कर रहा है। विदेशी रीति से हमारी भारतीय ललनाएँ शृगार भी करने लगी हैं। वाह्य सौंदर्य को प्रधानता देना भी

पाश्चात्य सभ्यता की देन है। भारतीय नारी भी पाश्चात्य सौंदर्य-प्रसाधनो की ओर आकर्षित होकर उसका भद्दे रूप में प्रयोग कर रही है। आज भारत का अत्यधिक धन इन सौंदर्य के प्रसाधनो पर व्यय हो रहा है। 'वैदेही-वनवास' में नारी जाति का तितली बन कर घूमने की ओर भी सकेत है —

> था बनाव शृगार उन्हे भाता बहुत।
> तन को सज उनका मन था रौरव बना।
> उच्छृखलता की थी वे अति प्रेमिका।
> उसी में चरम सुख की थी कल्पना। -

इस प्रकार 'वैदेही-वनवास' मे यत्र-तत्र युग की छाया का दर्शन भी हमे होता है।

****

'वैदेही-वनवास' में रस-निरूपण

'प्रियप्रवास' के प्रसग मे रस-सम्प्रदायो और काव्य मे रस का क्या महत्व है इस सबध मे विस्तार से विचार किया जा चुका है। उन बातो की पुनरावृत्ति पिष्टपेषण मात्र होगी अत हम सीधे इस बात पर विचार करेंगे कि 'वैदेही-वनवास' मे किस रस की प्रधानता है और अन्य रसो का इसमे कहा तक निरूपण हुआ है।

'वैदेही-वनवास' मे पुरुषोत्तम राम वैदेही के सम्मुख वन-गमन का प्रस्ताव रखते है। वैदेही, राम के प्रस्ताव का अनुमोदन करती है और ऋषि-आश्रम मे अपनी गर्भावस्था का काल व्यतीत करने के लिए तैयार हो जाती है। इसके बाद राम की आज्ञा से लक्ष्मण, सीता को वाल्मीकि-आश्रम मे पहुँचा आते है। यहा पर एक प्रश्न उठता है। यदि राम के प्रस्ताव का वैदेही अनुमोदन न करती और उन्हे वन जाने के लिए बाध्य किया जाता तो क्या स्थिति उत्पन्न होती? ऐसी स्थिति मे वैदेही का जीवन अधकार-पूर्ण हो जाता और राम से पुन मिलने की कोई आशा न रह जाती। ऐसी स्थिति मे आशा (रति) की समाप्ति हो जाती और वैदेही के जीवन में 'शोक' उत्पन्न हो जाता। परतु यहाँ दोनो की सहमति से वन-गमन का कार्य-क्रम निश्चित हुआ है अत

सीता को राम से पुन मिलने की आशा है। राम भी सीता को कुछ ही दिनो के लिए स्थानान्तरित करना चाहते है.—

इच्छा है कुछ काल के लिए तुमको स्थानान्तरित करूँ।
इस प्रकार उपजा प्रतीति मै प्रजा पुज की भ्रान्ति हरूँ॥

इन पक्तियो से स्पष्ट है कि वैदेही का 'प्रवास' कार्य-वश है। वैदेही को यह पूर्ण रूप से विश्वास है कि कुछ दिनो बाद राम उन्हे पुन आश्रम से बुला लेगे। अत राम और वैदेही का जो यह प्रवास-जन्य वियोग है वह 'प्रवास' नामक विप्रलभ के अन्तर्गत आता है। राम तो यह कहते ही है कि कुछ काल के लिए तुम्हे स्थानान्तरित करने की इच्छा है। वैदेही को भी यह विश्वास है कि उनका क्षणिक वियोग शीघ्र ही समाप्त होगा और वे राम का दर्शन कर सकेगी।

दोनो भ्राता शस्त्र शास्त्र में निपुण हो।
अवध धाम मे पहुँचोगे सानन्द जब।
पाकर रवि कुल-रवि से दिव सी दिव्यता।
रत्न मुकुट-मडित होगे तुम लोग तब।

उपर्युक्त पक्तियो से आशा व्यक्त होती है अत रति की भावना होना भी अनिवार्य है।

काव्य मे करुण रस की प्रधानता है, इस सबध मे लोग यह दलील देते है कि अन्त मे वैदेही का स्वर्गारोहण होता है। स्वर्गारोहण भी तो मरण ही है, परतु यहाँ एक बात विचारणीय है, मरण सासारिक लोगो का होता है और मनुष्य सशरीर मरता है। वैदेही की स्थिति भिन्न है। वे अलौकिक देवी है और वे सशरीर स्वर्ग जाती है। सशरीर स्वर्गारोहण को मरण की सज्ञा नही दी जा सकती। कवि ने भी इसे वैदेही का मरण नही

स्वीकार किया है। क्योकि मरण के बाद तो विषादयुक्त वातावरण हो जाना चाहिये। परतु 'वैदेही-वनवास' मे विषादयुक्त वातावरण नही है। कवि ने हर्ष प्रकट करते हुए लिखा है —

लगे वृष्टि करने सुमनावलि की त्रिदश।
तुरत दुदुभी नभ-तल मे बजने लगी।
दिव्य-दृष्टि ने देखा, है दिव-गामिनी।
वह लोकोत्तर-ज्योति जो धरा में जगी।

मरण होने पर लोग शोक करते है। 'सुमन की वृष्टि' नही होती और न आकाश मे दुन्दुभि ही बजती है। ये शब्दावलियाँ हर्ष प्रकट करती है। इससे शोक नही व्यक्त होता। राम और वैदेही अलौकिक पुरुष और नारी है, अत वैदेही का दिव्य ज्योति मे परिणत होना महामिलन का द्योतक कहा जायगा, वियोग का नही। राम-वैदेही का वियोग ऐसा नही है कि जो रति को निराशा मे बदल दे। इस वियोग मे आशा का दीप टिमटिमा रहा है। अत रति की भावना सदा वर्तमान रही है ओर यही रति की भावना शोक को महत्व नही प्रदान करने देती।

शृगार-रस मे करुण-रस की अभिव्यक्ति भी मिश्रित हो सकती है। शृगार-रस मे यत्र-तत्र करुण-रस का भी वर्णन हो सकता है। आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने शोक और वियोग की परिभाषा निम्न रूप मे की है —

'प्रिय के दुख या पीडा पर जो दुख हो, वह 'शोक' है, प्रिय के कुछ दिनो के लिए वियुक्त होने मात्र का जो दुख हो, वह विरह है।'

वियोगावस्था में दोनो स्थितियाँ सभव हो सकती है। जब किसी का प्रिय से बिछोह होता है तब दुख तो होता ही है परतु

वियोगावस्था में प्रिय को कष्ट होने की जो आशका होती है वह शोक की श्रेणी मे गिना जा सकता है :—

है गुणवती दासियाँ कितनी ।
है पाचक पाचिका नही कम ॥
पर है किसी में नही मिलती ।
जितना वाञ्छनीय है सयम ॥

प्रिय के सुख की चाहे कितनी ही सर्वोत्तम व्यवस्था क्यो न हो प्रेमिक यही समझता है कि उसके समान कोई सुख-सुविधा की व्यवस्था नही कर सकता । प्रेमिक को इस मानसिक स्थिति के कारण सदा प्रेमी के योग-क्षेम की चिन्ता बनी रहती है। वैदेही यह जानती है कि राम को दास-दासियो की कमी नही। उनकी सेवा की सब व्यवस्था हो सकती हे, परतु वे लोग वैदेही के समान उनकी देख भाल नही कर सकते । इस लिए प्रवास काल में प्रिय को कष्ट पहुँचने की उन्हे आशका है । यह आशका शोक उत्पन्न करने वाली है। उपर्युक्त पद मे 'शका' और 'चिता' सचारियो का सम्मिश्रण हुआ है ।

शृगार रस प्रधान काव्य मे यदि बीच-बीच मे करुण रस का भी वर्णन हो तो करुण रस के कारण वह करुण प्रधान हो जाय । वियोग-स्थिति मे यदि नायक-नायिका को पुनर्मिलन की आशा हो तो जो भी दु ख की अव्यक्ति होती है वह विप्रलभ शृगार के अन्तर्गत आता है । अवश्य ही 'वैदेही-वनवास' का विप्रलभ शृगार बहुत ही सयत है । वैदेही, वियोग की अवस्था में विलाप नही करती, उनमें उद्विग्नता की अधिकता नही । वैदेही, वियोग में छटपटाती नही हैं । वे अपने दु ख की कथा का गान नहीं करतीं । वैदेही को अपने कर्तव्य का पूर्ण ज्ञान है । वे प्रकृति से शिक्षा

लेती और लोगों को कर्तव्य की शिक्षा देती दिखाई पडती हैं।

वे विरह की दशा में उन्मत्त नही हैं, परन्तु उनका जीवन अत्यत करुणापूर्ण है और करुण स्थिति मे वे पशु-पक्षियो, पेड-पौधो की सेवा करती है। उनकी विरह से उत्पन्न वेदना धैर्य और गभीरता के भार से बोझिल है। इस लिए 'वैदेही-वनवास' में करुण रस की प्रधानता नही मानी जा सकती। 'वैदेही-वनवास' मे जो विरह की अद्भुत व्यजना है वह अत्यत सयत है। उसमे किसी प्रकार का उद्वेलन नहा। काव्य मे करुणा की अन्तर्धारा अवश्य प्रवाहित है परतु इस के कारण उसे करुण रस प्रधान काव्य नही कहा जा सकता। 'वैदेही-वनवास' वास्तव मे विप्रलभ शृगार प्रधान काव्य ही है। वैदेही के हृदय का ताप आतरिक है, उसमें वाह्य प्रदर्शन नही है। उनका विलाप बडा ही सयत है—

सीता देवी ने उनको।
परमादर से बेठाला॥
लोचन में आये जल पर-
नियमन का परदा डाला॥

वैदेही की ऑखे वियोग से कातर है। उनमे अश्रु भरे हुए है, पर उनकी सयत भावना उसे रोके हुए है। वे सयम से काम लेती है। उन्हे अपनी मर्यादा का, अपने पद का पूर्ण ध्यान है। वे अपने हृदय की व्याकुलता छिपाना चाहती है, परतु वह व्याकुलता छिप नही रही है। शत्रुघ्न को देखकर उन्हे अपने प्रियतम का स्मरण हो आता है। वे अयोध्या आदि का समाचार पूछ कर अपना ध्यान प्रिय की ओर से हटाना चाहती है परंतु उनका मन नही मानता। वह सहसा वाणी के रूप में फूट ही पडता है—

फिर कहा तात बतला दो।
रघुकुल - पुगव है कैसे ? ॥
जैसे दिन कटते थे क्या ।
अब भी कटते है वैसे ? ॥

'वैदेही-वनवास' के विरह-काव्य की एक यह भी विशेषता है कि प्रकृति की सामग्री उद्दीपन के रूप मे प्रयुक्त नही हुई है। विरहावस्था मे प्रकृति का सौदर्य, राका रजनी, वर्षा, पुष्प आदि मन मे पीडा उत्पन्न करते है परतु ये तत्व वैदेही के मन मे दु ख उत्पन्न नही करते। चाँदनी उनके हृदय को दग्ध नही करती वरन् उससे उन्हे शान्ति मिलती है —

किसी प्रिय सखी सदृश प्रिये तुम,
लिपटी हो मेरे तन से।
हो जीवन-सगिनी सुखित-
करती आती हो शिशुपन से।

इस चाँदनी का अवलोकन कर उनको अपने प्रियतम का स्मरण हो आता है और उनका विरह, उन्माद की अवस्था तक पहुँच जाता है। जिस प्रकार एक विक्षिप्त, जड और चेतन मे भेद नही समझता और जड से भी वार्तालाप करने लगता है उसी प्रकार साता भी चाँदनी से बाते करने लगती है —

ऐसा कौन न्यूनता मुझमे है,
जो विरह सताता है।
सिते! बता दो मुझे क्यो नही,
चन्द्रवदन दिखलाता है।

कोमलता की मूर्ति सिते हो,
हितैरता कहलाओगी।

राम के श्याम-वदन का स्मरण हो आता है। नीचे के पद में 'स्मृति' सचारी का उदाहरण देखिये'—

यह सोच रही थी प्रियतम।
तन सा ही है यह सुन्दर॥
वैसा ही है दृग रजन।
वैसा ही है महा मनोहर॥
मै सारे गुण जलधर के।
जीवन-धन में पाती हूँ॥
उसकी जैसी ही मृदुता।
अवलोके बलि जाती हूँ॥

जब वियोगी को प्रिय का स्मरण हो आता है तब एक-एक कर उसके गुण की याद भी आने लगती है। वियोगी, प्रिय के 'गुण-कथन' द्वारा अनुपम शाति प्राप्त करता है। वैदेही भी राम के गुण-कथन द्वारा शाति प्राप्त करती है —

पर निरपराध को प्रियतम-
ने कभी नही कलपाया।
उनके हाथो से किसने।
कब कहाँ व्यर्थ दुख पाया।

इस प्रकार गुण-कथन कर अव्यक्त रूप से वैदेही अपने हृदय को परितोष देती है कि उन्हे भी प्रियतम, दुख के दावानल मे अधिक दिनो तक दग्ध न होने देगे। विरही जब विरहावस्था में प्रिय के गुणो का एक-एक कर कथन करता है तब ऐसी तन्मयता उत्पन्न होती है कि विरही मनसा प्रिय का दर्शन करने लगता है। यह मनसा-मिलन विरही के लिए अत्यन्त आनन्दप्रद होता है। वैदेही की भी मेघ को देखकर यही दशा हो रही है.—

जिस समय जनकजा घन की।
अवलोक दिव्य - श्यामलता।
थी प्रियतम - ध्यान - निमग्ना।
कर दूर चित्त - आकुलता।

विरही की यह ध्यानावस्थित स्थिति, यह निमग्नता, यह मानसिक-मिलन विरह का उच्चतम रूप है। ऐसी अवस्था मे वियोगी प्रिय से तादात्म्य का अनुभव करता है।

'प्रियप्रवास' की राधा और 'वैदेही-वनवास' की वैदेही मे कुछ चारित्रिक भिन्नताएँ है। राधा के समान वैदेही बैठकर विलाप नही करती रहती। उनके पास इतना समय ही नही कि वे बैठ कर ऑसू बहाये। इनके विरह मे अकर्मण्यता की अपेक्षा अत्यधिक कार्यशीलता है। राम लोक-रजन की भावना से लोक-सेवा मे निरत है। वैदेही भी यथाशक्ति आश्रम के पशु-पक्षियो, फूल-पत्तो की सेवा करती रहती है। 'प्रियप्रवास' मे राधा के माध्यम से हरिऔध जी ने जिस प्रकार वियोग-जन्य नारी-सुलभ आकुलता की अभिव्यक्ति की है उसका वैदेही मे अभाव है। वैदेही में वह असयत विरह-जन्य आकुलता का दर्शन नही होता। इसका मुख्य कारण यह है कि वैदेही की स्थिति राधा से बहुत भिन्न है। राम की कथा की भी मर्यादा है। पुरुषोत्तम राम और वैदेही अलौकिक पुरुष है अत उनका विरह साधारण सासारिक नारी-पुरुषो के समान तो नही ही होगा। राम अथवा वैदेही का विरह, खाट पर पडे तारे गिननेवाले विरहियो का विरह नही ह। इनके विरह पर आत्म सयम का अकुश है। उनका विरह अत्यत मर्यादित है। दूसरी बात यह है कि काव्यो के प्रणयन के समय कवि अपने आदर्शवादी रूप को नहीं भूल

सका है। उसकी उपदेशात्मक प्रवृत्ति सदा वर्तमान दीख पडती है। अत कवि ने वैदेही के विरह को प्रदर्शन की सामग्री नही बनायी है। उनका विरह व्यक्त नही होता। वह गाभीर्य और धैर्य के रूप में परिवर्तित होकर शिक्षा लेने अथवा देने के रूप मे प्रकट होता है। हरिऔध जी मे 'प्रियप्रवास' के समय की अनुभूति और व्यजना अब दूसरे रूप में परिवर्तित हो चुकी थी। अत विरह की, 'प्रियप्रवास' के समान उत्कट व्यजना का दर्शन 'वैदेही-वनवास' मे होना कठिन हो गया।

कवि ने राम का विरह, उनके हृदय की आकुलता व्यक्त करने के लिए ही सत्रहवें सर्ग की रचना की, परतु राम का विरह पूर्णता नहीं प्राप्त कर सका। राम का विरह तो 'स्मृति' और 'असूया' तक ही सीमित रह जाता है। शम्बूक-वध के प्रसग मे जब राम पचवटी मे पहुँचते है तब पचवटी को देख कर पुरानी स्मृतियाँ जागृत हो उठती है और उन्हे वैदेही का स्मरण हो आता है। वे वैदेही का गुण-गान करने लगते है—

बडे - बडे - दुख के अवसर आये तदपि।
कभी नही दिखलाईं वे मुझको दुखी।
मेरा मुख - अवलोके दिन था बीतता।
मेरे सुख से ही वे रहती थी सुखी।

पचवटी में जब वैदेही, राम के साथ थी तब वहाँ की लताएँ और अन्य वस्तुएँ उनके हृदय मे सुख का सचार करती थी परतु आज वे ही सुखप्रद वस्तुएँ प्रियतम के अभाव मे दु.ख उत्पन्न करनेवाली हो गयी है.—

शूल के जनक से वे होते ज्ञात थे।
फूल देख कर चित्त भूल पाता न था।

देख तितिलियों को उठते थे तिलमिला।
भौरों का गुजार उन्हे भाता न था।

कल निनादिता - केलिरता - गोदावरी।
बनती रहती थी जो मुग्धकरी बड़ी।
दिखलाती थी उस वियोग-विधुरा समा।
बहा बहा आँसू जो भू पर हो पड़ी।

उपर्युक्त उद्धरणो द्वारा विरह की दशाओ का स्पष्टीकरण किया गया है। 'वैदेही-वनवास' मे इन दशाओ की उत्कट अभि-व्यजना नही मिलती। वे साधारण भाव-भूमि तक ही पहुँच पायी है। उन्माद, प्रलाप, उद्वेग आदि विरह-जन्य उच्च दशाओ की विपद व्यजना 'वैदेही-वनवास' मे नही हुई है। वास्तविक स्थिति यह है कि मर्यादा की भावना ने, कर्तव्य के विचार ने उनके विरह के उद्रेक को दबा दिया है।

'वैदेही-वनवास' में विप्रलभ शृगार के उपरान्त करुण रस की अधिकता है, अत अब हमे करुण रस के संबध में थोडा विचार कर लेना चाहिये। चित्रशाला में घूम-घूम कर राम चित्रो का अवलोकन कर रहे है उसी समय दुर्मुख नामक चर आकर उन्हे लोकापवाद का समाचार सुनाता है। समाचार सुनते ही राम की मुद्रा अत्यत गभीर हो जाती है। भावी अनिष्ट की छाया उनके मुख को म्लान कर देती है। निम्नलिखित पक्तियो मे 'चिन्ता' नामक सचारी विभाव व्यक्त हुआ है —

राम ने बन कर बहु-गभीर।
सुनी दुर्मुख के मुख की बात।।
फिर उसे देकर गमन - निदेश।
सोचने लगे बन बहुत शात।।

राम की 'चिता' यही तक समाप्त नही होती। वे गुरु वशिष्ठ के पास अपने हृदय की व्यथा कहने तथा सत्परामर्श लेने जाते है। वे अत्यत चिंतित है, उनकी रग-रग मे शिथिलता का सचार हो गया है। उनके पैर भी शीघ्रता से नही उठ रहे है, 'चिता' के कारण उनमे आलस्य का सचार हुआ है। निम्नलिखित पक्तियो मे चिता और उससे उत्पन्न होनेवाली अलसताकी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है'—

जब आकर अनुकूल कूल पर वह लगी।
तब रघुवश-विभूषण उस पर से उतर।
परम-मन्द-गति से चल कर पहुँचे वहाँ।
आश्रम मे थे जहाँ राजते ऋषि प्रवर।

राम, वशिष्ठ के यहाँ से लौटकर आने के पश्चात वैदेही के सम्मुख वन-गमन का प्रस्ताव रखते है। सीता, प्रस्ताव सुनते ही हतप्रभ हो जाती है। उनका हृदय बैठने लगता है। आँखो मे आँसू उमड आते है परतु वे अपने पर सयम स्थापित करती है। वे अपने चित्त की वृत्तियो को रोककर प्रियतम का प्रस्ताव स्वीकार करती है। परन्तु उनके मनके एक 'शका' है। वे अनुभव करती है कि उनका हृदय राम के वियोग-जन्य-दु ख को नही सहन कर पायेगा। वे आतुर होकर राम से कहती है —

जनक-नन्दिनी ने दृग में आते आँसू को रोक कहा।
प्राणनाथ सब तो सह लूँगी क्यो जायेगा विरह सहा॥
सदा आपका चन्द्रानन अवलोके ही मे जीती हूँ।
रूप-माधुरी-सुधा तृषित बन चकोरिका सम पीती हूँ॥

'वैदेही-वनवास' में सबसे कारुणिक दृश्य तो उस समय उपस्थित होता है जब वैदेही वन-गमन के लिए अपनी सासो और

बहनो से विदा लेने के लिए उनके पास जाती है। वैदेही का हृदय इस लिए दुखित है कि उनकी अनुपस्थिति मे कही उनके प्रियतम को कष्ट न हो। इस कष्ट की आशका से ही उनके हृदय में शोक उत्पन्न होता है। वे भली-भॉति जानती है कि उनके प्रिय की माता उनकी सब सुख-सुविधा का ध्यान रखेगी। उनके रहते राम को किसी प्रकार का कष्ट न होगा परतु फिर भी चलते समय वे माताओ से अपने हृदय की कथा कह ही डालती है —

आज्ञा लेने मे आई हूँ।
और यह निवेदन है मेरा॥
यह दें आशीर्वाद सदा ही।
रहे सामने दिव्य सवेरा॥

दुख है अब मैं कर न सकूँगी।
कुछ दिन पद पकज की सेवा॥
आह प्रति दिवस मिल न सकेगा।
अब दर्शन मजुल तम-मेवा॥

माता की ममता है मानी।
किस मुँह से क्या सकता हूँ कह॥
पर मेरा मन नही मानता।
मेरी विनय इसलिए है यह॥

है गुणवती दासियाँ कितनी।
है पाचक पाचिका नही कम॥
पर है किसी में नही मिलती।
जितना वाछनीय है सयम॥

जरा जर्जरित स्वय आप हैं।
है क्षन्तव्य धृष्टता मेरी॥

इतना कह कर जननि आपकी ।
केवल दृष्टि इधर है फेरी ।।

वैदेही कहने को तो अपने हृदय की व्यथा कह जाती हैं परतु उन्हे मर्यादा का भी ध्यान है। वे यह समझ रही है कि छोटे मुँह वे बडी बात कर रही है। अत वे माता से अपनी धृष्टता के लिए क्षमा भी माँग रही है। वैदेही की उक्तियो के एक-एक शब्द से व्यथा उमड रही है।

कौशल्या माता यह जानती है कि वैदेही शुभ कार्य के लिए यात्रा कर रही है ओर ऐसे अवसर पर रोना अपशकुन है फिर भी उनके नेत्रो मे जल भर आता हे, आँसू रोके से भी नही रुकते। कौशल्या की बेबसी का चित्र देखिये —

किन्तु नही रोके रुकता है।
आँसू आखो मे है आता ।।
समझाती हूँ पर मेरा मन।
मेरी बात नही सुन पाता ।।

करुण रस का एक सुन्दर उदाहरण सुकृतिवती का गान है। वैदेही के वन-गमन के कारण प्रासाद सूना हो गया है, शुक और सारिका की कथा अकथनीय है इसी का वर्णन करुणामूत्ति बन कर वह कर रही है —

आकुल आँखें तरस रही है।
बिना बिलोके मुख - मयक-छबि पल पल आँसू बरस रही है ।।
दुख दूना होता जाता है, सूना घर धर धर खाता है।
ऊब ऊब उठती हूँ मेरा जी रह रह कर घबराता है ।।
दिन भर आहें भरती हूँ मै तारे गिन-गिन रात बिताती।
आ अन्तस्तल मध्य न जानें कहाँ की उदासी है छाती ।।

शुक ने आज नहीं मुँह खोला नही नाचता दिखलाता है।
मैना भी है पड़ी मोह में उसके दृग से जल जाता है॥
देवि! आप कब तक आयेंगी आँखें है दर्शन की प्यासी।
थाम कलेजा कलप रही है पड़ी व्यथा वारिधि में दासी॥

यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि 'प्रियप्रवास' के समान 'वैदेही वनवास' में करुण रस का सुन्दर परिपाक नही हुआ है। विदा की बेला मे भी वैदेही अपनी बहनो को पातिव्रत जीवन का उपदेश देती हैं। कौशल्या आदि हार्दिक पीड़ा व्यक्त करने के स्थान पर वैदेही के गुणो की प्रशसा करती हैं।

'वैदेही वनवास' मे वात्सल्य रस के उदाहरण पद्रहवे सर्ग मे ही मिलते है। सीता जी लव-कुश के साथ सुरसरि तट पर बैठी उन्हे खिला रही है। लव कुश की उस समय की बाल सुलभ क्रीडाएँ वात्सल्य रस का सुन्दर उदाहरण है —

यह सुन लव ने माता का अचल पकड।
कहा ठुनुक कर अम्मा हम लेंगे मुकुट॥
सीता ने सुत चिबुक थाम कर यह कहा।
तात! तुमारे पिता तुम्हें देंगे मुकुट॥

इसी समय कतिपय चमकीली मछलियाँ।
पुलिन सलिल में तिरती दिखलाई पड़ी॥
उन्हे देखने लगे लव किलक किलक कर।
कुश की चचल आँखें भी उन पर अड़ीं॥

काव्य परम्परानुसार नामकरण सस्कार ओर पधाई का वर्णन भी हुआ है। मत्रणा-गृह में क्रुद्ध होकर जव लक्ष्मण ने अपने भाव व्यक्त किये है उस समय की पक्तियाँ रौद्र रस का सुन्दर उदाहरण हैं —

सँभल कर वे मुँह को खोलें।
राज्य में है जिनको बसना।
चाहता है यह मेरा जी।
रजक की खिँचवालूँ रसना।

निम्नलिखित उद्धरण को अद्भुत रस का उदाहरण कहा जा सकता है—

ज्योंही पति - प्राणा ने पति - पद - पद्म का।
स्पर्श किया निर्जीव - मूर्ति सी हो गईं॥
और हुए अतिरेक चित्त उल्लास का।
दिव्य-जोति में परिणत वे पल में हुईं॥

'वैदेही-वनवास' मे अधिकतर शृगार एव करुण के ही उदाहरण हैं। शात रस के भी उदाहरण यत्र-तत्र अनेक स्थलो पर मिल जाते है। अन्य रसो के चित्र 'वैदेही-वनवास' मे नही मिलते। रस के किसी चित्र मे पूर्णता उत्पन्न करने के लिए अनुभावो का उपयोग आवश्यक होता है, परतु 'वैदेही-वनवास' मे अनुभाव-चित्रण उतने नही मिलते जितना अपेक्षित है। सञ्चारियो का भी 'वैदेही-वनवास' मे अभाव है।

****

'वैदेही वनवास' मे प्रकृति-चित्र

मनुष्य और प्रकृति का अभिन्न सबध है। मनुष्य प्रकृति की गोद मे उत्पन्न होता है, जीवन व्यतीत करता और अन्त में शाति लाभ करता है। प्रकृति की छाया मनुष्य पर पडती है और यदि वह छाया सहज तथा स्वाभाविक रही तो उसका प्रभुत्व बडा ही दिव्य होता है, परतु अधिकतर मनुष्य अपनी भावनाओ की प्रतिच्छाया प्रकृति में देखता रहा है। यदि वह सुख में रहा है तो उसने प्रकृति को अपने सुख के उद्दीपन के रूप मे प्रयोग किया है और यदि वह दु ख मे रहा है तो उसने प्रकृति को अपने दु ख की वृद्धि करनेवाले साधन के रूप मे देखा है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य प्रकृति को देखकर अपनी मानसिक स्थिति के अनुसार हॅसता और रोता रहा है। प्रकृति एक अलौकिक रगमच के समान है जहॉ मानव, पात्र के रूप में अपने जीवन का अभिनय करता है। प्रकृति का यह उद्दीपक रूप तो है ही, साथ ही प्रकृति का अपना एक स्थायी सौंदर्य भी है। वह स्थायी सौंदर्य अनिर्वचनीय है। जब मनुष्य तटस्थ भाव से इस स्थायी सौंदर्य का अनुभव करता है तो यह प्रकृति जीवन मे प्रेरणा प्रदान करती है और मनुष्य की भावना को अत्यत उच्च स्तर पर ले जाने में सक्षम होती है। प्रकृति का यह सरल और स्वाभाविक रूप शिशु की मुस्कान की तरह है। जिस प्रकार व्यथित से व्यथित हृदय भी शिशु की मुसकान देखकर अपनी व्यथा को

कुछ क्षणो के लिए भूल जाता है उसी प्रकार सरल सौंदर्यमय प्रकृति का अवलोकन कर मनुष्य कुछ क्षणो के लिए प्रकृति से शाति अर्जित करता है। एक बात और है, मनुष्य के इस भौतिक स्वरूप का निर्माण प्रकृति के पच तत्वो से हुआ है। स्वभावतया इन तत्वो के कारण मनुष्य प्रकृति की ओर आकर्पित होता है। मनुष्य तो प्रकृति के रूप से केवल प्रभावित मात्र होता है। अन्य जीव—पशु-पक्षी आदि तो प्रकृति की गोद मे ही सुख का अनुभव करते है। प्रकृति के साहचर्य से जहाँ उन्हे पृथक् किया गया वे जल मे से निकाली गयी मछली के समान तडपने लगते है। अत प्रकृति, जीवन का एक मुख्य अश है, और इस अश की अवहेलना नही की जा सकती। कवि-ससार भी प्रकृति का क्रमिक विकास है और इस ससार मे ही कवि रहता है। कवि, ससार तथा सासारिक तत्वो से अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त कर उन्हे काव्य के रूप मे मूर्त रूप प्रदान करता है। कवि की अनुभूति के अनुसार ही ये चित्रण होते है। जिसकी जितनी गहरी अनुभूति होती है उस कवि के चित्र उतने ही सरस और मार्मिक होते है। कवियो ने प्रकृतिजन्य अनुभूतियो को अपनी वृत्ति तथा मानसिक स्थिति के अनुसार अनेक रूपो मे चित्रित किया है। हिन्दी साहित्य मे प्रकृति के निम्न रूप के चित्रण प्राप्त होते है—

१ प्रकृति के तटस्थ रूप का वर्णन।
२ प्रकृति का उद्दीपन रूप मे वर्णन।
३ प्रकृति का सवेदनशील रूप।
४ प्रकृति का लोक-शिक्षात्मक रूप।
५ वातावरण के रूप मे।

६ काव्य के अलकार के रूप मे ।
७ सदेश-वाहिका के रूप मे ।
८ प्रकृति का मानव रूप मे चित्रण ।
९ रहस्यात्मक रूप मे ।
१० प्रकृति का प्रतीकात्मक रूप मे चित्रण ।

हिन्दी-साहित्य मे प्रकृति-चित्रण की एक परम्परा है। यह परम्परा बहुत कुछ सस्कृत-साहित्य के आधार पर निर्मित हुई, परतु आगे चलकर रीति-कालीन साहित्य के समय इस परम्परा का विकृत रूप हमारे सम्मुख आता है। रीति-कालीन कवियो ने प्रकृति को नायक-नायिका के हाथो का खिलौना बना दिया। नायक नायिका की भावना के जाल मे ही प्रकृति बदिनी हो गयी। प्रकृति का केवल यही कार्य रह गया था कि वह नायक-नायिका के दु ख मे दु खी हो और सुख मे सुखी हो। प्रकृति का अपना स्वतत्र व्यक्तित्व समाप्त हो गया था। नायिका के वियोग के समय यदि प्रकृति के पुष्प कही खिले अथवा हँसते दीख पडे तो उन्हे अप शब्दो का शिकार होना पडता था। केवल उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण की परम्परा पर्याप्त दिनो तक चलती रही। नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न होने पर द्विवेदी युग मे जब भाषा का परिष्कार हाने लगा तब प्रकृति-चित्रण के इस सकीर्ण रूप की ओर भी कवियो ने ध्यान दिया। प्रकृति का उबानेवाला उद्दीपक रूप कष्टकर प्रतीत होने लगा। सर्व प्रथम प्रकृति को इस कारा से मुक्त करने का प्रयास हरिऔध जी ने ही किया। अवश्य ही परपरा का सस्कार उन पर भी था। अतः कही कही प्रकृति के उद्दीपन रूपो का भी वर्णन उन्होने किया। प्रकृति के तटस्थ और शुद्ध रूप का दर्शन हमें सर्व प्रथम 'प्रियप्रवास' में होता है।

हरिऔध जी की यह व्यक्तिगत विशेषता है कि वे प्रकृति के शुद्ध वातावरण के बीच अपने काव्य के नायक-नायिकाओ को लाकर उपस्थित कर देते हैं और वे प्रकृति के रगमच पर जीवन का अभिनय करते है। 'प्रियप्रवास' के प्रकृति-चित्रण का विश्लेषण करते समय हमने यह स्पष्ट करने का यत्न किया था कि हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' के लगभग सभी सर्ग प्रकृति-चित्रण से ही प्रारभ होते हैं। 'वैदेही-वनवास' तो इस दृष्टि से और भी आगे बढा हुआ है। इसके भी सर्गों की प्रथम पक्तियो का अवलोकन कीजिए—

प्रथम सर्ग—'लोक रजिनी उषा-सुन्दरी रजन रत थी।'
द्वितीय सर्ग—'अवध के राज मन्दिरों मध्य। एक आलय था बहु छबि-धाम॥'
चतुर्थ सर्ग—'हरी भरी तरु-राजि कान्त कुसुमालि से।' (तृतीय पद)
पचम सर्ग—'प्रकृति सुन्दरी विहँस रही थी चन्दानन था दमक रहा।'
षष्ठ सर्ग—'प्रवहमान प्रात समीर था। उसकी गति मे थी मथरता॥'
सप्तम सर्ग—'अवध पुरी आज सज्जिता है। बनी हुई दिव्य सुन्दरी है॥'
अष्टम सर्ग—'था प्रभात का काल गगन-तल लाल था।'
नवम सर्ग—'था सध्या का समय भवन मणिगण दमक।'
दशम सर्ग—'प्रकृति का नीलाम्बर उतरे। श्वेत-साड़ी उसने पाई॥'
एकादश सर्ग—'बादल थे नभ में छाये। बदला था रग समय का॥'
चतुर्दश सर्ग—'प्रकृति-सुन्दरी रही दिव्य-वसना बनी।'
पचदश सर्ग—'परम सरसता से प्रवाहिता सुरसरी।'
षोडश सर्ग—'दिनकर किरणें अब न आग थी बरसाती।'
सप्तदश सर्ग—'पहन हरित-परिधान प्रभूत-प्रफुल्ल हो।'
अष्टादश सर्ग—'शीत काल था वाष्यमय बना व्योम था।'

'प्रियप्रवास' के १२ सर्गों का तथा 'वैदेही-वनवास' के १५ सर्गों का प्रारभ प्रकृति-चित्रण से होता है। 'प्रियप्रवास' में

तो प्रकृति का उद्दीपन रूप में भीचित्रण हुआ है परतु 'वैदेही-वनवास' में शुद्ध तथा तटस्थ प्रकृति-चित्रण की अधिकता है। 'वैदेही-वनवास' में सवेदनात्मक प्रभाव धूमिल हो गया है, अत प्रकृति स्वतन्त्र रूप से अपनी छटा दिखा सकने मे समर्थ हुई है। प्रकृति-चित्रण के अवसर पर 'प्रियप्रवास' में परम्परा का निर्वाह भी हुआ है, अत पेडो, पुष्पो और फलो के नामो की लम्बी तालिका दी गयी है। हरिऔध जी ने इस परम्परा का 'वैदेही-वनवास' मे कुछ परित्याग किया है।

हरिऔध जी ने सस्कृत-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। 'वैदेही-वनवास' की रचना के समय तो वे कई महीनो तक वाल्मीकीय रामायण आदि आधार ग्रथो का गहन अध्ययन करते रहे। इस लिए उनके प्रकृति चित्रो पर वाल्मीकीय रामायण के प्रकृति-चित्रण का कुछ प्रभाव पडा है। परन्तु यह प्रभाव अत्यत धुँधला है और कवि ने अपने स्वतत्र व्यक्तित्व का निर्वाह किया है।

पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दी-साहित्य मे प्रकृति के तटस्थ और शुद्ध रूप का चित्रण बहुत कम हुआ है। वर्तमान समय के कुछ कवियो ने अवश्य प्रकृति के रूप को, सौंदर्य को स्वतंत्र रूप से देखा है। हरिऔध जी के 'वैदेही-वनवास' मे प्रकृति के शुद्ध रूपो का चित्रण बहुलता से हुआ है। हरिऔध जी ने वाल्मीकि और वशिष्ठ-आश्रम का बडा ही सुन्दर वर्णन किया है। इन प्रसगो का प्राकृतिक वातावरण बडा ही शान्ति-प्रद और हृदयग्राही है। दोनो ही आश्रम प्रकृति की गोद में ही स्थित हैं, अत. हरिऔध जी को प्रकृति-चित्रण करने का अवसर भी मिला। हरिऔध जी ने इन आश्रमो का वर्णन करते समय उनकी सात्विकता, शुद्धता और पवित्रता पर

विशेष रूप से दृष्टि रखी है। ऋषियों-महर्षियों के आश्रम की सब से बड़ी विशिष्टता यह होती है कि इसकी सीमा के भीतर पहुँचते ही ससार के सब प्राणी राग-द्वेष और भेद-भाव भूल जाते हैं। प्रकृत्या जिनमें वैर-भाव है वह भी आश्रम में पहुँचते ही दूर हो जाता है और वे भाई-भाई की तरह व्यवहार करने लगते हैः—

मद - मद गति से गयद चल चल कही।
प्रिय - कलभों के साथ केलि मे लग्न थे॥
मृग-शावक थे सिंह - सुअन से खेलते।
उछल कूद में रत कपि मोद निमग्न थे॥

आश्रम मे प्रकृति का भी रूप कितना सात्विकता पूर्ण हो जाता है इसका उदाहरण देखिये —

कमल - कोष में कभी बद्ध होते न ये।
अन्धे बनते थे न पुष्प - रज से भ्रमर॥
काँटे थे छेदते न उनके गात को।
नही तितिलियों के पर देते थे कतर॥

आश्रम का वातावरण यज्ञादि के कारण पूर्ण सात्विक रूप मे सम्मुख उपस्थित होता है.—

हवन क्रिया सर्वत्र सविवि थी हो रही।
बड़ा-शान्त बहु-मोहक-वातावरण था॥
हुत - द्रव्यों से तपोभूमि सौरभित थी।
मूर्तिमान बन गया सात्विकाचरण था॥

विद्यालय का वर-कुटीर या रम्य - थल।
आश्रम के अन्यान्य - भवन उत्तम बडे॥
परम - सादगी के अपूर्व आधार थे।
कीर्ति पताका कर में लेकर थे खड़े॥

अभी अभी सूर्य ने अपनी आँखे खोली है। आकाश मे लाली छा गयी है। वृक्षो के शिखर हिल रहे है। हिरण तन्द्रावस्था मे खड़े हुए सरल भाव से दृश्य देख रहे है, अपने तन्द्राजन्य आलस्य को दूर करने के लिए वे अँगडाई ले रहे है। कवि ने प्रकृति और प्रकृति के बीच रहनेवाले जीवो का कैसा सूक्ष्म अध्ययन किया है, यह इस उद्धरण से स्पष्ट होता है —

जहाँ तहाँ मृग खडे स्व भोले नयन से-
सभय मनोहर दृश्य रहे अवलोकते ॥
अलस - भाव से विलस तोडते अग थे।
भरते रहे छलाँग जब कभी चौकते ॥

वैदेही रथ पर बैठी वनवास के लिए जा रही है। यात्रा के समय मार्ग की दृश्यावली का अवलोकन कीजिए —

चला जा रहा दिव्य यान था।
अजस्र था टाप रव सुनाता ॥
सकल-घटियाँ निनाद रत थी।
कभी चक्र घर्घरित जनाता ॥

हरे भरे खेत सामने आ।
भभर रहे भागते जनाते ॥
विविध रम्य आराम भूरि-तरु।
पक्ति - वद्ध थे खडे दिखाते ॥

कही पास के जलाशयो से।
विहग उड़ प्राण थे बचाते ॥
लगा लगा व्योम-मध्य चक्कर।
अतीव कोलाहल थे मचाते ॥

कही चर रहे पशु विलोक रथ।
चौक चौंक कर थे घबराते॥
उठा उठा कर स्वकीय पूँछे।
इधर उधर दौड़ते दिखाते॥

घोड़ो की टाप की आवाज, घटियो का निनाद, रथ के चक्र की घर-घर ध्वनि, पेड-पल्लवो का रथ के चलने के कारण भागता हुआ दिखाई पडना आदि रथ के चलने का सजीव दृश्य हमारे सम्मुख उपस्थित कर देते है। जब वन-प्रान्त से होकर कोई यान चलता है तब पक्षी अपनी जान बचाने के लिए उड़ने लगते हैं, पशु पूँछ उठा कर किस प्रकार यान से दूर भाग कर अपनी रक्षा का यत्न करते है इस का बडा सजीव चित्रण उपर्युक्त पक्तियो मे चित्रित है। प्रकृति के ये शुद्ध चित्रण किस के हृदय पर प्रभाव नही डालते। कवि के सम्पूर्ण वर्णन से हमारे सामने एक पूरा चित्र आता है। इस चित्र को हम सश्लिष्ट-चित्रण कह सकते है। पक्तियॉ पढ़ते-पढ़ते ऐसा प्रतीत होता है कि मानो पाठक भी रथ मे बैठा हुआ यात्रा कर रहा है। इन पक्तियो के द्वारा अर्थ के साथ ही बिम्ब भी ग्रहण होता है।

महाकाव्यो की परम्परा के अनुसार फूल-फल के वृक्षो का नाम गिनाना भी एक आवश्यक कला समझी जाती है। इस प्रकार के वर्णन का प्रभाव हृदय पर नही पडता और न हमारे सामने कोई चित्र ही स्पष्ट हो पाता है। हरिऔध जी ने भी कही-कही परम्परा का निर्वाह किया है। चतुर्दश सर्ग में बसत-वर्णन के समय उन्होने वृक्षो की एक लम्बी नामावली प्रस्तुत की है'—

किसको नही बना देता है वह सरस।
भला नही कैसे होते वे रस भरे॥

नारगी पर रग उसी का है चढा ।
हैं बसत के रग मे रँगे सतरे ॥
अक विलसता कैसे कुसुम-समूह से ।
हरे हरे दल उसे नही मिलते कही ॥
नीरसता होती न दूर जो मधु मिले ।
तो होता जबीर नीर-पुरित नही ॥
कटकिता-बदरी तो कैसे विलसती ।
हो उदार सफला बन क्यों करती भला ॥
जो प्रफुल्लता मधु भरता भू मे नही ।
कोविदार कैसे बनता फूला - फला ॥
दिखा श्यामली मूर्ति की मनोहर-छटा ।
बन सकता था वह बहु-फलदाता नही ॥
पाँव न जो जमता महि मे ऋतुराज का ।
तो जम्बू निज रग जमा पाता नही ॥

हरिओध जी ने दशम और एकादश सर्गों मे प्रकृति का उद्दीपन के रूप मे वर्णन किया है। परतु उनका उद्दीपन के रूप में प्रकृति का जो चित्रण हुआ है वह रीति कालीन कवियो से बहुत भिन्न है। इसका प्रधान कारण यह है कि हरिऔध जी की वैदेही साधारण नारी नही है। वे जगज्जननी और आदर्श नारी हैं। वे साधारण नारियो के समान अपने दु ख का विलाप नही कर सकती। प्रकृति के सुन्दर चित्रो से उनके हृदय मे ईर्ष्या की भावना नही उत्पन्न होती। ईर्ष्या के कारण मनुष्य सुन्दर को भी असुन्दर समझने लगता है। वैदेही का हृदय निर्विकार है, सयत है। सयोग और वियोग दोनो ही समय मे उन्हे चाँदनी की शीतलता का अनुभव होता है। चाँदनी उनके हृदय में

रति की भावना ही उद्दीप्त करती है। चाँदनी को देखते ही वैदेही अपने प्रियतम की स्मृति मे विह्वल हो उठती हैं —

चारु - हाँसिनी चन्द्र - प्रिया की।
अवलोकन कर बढ़ी रुचिर - रुचि ॥
देखे उसकी लोक - रंजिनी -
कृति, नितांत-कमनीय परम - शुचि ॥

जनक-सुता उर द्रवीभूत था।
उनके दृग से था जल आता ॥
कितने ही अतीत - वृत्तों का।
ध्यान उन्हें था अधिक सताता ॥

वैदेही विरह-विह्वला है परंतु वे असंयत नही हैं। उन्हे चन्द्रिका की सात्विकता का अनुभव होता है। वे चन्द्रिका की रूप माधुरी पर मुग्ध हैं। चन्द्रिका के परोपकारी स्वभाव से उन्हे बडा संतोष प्राप्त होता है —

यह निस्सवार्थ सदाशयता यह,
वर - प्रवृत्ति पर - उपकारी ॥
दोष - रहित यह लोकाराधन,
यह उदारता अति - न्यारी ॥

सत्य सदा शिव होने पर भी विरूपाक्ष भी होता है। सुख प्रदान करनेवाली अनेक वस्तुएँ कभी कभी महान दुःख की जननी होती हैं। मेघ, जल द्वारा संसार का पोषण करता है, धरती को शस्य श्यामला करता है। उनका स्वरूप बडा ही हृदयग्राही होता है, परंतु कभी-कभी ये बादल बिजली गिरा कर महा विनाश भी करते हैं। वैदेही मेघ और चाँदनी की तुलना करती है.—

घूम - घूम करके घन - माला,
रस बरसाती रहती है।
मृदुता सहित दिखाती उसमें,
द्रवण - शीलता महती है।।

है जीवन - दायिनी कहाती,
ताप जगत का हरती है।
तरु से तृण तक का प्रतिपालन,
जल - प्रदान कर करती है।।

किन्तु महा - गर्जन - तर्जन कर,
कँपा कलेजा देती है।
गिरा गिरा कर बिजली, जीवन,
कितनों का हर लेती है।।

अत सदाशयता तुम जैसी,
उसमें नही दिखाती है।
केवल सद्प्रवृत्ति ही उसमें,
मुझे नही मिल पाती है।।

चाँदनी का अकल्याणकारी रूप कभी नही दिखलाई पडता। वह सदा अपनी सुन्दरता, स्निग्धता और शीतलता से सब को प्रसन्न करती है। सीता जी भी चाँदनी की सद्प्रवृत्ति का अनुकरण करना चाहती हैं—

हो प्रभाव - शालिनी कहाती,
प्रभा भरित दिखलाती हो।
तमस्विनी का भी तम हरकर,
उसको दिव्य बनाती हो।।

मेरी तिमिरावृता न्यूनता का,
निरसन त्योंहीं कर दो।
अपनी पावन ज्योति कृपा -
दिखला, मम जीवन में भर दो ॥

कवि ने एकादश सर्ग में वर्षा का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। रंग-बिरंगे बादलों का मुक्ताकाश में घूमना, उनका गरजना, कभी धूप के साथ लुका-छिपी खेलना आदि बड़े ही रमणीय चित्र प्रस्तुत किये गये हैं —

वे पहन कभी नीलाम्बर।
थे बड़े - मुग्धकर बनते ॥
मुक्तावलि वलित अधर में।
अनुपम - वितान थे तनते ॥

बहुश - खडों में बँट कर।
चलते फिरते दिखलाते ॥
वे कभी नभ-पयोनिधि के।
थे विपुल-पोत बन जाते ॥

वे रंग - बिरंगे रवि की।
किरणों - से थे बन जाते।
वे कभी प्रकृति को विलसित।
नीली - साड़ियाँ पिन्हाते।

घन कभी घेर दिन-मणि को।
थे इतनी घनता पाते ॥
जो द्युति-विहीन कर दिन को -
थे अमा समान बनाते ॥

नीलाभ और पीताभ घनो की छवि देख कर वैदेही को घनश्याम राम की स्मृति हो आती है —

मै सारे गुण जल-धर के।
जीवन-धन में पाती हूँ॥
उसकी जैसी ही मृदुता।
अवलोके बलि जाती हूँ॥

राम की छवि की तुलना तो वैदेही ने मेघो से कर दी, परतु तत्काल वे संयमित हो जाती है और उन्हे नीलाभ मेघ और श्याम के बीच अतर का भी अनुभव हो जाता है। वे तत्काल कह उठती है कि, गुणो में भला मेघ श्री राम की समता कैसे कर सकता है —

घन गरज-गरज कर बहुधा।
भव का है हृदय कँपाता॥
पर कान्त का मधुर प्रवचन।
उर में है सुधा बहाता॥

वायु द्वारा लतिकाओ का आलिगन, लतिकाओ का प्रसन्न होकर झूम उठना आदि रति भाव के उद्दीपन मे योग देते है —

आ मन्द-पवन के झोंके।
जब उनको गले लगाते॥
तब वे नितान्त-पुलकित हो।
थे मुक्तावलि बरसाते॥

प्रकृति के सवेदनात्मक चित्रो के भी उदाहरण 'वैदेही-वनवास' मे प्राप्त हो सकते हैं। पुष्प-वाटिका में बैठे राम और वैदेही प्रसन्न चित्त हैं अत उनके हृदय की छाया प्रकृति में भी झलकती है। यत राम और वैदेही प्रफुल्ल है अत प्रकृति भी उत्फुल्ल है —

उपवन था इस समय बना आनन्द वन।
सुमनस-मानस हरते थे सारे सुमन॥
अधिक हरे हो गये सकल तरु पुज थे।
चहक रहे थे विहग वृन्द बहु-मुग्ध बन॥

पंचवटी में पहुँचने पर पूर्व स्मृतियाँ राम को वैदेही का स्मरण दिलाती हैं। उनका चित्त खिन्न हो जाता है। हृदय वेदना से भर जाता है। अपने दु ख की छाया उन्हे प्रवाहिता गोदावरी के जल में भी दीख पडी —

कल निनादिता - केलि - रता - गोदावरी।
बनती रहती थी जो मुग्धकरी बड़ी॥
दिखलाती थी उस वियोग - विधुरा समा।
बहा - बहा आँसू जो भू पर हो पडी॥

विशाल प्रकृति एक पुस्तक के समान है। इस महान पुस्तक से हमें अनेक प्रकार की शिक्षाएँ भी प्राप्त होती है। हरिऔध जी का उपदेशक रूप प्रकृति के माध्यम से 'वैदेही-वनवास' में जाग उठा है। वैदेही को प्रकृति का अवलोकन कराते समय राम प्रकृति के लोक-हित का रूप भी स्पष्ट करने लगते है —

तो समीर को दोषी कैसे विश्व कहेगा।
है वह अपचिति-रत न अत निर्दोष रहेगा॥
है स्वभावत प्रकृति विश्व हित में रत रहती।
इसी लिये है विविध स्वरूपवती अति महती॥

प्रकृति का वाह्य स्वरूप यदा-कदा भले ही सहारक, हानिकर प्रतीत हो, परतु अन्तत वह कल्याणकारी ही है। उसके द्वारा ससार का हित ही होता है —

यदि उसकी विकराल मूर्ति है कभी दिखाती।
तो होती है निहित सदा उसमें हित थाती॥
तप ऋतु आकर जो होता है ताप विधाता।
तो ला कर घन बनता है जग - जीवन - दाता॥

जो आँधी उठ कर है कुछ उत्पात मचाती।
धूल उड़ा डालियाँ तोड़ है विटप गिराती॥
तो है जीवनप्रद समीर का शोधन करती।
नई हितकरी भूति धरातल मे है भरती॥

यही नहीं, कवि ने प्रकृति को दार्शनिक रंग में भी रँगा है —

सृष्टि या प्रकृति कृति को बहुधा कह कर माया।
कुछ विबुधों ने है गुण-दोष - मयी बतलाया॥
इस विचार से है चित् शक्ति कलंकित होती।
बहु विदिता निज सर्व शक्तिमत्ता है खोती॥

महान शिक्षाशास्त्री रूसो का कहना है कि शैशवावस्था में बच्चो को प्रकृति के लीला-क्षेत्र में रख कर उसी के माध्यम से शिक्षा दी जानी चाहिये। वैदेही भी महान शिक्षिका है। नदी की कल्लोल लहरो के माध्यम से वे लव-कुश को उपकार करने की शिक्षा देती हैं —

सरिता सेचन कर तरुओं को सलिल से।
हरा - भरा रख कर उनको है पालती॥
अवसर पर तर रख कर, शीतल तपन में।
जीवन से उनमें है जीवन डालती॥

यथा समय तो उसको छाया - दान कर।
तरुवर भी उस पर बरसाते फूल है॥

उसके सुअनों को देते है सरस - फल ।
सज्जित उनसे रहते उसके कूल है ।।

प्रकृति के चित्रो द्वारा कवि ने वैज्ञानिक सिद्धान्तो का भी स्पष्टीकरण किया है —

मा बोली वे क्यों जल मे मुँह देखते ।
जो है ज्ञान-रहित जो जड़ता धाम है ।।
है छाया - ग्राहिणी-शक्ति विमलाम्बु मे ।
तरु प्रतिबिम्बितकरण उसी का काम है ।।

कवि प्रकृति से रगमच का काम लेता है। जिस प्रकार दृश्यो के बदलने के समय पट - परिवर्तन करके वातावरण बदले जाते है उसी प्रकार कवि जिस प्रकार की घटनाओ का वर्णन करना चाहता है वैसा ही वातावरण प्रकृति के चित्रो द्वारा उत्पन्न करता है। यदि कवि विषाद के दृश्य का वर्णन करता है तो वह उसी प्रकार के प्राकृतिक दृश्यो की व्यवस्था करता है और पट-परिवर्तन के समान ही प्रसग समाप्त होते ही वह दृश्य बदल देता है। हरिऔध जी ने 'वैदेही-वनवास' मे वातावरण उपस्थित करने के लिए प्रकृति का उपयुक्त रीति से उपयोग किया है। वैदेही अपने प्रासाद की अट्टालिका पर तटस्थ भाव से राका रजनी की शोभा का रसास्वादन कर रही है। सहसा प्रकृति की मनोरम छटा मे परिवर्तन के लक्षण दीख पडने लगते है और राका-रजनी धूमिल हो जाती है —

थी सब ओर शाति दिखलाती नियति - नटी नर्तन रत थी ।
फूली फिरती थी प्रफुल्लता उत्सुकताति तरगित थी ।।
इसी समय बढ गया वायु का वेग, क्षितिज पर दिखलाया -
एक लघु - जलद - खण्ड पूर्व में जो बढ वारिद बन पाया ।।

कवि ने इस दृश्य-परिवर्तन द्वारा भावी विषादपूर्ण घटना की पीठिका निर्मित की है। वैदेही का जीवन, चन्द्रिका के समान ही उत्फुल्ल था। सहसा उसे भी मेघ के समान लोकापवाद कीघटना ने धूमिल कर दिया। वैदेही का आशा रूपी राकेश मेघरूपी नैराश्य के घन पटल मे छिप जाता है। विषाद का कीट यही से कथा को प्रभावित करता है और अन्त तक उसे उन्मुक्त नही करता।

वैदेही का ऋषि-कुल मे भेजा जाना निश्चित हो गया है। चारो ओर खिन्नता फैली हुई है। प्रभात भी खिन्न है —

दिनमणि निकले तेजोहत से।
रुक रुक करके किरणें फूटी॥
छूट किसी अवरोधक कर से।
छिटिक छिटिक धरती पर टूटी॥

प्रति दिन के समान आज भी सूर्य प्राची में उदित हो रहा है, परन्तु वह आज भावी विषादपूर्ण घटना के प्रभाव से तेजोहत हो गया है। किरणे भी प्रसन्न होकर धरातल को चूमने के लिए सहज रूप मे नही निकल पा रही है। प्रकृति के इस प्रकार के दृश्यो द्वारा घटना-परिवर्तन का कवि सकेत देता है। विषादपूर्ण घटनाओ के पट परिवर्तन के चित्र तो हमने देखे, अब प्रकृति के दो-एक उल्लासपूर्ण पट परिवर्तन के दृश्य देखे। वाल्मीकि-आश्रम में वैदेही को अयोध्या लौटने की सूचना मिल चुकी है। समाचार सुनते ही उनका हृदय प्रफुल्लित हो गया। प्रकृति भी कितनी प्रसन्न है —

जलती-भुनती लतिका को जीवन मिला।
अविकच वदना पुन विकच वदना बनी॥

कप रही थी जो थोडी भी लू लगे।
अब देखी जाती थी वही बनी-ठनी ॥

वैदेही वाल्मीकि के यहाँ से लौट कर आनेवाली हैं। सम्पूर्ण अयोध्या नव वधू के समान सुसज्जित होकर खडी है। नगर के सब निवासी आनन्द से विभोर हो रहे है। किसे यह ज्ञात था कि नियति कुछ और ही दृश्य दिखानेवाली है। किसे ज्ञात था कि मृदु हास के पूर्व ही नेत्रो से अश्रु प्रवाहित हो जायँगे। प्रकृति इस भावी विषाद की, दु:ख की ओर सकेत करती है—

ऊषा आई किन्तु विहँस पाई नहीं।
रागमयी हो बनी विरागमयी रही ॥
विकस न पाया दिगगना-वर-वदन भी।
बात न जाने कौन गई उससे कही ॥

अचेतन, जीवन-हीन वस्तुओ मे जब चेतन का आरोप किया जाता है तब 'मानवीकरण' का रूप प्रस्तुत होता है। अग्रेजी मे इसे 'परसानीफिकेशन' कहते है। छायावादी कवियो ने मानवीकरण का अपनी कविताओं में अत्यधिक प्रयोग किया है। 'वैदेही वनवास' मे इस प्रकार के मानवीकरण के उदाहरण प्रचुर मात्रा मे नही प्राप्त होते। यत्र-तत्र दो एक चित्र ही वर्तमान है—

थी सब ओर शान्ति दिखलाती नियति-नटी नर्तन रत थी।
फूली फिरती थी प्रफुल्लता उत्सुकतातिं तरगित थी ॥

कवि ने अलकार-योजना के लिए प्रकृति का चित्रण नही किया है। 'वैदेही-वनवास' में साधारणतया अलकारो का अभाव सा है। अधिकतर कवि ने प्रकृति के सहज, स्वाभाविक और सरल चित्रो का ही वर्णन किया है। 'वैदेही-वनवास' में प्रकृति के

सदेश-वाहिका रूप का चित्रण भी नही मिलता। 'प्रियप्रवास' की पवन-दूती के समान कवि ने इसमें किसी प्रकार की सदेश-वाहिका अथवा सदेश-वाहक की कल्पना नही की है।

हरिऔध जी पर छायावादी युग का प्रभाव नहीं पडा था। यद्यपि उनके समय मे ही छायावाद ने बड़े धूम-धाम के साथ हिन्दी-साहित्य क्षेत्र मे प्रवेश किया था और उस समय के बहुत से लोगो ने अपनी लेखनी का परीक्षण इस क्षेत्र मे भी किया, तथापि हरिऔध जी ने इस प्रकार के प्रयोगो से अपने को दूर रखा। यही कारण है कि उनके 'वैदेही-वनवास' मे प्रकृति के रहस्यात्मक और प्रतीकात्मक चित्रो के उदाहरण नही मिलते।

'वैदेही-वनवास' कला और प्रकृति-चित्रण आदि की दृष्टि से हरिऔध जी की सर्वोत्तम कृति है। उस समय तक हिन्दी-साहित्य के काव्यों में प्रकृति के ऐसे शुद्ध चित्रों का वर्णन नही मिलता। प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से 'वैदेही-वनवास' का हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है।



****

'वैदेही-वनवास' की भाषा और शैली

'वैदेही-वनवास' की रचना के पूर्व हरिऔध जी भाषा-सबधी अनेक प्रयोग कर चुके थे। ठेठ हिन्दी, सस्कृत बहुला हिन्दी और 'बोल-चाल' की भाषा के वे आदर्श उदाहरण प्रस्तुत कर चुके थे। भाषा का सौष्ठव उनके प्रत्येक काव्य में दर्शनीय है। 'प्रियप्रवास' अत्यत सस्कृत बहुल हो गया था अत. उसी समय उन्होंने अपने आलोचको का मुँह बद करने के लिए सरल हिन्दी मे 'वैदेही-वनवास' की रचना का वचन दिया था। परतु वे अन्य प्रकार के प्रयोगो मे ऐसे रमे कि अपना वचन शीघ्र पूरा न कर सके। उनकी बोल-चाल-सबधी रचनाओ ने उनका अत्यधिक समय ले लिया और उसके लिए उन्हे बडा परिश्रम भी करना पडा। 'वैदेही वनवास' की रचना के समय उन्होंने अपने सफल प्रयोगो का समन्वय करने का निश्चय किया। 'वैदेही-वनवास' में यदि 'प्रियप्रवास' की छाया का दर्शन होता है तो चौपदो की बहार भी दिखलाई पडती है। कवि ने यदि समस्त पदों का उपयोग किया है तो साथ ही अत्यत सरल बोल-चाल के पदो का भी सृजन किया है। हरिऔध जी के भाषा-सबंधी इतने प्रयोग हैं कि यदि उन्हे किसी के सामने रखा जाय तो वह व्यक्ति यह स्वीकार न करेगा कि ये भाषाएँ और शैलियाँ

एक ही व्यक्ति की हैं। 'वैदेही-वनवास' की भाषा 'प्रियप्रवास' की भाषा नही है। 'वैदेही-वनवास' मे सस्कृत-शब्दो की अधिकता है परतु हिन्दी के तद्भव शब्दो का भी बडी अधिकता से उपयोग हुआ है। 'वैदेही-वनवास' मे हरिऔध जी ने विभिन्न स्तर के लोगो के अनुरूप ही विभिन्न प्रकार की शैलियो का उपयोग किया है।

गुरु वशिष्ठ अथवा वाल्मीकि दार्शनिक पुरुष थे। वे महान नेता थे। उनकी भाषा मे गाभीर्य होना स्वाभाविक है। कवि ने उनके द्वारा सस्कृत-गर्भित भाषा का उपयोग कराया है:—

ममता की प्रिय-रुचियाँ बाधायें पड़े।
बन जाती जनता निमित्त है ईतियाँ॥
विबुध वृन्द की भी गत देती है बना।
गौरव - गर्वित - गौरवितों की वृत्तियाँ॥

तम - परि - पूरित अमा - यामिनी - अक मे।
नही विलसती मिलती है राका - सिता॥
होती है मति, रहित सात्विकी - नीति से।
स्वत्व ममत्व महत्ता - सत्ता मोहिता॥

गुरु वशिष्ठ महान पडित थे, उनकी भाषा का यह रूप अत्यन्त स्वाभाविक है, परतु एक रजक के मुख से भी यदि इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग कवि ने कराया होता तो बडा ही उपहासास्पद दृश्य उपस्थित हो जाता। रजक साधारण कोटि का अपढ़ व्यक्ति है। उसकी भाषा मे ठेठपन और सरलता है। वह ठेठ बोल-चाल की भाषा मे अपने भाव व्यक्त करता है —

चली जा, हो आँखों से दूर।
अब यहाँ क्या है तेरा काम॥

कर रही है तू भारी भूल।
जो समझती है मुझको राम ॥

चौपदो की शैली मे हरिऔध जी ने कितनी भावाभिव्यक्ति की शक्ति प्रदर्शित की है इसका उदाहरण देखिये'—

चाँदनी छिटिक छिटिक छवी से।
छबीली बनती रहती थी ॥
सुधाकर - कर से वसुधा पर।
सुधा की धारा बहती थी ॥

* * *

शरद गौरव - नभ - जल - थल मे।
आज मिलते थे आँके से ॥
कीर्ति फैलाते थे हिल हिल।
कास के फूल पताके से ॥

उपर्युक्त पदो मे अधिकतर हिन्दी के तद्भव शब्दो का ही उपयोग हुआ है। 'वैदेही-वनवास' की भाषा में सस्कृत के शब्दो की बहुलता अवश्य है, परतु उसका रूप ऐसा नही है कि उसे सस्कृत कहने की इच्छा हो। 'प्रियप्रवास' मे समासो की बहुलता है। 'वैदेही-वनवास' मे समासो का उतना अधिक प्रयोग तो नही हुआ है परतु हरिऔध जी ने बडी स्वतत्रतापूर्वक समास-बहुल शब्दो का प्रयोग 'वैदेही-वनवास' मे भी किया है'—

दीर्घ - विलम्बित - श्वेत - श्मश्रु मुख सौम्यता।
थी मानसिक - महत्ता की उद्बोधिनी ॥
शान्त वृत्त थी सहृदयता की सूचिका।
थी विपत्ति-निपतित की सतत प्रबोधिनी ॥

हरिऔध जी में विशेषणो को विशेष्य के अनुसार स्वरान्त करने की भी प्रवृत्ति दिखलाई पडती है —

'पुण्य मयी पावनता भरिता सदव्रता'
परम - प्रबलता तदीयता एकान्तिता'
'सित वसना सरसा परमा - सुन्दरी'

'प्रियप्रवास' मे तो सभवत फारसी के अत्यत प्रचलित एक दो शब्दो का ही उपयोग हुआ है परन्तु 'वैदेही-वनवास' मे कवि ने उदारता से काम लिया है। आवश्यकता पडने पर उन्होने फारसी और एक स्थान पर अग्रेजी शब्द का भी प्रयोग किया है —

'किन्तु समय ने जब से सुन्दर समा दिखाया।'
'आह कलेजा मुँह को आया।'
'बिना किये परवा दुस्तर आवर्त की।'

स्त्रियाॅ अपनी साडियो मे जो बेल टाॅकती है उसे अग्रेजी में 'लैस' कहते है। एक जगह हरिऔध जी ने इस शब्द का भी प्रयोग किया है —

'मिले साटिका - लैस-टँकी लसिता बन पाई।'

हरिऔध जी ने स्वाभाविकता लाने के लिए कही-कही ऐसे शब्दो का भी प्रयोग किया है जो साधारणतया बोल-चाल मे ही प्रयुक्त होते है, परतु ऐसे शब्दो से स्वाभाविकता सजीव हो उठती है। बच्चे जब किसी वस्तु के लिए मचलते हैं तो उसे 'ठुनुकना' भी कहते है। कवि ने बाल-स्वभाव व्यक्त करने के लिए इस शब्द का निम्नलिखित पद में प्रयोग किया है —

यह सुन लव ने माता का अचल पकड़।
कहा ठुनुक कर अम्मा हम लेंगे मुकुट॥

सीता ने सुत-चिबुक थाम कर यह कहा।
तात! तुम्हारे पिता तुम्हें देंगे मुकुट॥

'ठुनुक' शब्द ने उपर्युक्त पक्तियो को सजीव कर दिया है। इस शब्द से लव की स्वाभाविकता भी प्रकट हो रही है।

हरिओध जी की भाषा की सबसे बडी विशेषता प्रसादगुण सम्पन्नता है। 'वैदेही-वनवास' की भाषा मधुर, ओजमयी और प्रसादगुण सम्पन्न है। ग्रन्थ मे सस्कृत-शब्दो का प्रयोग स्वच्छन्दता से हुआ है, परतु इस प्रकार के शब्दो का प्रयोग नही किया गया है जिससे क्लिष्टता अथवा अस्पष्टता उत्पन्न हो।' 'वैदेही-वनवास' में आदि से अन्त तक भाषा का प्रवाह अबाध गति से प्रवाहित हो रहा है। हरिऔध जी की भाषा उनके भावो की सदा चेरी रही हे। हिन्दी जगत मे जैसा भाषा पर अधिकार हरिऔध जी का रहा है वैसा किसी भी साहित्यिक का नही रहा है। उनकी भाषा में न तो कही शैथिल्य दोष है और न किसी प्रकार की दूषित शब्दावली का ही प्रयोग हुआ है। हरिऔध जी की भाषा-क्षमता देखकर मनुष्य आश्चर्य-चकित रह जाता है। हरिऔध जी ने हिन्दी की अनेक शैलियो का प्रवर्तन तो किया ही, उन्होने भाषा के अनेक रूपो को भी अलकृत किया।

****

'वैदेही-वनवास' के छंद और अलंकार-विधान

'वैदेही-वनवास' मे कवि ने अधिकतर उन छन्दो का प्रयोग किया है जिनका प्रयोग द्विवेदी-युग में नही हो रहा था। द्विवेदी-युग मे अधिकतर गीतिका, हरिगीतिका आदि छदो का ही प्रयोग स्वतत्रतापूर्वक होता था। 'वैदेही-वनवास' मे दस विभिन्न छन्दो का उपयोग हुआ है। काव्य का मुख्य छद तिलोकी है। इस मुख्य छन्द के अतिरिक्त रोला, चतुष्पद, ताटक, चौपदे, पादाकुलक, सखी, मत्तसमक, पद और दोहा छदो का प्रयोग हुआ है।

हरिऔध जी भावाभिव्यक्ति के अनुरूप छदो के चयन मे बडे पटु हैं। विषय के, भाव के अनुरूप उनके छदो के उदाहरण देखिए —

रोला

लोक-रजिनी उषा सुन्दरी रजन-रत थी।
नभ तल था अनुराग रँगा आभा निर्गत थी॥
धीरे धीरे तिरोभूत तामस होता था।
ज्योति-बीज प्राची प्रदेश मे दिव बोता था॥

विषय और भाव के अनुरूप सस्कृत-शब्दो से युक्त यह छद कितना ओजपूर्ण है। सस्कृत-गर्भित भाषा के लिए साधारणतया

हरिऔध जी ने रोला, तिलोकी, ताटक और पद छदो का उपयोग किया है और तद्भव शब्दो से युक्त हिन्दी के लिए कवि ने चतुष्पद, चौपदे, पादाकुलक, सखी, मत्तसमक और दोहा छदो का उपयोग किया है। रोला छद का एक उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। अन्य छन्दो के उदाहरण देखिये:—

तिलोकी

परम सरसता से प्रवाहिता सुरसरी।
कल कल रव से कलित कीर्ति थी गा रही॥
किसी अलौकिक-कीर्तिमान लोकेश की।
लहरें उठ थी ललित नृत्य दिखला रही॥

ताटक

नील नभो मडल बन बन कर विविध-अलौकिक-दृश्य निलय।
करता था उत्फुल्ल हृदय को तथा दृगों को कौतुकमय॥
नीली पीली लाल बैगनी रग बिरगी उडु अवली।
बनी दिखाती थी मनोज्ञतम छटा पुज की केलि थली॥

पद

जय जय जयति लोक ललाम।
नवल नीरद - श्याम॥
शक्ति से शिर-मणि मुकुट की शुक्ति सम नृप-नीति।
सृजन करती है मनोरम न्याय मुक्ता दाम॥
दमक कर अति-दिव्य द्युति से दिवसनाथ समान।
है भुवन-तम काल, उन्नत-भाल अति अभिराम॥

हिन्दी के तद्भव शब्दो से युक्त भाषा के सरल रूप का अवलोकन कीजिये:—

चतुष्पद

सुधा है वहाँ बरसती आज।
जहाँ था बरस रहा अंगार॥
यहाँ है श्रुति स्वर्गीय निनाद।
जहाँ था रोदन हाहाकार॥

चौपदे

पादपों के श्यामल दल ने।
प्रभा पारद सी पाई थी॥
दिव्य हो हो नवला लतिका।
विभा सुरपुर से लाई थी॥

पादाकुलक

मंगलमय हो, पर न किसी को।
यात्रा समाचार भाता है॥
ऐसी कौन आँख है जिसमें।
सुरत नहीं आँसू आता है॥

सखी

हम सब भी साथ चलेंगी।
सेवाएँ सभी करेंगी॥
पर घर पर बैठी रह कर।
नित आहें नहीं भरेंगी॥

मत्तसमक

खिले हुए फूल से लसे थल।
ललामता को लुभा रहे थे॥
सुतोरणों के हरे भरे दल।
हरा भरा चित बना रहे थे॥

अलकारो की योजना के सबध में हरिऔध जी की क्या प्रवृत्ति थी इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। रीति-कालीन कवियो अथवा उनके अनुकरण पर चलनेवाले आधुनिक कवियो के अलकार-विधान के प्रति हरिऔध जी का आकर्षण न था। भावाभिव्यक्ति के प्रसग से जिन अलकारो का समावेश काव्य मे हो गया है उन अलकारो के अतिरिक्त कवि ने स्वेच्छा से काव्य मे अलकार भरने का यत्न नही किया है। द्विवेदी-युग अनेक बातो मे प्रतिक्रियावादी भी रहा। अलकारो के सबध मे भी द्विवेदी युग के कवियो ने पृथक् मार्ग अपनाया। इस युग मे अलकारो को वह प्राधान्य नही प्राप्त था जो भारतेन्दु अथवा उनके पूर्व के युग में था।

'वैदेही-वनवास' में अलकारो का अत्यत साधारण विधान हो पाया है। काव्य के अन्तर्गत जो अलकार आये भी है वे सहज और स्वाभाविक रूप मे आ गये है। कवि ने इस सबध मे किसी प्रकार का आग्रह नही किया है। 'वैदेही-वनवास' मे कुछ प्रचलित अलकारो के रूप ही मिलते है। उनके निम्नलिखित उदाहरण है —

छेकानुप्रास

'महा घोर गर्जन तर्जन प्रति बार कर।'

उपमा

'किसी कमनीय मुकुर जैसा।
सरोवर विमल सलिलवाला।'

रूपक

'पूजन कर सद्भाव समूह-प्रसून से।'

****

'वैदेही-वनवास' का महाकाव्यत्व

'प्रियप्रवास' के प्रसग मे काव्य और महाकाव्य के लक्षणो के सबध मे विचार किया जा चुका है। उन परिभाषाओ की पुनरावृत्ति करना अनावश्यक है। यहाॅ हम केवल यह देखेंगे कि 'वैदेही-वनवास' मे महाकाव्य के कितने लक्षण वर्तमान है और किन तत्वो का अभाव है। पौर्वात्य महाकाव्य के लक्षणो के सबध मे हम विचार कर चुके है। इस सबध मे पाश्चात्य महाकाव्यो के लक्षणो के सबध में भी विचार कर लिया जाय। पाश्चात्य और पौर्वात्य महाकाव्य के लक्षणो मे कोई अधिक भिन्नता नही है। पाश्चात्य महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षण है'—

१ महाकाव्य एक विशाल वर्णनात्मक (नरेटिव) काव्य है।

२ महाकाव्यो मे व्यक्ति के स्थान पर जातीय-भावो की प्रधानता होती है।

३ महाकाव्य का विषय परम्परा से प्रतिष्ठित और लोक-प्रिय होना आवश्यक है।

४ महाकाव्य के नायक तथा अन्य पात्र वीर पुरुष होते हैं तथा उनके नियति का सूत्र देवताओ के हाथ मे रहता है।
५ सम्पूर्ण कथा नायक पर ही केन्द्रित होती है और कथा का विस्तार उसी के आधार पर होता है।
६ महाकाव्य की शैली मे गभीरता और उच्चता का समावेश होता है।
७ ग्रन्थ भर में केवल एक ही छन्द का उपयोग होता है।

भारतीय लक्षणो के अनुसार महाकाव्यो में जीवन की अनेक रूपता होना आवश्यक है। उसमे चरित्र नायक के सम्पूर्ण जीवन की घटनाओ का वर्णन होना चाहिये। परन्तु पाश्चात्त्य महाकाव्यो में थोडी भिन्नता होती है। पाश्चात्त्य महाकाव्य व्यक्ति की अपेक्षा जातीय भावनाओ को महत्व देता है। पाश्चात्त्य लेखकों का कहना है कि वर्तमान समय मे किसी व्यक्ति विशेष के जीवन की घटनाओ का उतना महत्व नही है, जितना मानव जीवन के दर्शन की अभिव्यक्ति की आवश्यकता है। वे कथा को महत्व नहीं देते, वे मानव-जीवन के निरीक्षण को प्रधानता देते है। पाश्चात्त्य काव्य-शास्त्रियो ने महाकाव्य को दो श्रेणियो मे बॉटा हैं। प्रथम प्रकार के महाकाव्य का नाम—इपिक ऑव ग्रोथ—संकलनात्मक महाकाव्य है और दूसरे प्रकार के महाकाव्य का 'इपिक ऑव आर्ट'—कलात्मक महाकाव्य है। सकलनात्मक महाकाव्यो में घटनाओ की प्रधानता होती है और कलात्मक काव्यो में जीवन दर्शन का महत्व होता है। घटनाऍ गौण रूप में सम्मुख उपस्थित होती हैं।

पौर्वात्य महाकाव्य के लक्षणो के अनुसार 'वैदेही-वनवास' में सम्पूर्ण जीवन की घटनाओ का वर्णन-सम्बन्धी तत्व वर्तमान

नही है। 'वैदेही-वनवास' में राम के जीवन का आंशिक वर्णन है। राज्याभिषेक के पूर्व की घटनाओ का पात्रो द्वारा कथन मात्र ही हुआ है। ये घटनाएँ 'वैदेही-वनवास' में घटित नही हुई हैं। इस तत्व की कमी के कारण 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-वनवास' दोनो महाकाव्यो को लेकर पर्याप्त विचार-विनिमय हुआ है। हमारा अपना विचार है कि साहित्य की परिभाषा का परम्परा से सबध बना रहना आवश्यक है, परतु परम्परा को रूढ़ि का रूप दे देना ठीक नही। समय और परिस्थितियो के अनुसार परिभाषाओ मे थोडा बहुत हेर-फेर तो होना ही चाहिये। पाश्चात्त्य काव्य-शास्त्रियो ने भी यही किया है। हमारे यहाँ के भी प्रगतिशील काव्य-शास्त्री इन तत्वो पर विचार कर रहे है। आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र ने जीवन दर्शन प्रधान महाकाव्यो को महाकाव्य की सज्ञा न देकर 'एकार्थ'-काव्य कहा है। यह निर्णय सबको मान्य है अथवा नही यह एक दूसरा प्रश्न है, परतु जब तक कोई दूसरा सर्वमान्य निर्णय न हो जाय या इस प्रकार के काव्यो की परिभाषा विकसित न हो जाय तब तक ऐसे जीवन दर्शन प्रधान महाकाव्यो को 'एकार्थ'-काव्य ही स्वीकार कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

पौर्वात्य महाकाव्यो के लगभग सब लक्षण 'वैदेही वनवास' में वर्तमान है। केवल सम्पूर्ण जीवन की घटनाएँ उसमे घटित नही हुई है। परतु पाश्चात्त्य महाकाव्य के सिद्धान्तो के अनुसार तो इस लक्षण की प्रमुखता ही नही रह जाती। 'वैदेही-वनवास' मे मानव-जीवन का अत्यत सूक्ष्म निरीक्षण है और कवि ने अत्यत कलात्मक रीति से जीवन दर्शन का विकास किया है। क्रमानुसार हम अब यह देखेगे कि 'वैदेही-वनवास' में पौर्वात्य महाकाव्यो के कौन कौन से लक्षण वर्तमान है।—

'वैदेही-वनवास' एक सर्ग-बद्ध-काव्य है। उसमें १८ सर्ग हैं। उसकी कथा के नायक रघुकुल वंशीय, मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र हैं जो क्षत्रिय राजकुमार है। उनमें धीरोदात्त नायक के सर्व गुण वर्तमान हैं। काव्य में विप्रलंभ शृंगार की प्रधानता है। इस रस के अतिरिक्त अन्य रसों का भी काव्य में यथावसर वर्णन हुआ है। 'वैदेही-वनवास' की कथा ऐतिहासिक तो है ही। वह युग युग से हिन्दू-जाति को प्रेरणा प्रदान करती रही है।

पहले ही यह कहा जा चुका है कि कवि मंगलाचरण में विश्वास नहीं करता। 'प्रियप्रवास' के समान ही इस काव्य में भी आदि में नमस्कार, आशीर्वाद, अथवा वस्तुनिर्देशक शब्द का अभाव है।

काव्य में लवणासुर, शम्बूक आदि अनेक खलों की निंदा की गयी है। सज्जनों के गुण-गान से तो पूरा काव्य ही भरा पड़ा है। आवश्यकतानुसार प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द की प्रधानता है और अन्त में कवि ने प्रत्येक सर्ग में छन्द परिवर्तन कर दिया है।

आठ की कौन कहे, 'वैदेही-वनवास' में तो उपयुक्त आकार के अट्ठारह सर्ग वर्तमान हैं। प्रकृति के नाना रूपों, तत्वों, सम्भोग, विप्रलंभ, मुनि, पुर, रण-यात्रा आदि के मनोमुग्धकर वर्णन हैं। वृत्त के आधार पर काव्य का नामकरण हुआ है।

'वैदेही-वनवास' में प्रत्येक सर्ग के अन्त में भावी सर्ग की कथा का संकेत स्पष्ट रूप से किया गया है। 'वैदेही-वनवास' के अट्ठारहों सर्गों का नामकरण कथा के आधार पर ही किया गया है।

श्री रामचन्द्र के मर्यादा पुरुषोत्तम और धीरोदात्त नायक के रूप का अवलोकन कीजिए.—

'मर्यादा के धाम शील - सौजन्य - धुरधर ।
दशरथ - नदन राम परम - रमणीय - कलेवर ॥'

* * *

'आप है प्रजा - वृन्द - सर्वस्व ।
लोक आराधन के अवतार ॥
लोक - हित-पथ - कण्टक के काल ।
लोक मर्यादा पारावार ॥'

* * *

'जय जय रघुकुल - कमल दिवाकर ।
मर्यादा पुरुषोत्तम सद्गुण-रत्न-निचय-रत्नाकर ।'

* * *

'है सुर वृन्द सुखित मुनि जन है मुदित मिटै दानवता ।
प्रजा-पुज है पुलकित देखे मानवेन्द्र - मानवता ।'

'वैदेही-वनवास' की कथा वाल्मीकीय रामायण आदि प्राचीन ग्रथो पर आधारित है। राम के जीवन के स्पष्टत दो भाग है। प्रथम भाग शैशवावस्था से लेकर वन-गमन तक और उसके उपरान्त राज्याभिषेक के बाद जीवन के अन्त तक। कवि ने राम के उत्तरार्द्ध जीवन की घटनाओ को लिया है। कवि का जो उद्देश्य है वह इसी उत्तरार्द्ध द्वारा ही सिद्ध हो सकता था। जनता की दृष्टि से भी राम के जीवन का यह अश कम आकर्षक नही। इस काल मे राम ने सक्रिय रूप से समाज के सम्मुख जनकल्याण और लोकाराधन के उदाहरण अपने जीवन द्वारा प्रस्तुत किये।

ग्रथ में यत्र-तत्र असुरो, दानवो और दुर्जनो की कवि ने निन्दा की है:—

कहे जाते थे वे गधर्व ।
किन्तु थे दानव सदृश दुरत ।।
न था उनके अवगुण का ओर ।
न था अत्याचारो का अन्त ।।
भरा जिसमे हो कुत्सित भाव ।
द्वेष हिंसामय जो हो उक्ति ।।
मलिन करने को महती - कीर्ति ।
गढी जाती है जो बहु युक्ति ।
वह अवाछित है, है दलनीय ।
दण्ड्य है दुर्जन का दुर्वाद ।।
सदा है उन्मूलन के योग्य ।
अमौलिक सकल लोक-अपवाद ।।

सज्जनो का गुणगान तो काव्य मे अथ से इति तक भरा हुआ है । राम, सीता के गुणो का कथन करते है —

नहीं सकती जो पर दुख देख ।
हृदय जिसका है परम उदार ।
सर्व जन सुख सकलन निमित्त ।
भरा है जिसके उर मे प्यार ।

'प्रियप्रवास' मे प्रत्येक सर्ग के अन्त मे छन्द बदल कर भविष्य की कथा का सकेत किया गया है, परतु प्रारभ के तीन सर्गों में छन्द क्यों नही बदले गये इसका कारण बतलाया जा चुका है। 'वैदेही-वनवास' में कवि ने नियमत छन्द परिवर्तित किये हैं और भावी कथा का सकेत किया है:—

इन बातों को सोचते, कहते सिय गुण ग्राम।
गये दूसरे गेह में धीर धुरधर राम ॥

प्रकृति आदि का चित्रण तो सुन्दर हुआ ही है। उसके उदाहरण प्रकृति-वर्णन प्रसग मे दिए जा चुके हैं। हरिऔध जी ने पाश्चात्त्य काव्य-शास्त्रियो के सिद्धान्तानुसार 'वैदेही-वनवास' मे घटनाओ पर उतना ध्यान नही दिया है जितना राम, वैदेही आदि के जीवन-निरीक्षण पर। पाश्चात्त्य काव्य शास्त्र के अनुसार नायक के कार्यो की दिशा का सकेत देवताओ और नियति द्वारा होना चाहिये। 'वैदेही-वनवास' मे इस प्रकार के सकेतो का या दैवी घटनाओ का अभाव है। हरिऔध जी का इस प्रकार की घटनाओ पर विश्वास भी न था।

भारतीय काव्य-शास्त्रो तथा पाश्चात्त्य काव्य-शास्त्रो के लक्षणो में से अधिक लक्षण 'वैदेही-वनवास' मे वर्तमान है। पाश्चात्य और पौर्वात्य महाकाव्यादर्श की कसौटी पर यह ग्रथ ठीक उतरता है। काव्य में घटनाओ का अभाव है परतु इस सबध मे यह कहा जा सकता है कि भारतीय और पाश्चात्त्य काव्य-शास्त्रो के लक्षणो में समयानुसार पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। उन परिवर्तनो को दृष्टि में रख कर जब हम महाकाव्य के लक्षणो पर विचार करते हैं तब यह ज्ञात होता है कि अब घटनाओ का वह महत्त्व नही है। जीवन-दर्शन का ही काव्य-क्षेत्र में महत्व है। इस दृष्टि से भी 'वैदेही-वनवास' खरा उतरता है।



****I***********I*****I***************

'वैदेही-वनवास' में लोकरंजन का भाव

प्राचीन सांस्कृतिक कथा की पीठिका पर नवीन जीवन-दर्शन के योग से वैदेही वनवास' काव्य की रचना हुई है। कवि ने सामयिक समस्याओ पर अपने आदर्शों के आधार पर विचार किया है। हरिऔध जी किसी समस्या पर अपूर्ण रूप से विचार नही करते। वे समस्या पर पूर्णतः विचार करते है। उनके पक्ष और विपक्ष की सब बातो पर सहानुभूतिपूर्वक विचार कर लेने के पश्चात् वे समस्या का हल भी प्रस्तुत करते है। राम की कथा की एक परम्परा है। कवि ने उस परम्परा से प्राप्त सदेश मे नवीन युग के सदेश का समन्वय किया है। इस समन्वय के फलस्वरूप 'वैदेही-वनवास' नवीन युग का सदेशवाहक हो गया है। 'वैदेही-वनवास' की कथा ऐसी नही है कि उसमे जीवन के अनेक पक्षो पर विचार किया जा सकता, परतु कवि ने जीवन के एक पक्ष पर सफलतापूर्वक पूर्ण रूप से विचार किया है और एक पूरा चित्र सामने उपस्थित किया है।

'प्रियप्रवास' के समान ही 'वैदेही-वनवास' भी वियोगजन्य व्यथा की कथा है। उभय ग्रथो में दोनो पक्ष मिलन के लिए अत्यत उत्सुक है और प्रयत्नशील है। 'वैदेही-वनवास' मे दोनो पक्षो का मिलन असभव नही कहा जा सकता। यह तो राम की चित्तवृत्ति थी कि उन्होने प्रजा-रजन की भावना से वैदेही के सम्मुख वन जाने का प्रस्ताव रखा। राम शक्तिमान थे। यदि वे चाहते तो वैदेही को वन भेजते ही नही। प्रजा पर वे दमन के द्वारा नियत्रण स्थापित कर सकते थे। दूसरी बात यह है कि वे वैदेही को वन से कुछ दिनो के बाद बुला भी सकते थे, परतु उन्होंने न तो दमन नीति का सहारा लिया और न सीता को ही शीघ्र बुलाया। इस प्रकार के मिलन की अपेक्षा राम ने चिरवियोग को अगीकार किया। सीता ने भी राम के साहचर्य की अपेक्षा वन-गमन ही श्रेयस्कर समझा। इसका क्या कारण था? राम ने दमन नीति का क्यो नही अनुकरण किया? इन प्रश्नो का उत्तर ही 'वैदेही-वनवास' के लोकरजन की भावना की अभिव्यक्ति कर देगा। राम और सीता के निश्चय के अतर में लोकाराधन की, लोक-कल्याण की अजस्र-धारा प्रवाहित है।

'वैदेही-वनवास' और 'प्रियप्रवास' के लोकरजन भाव मे भिन्नता है। कृष्ण तो दीन-दुखियो के मध्य जाकर दीन-बधु की सज्ञा प्राप्त करते है। श्रीमती राधा दीना-हीना मलीना की सेवा कर लोक-सेविका की उपाधि से विभूषित हुई परतु राम और सीता की स्थिति बहुत भिन्न थी। राम के सम्मुख वे समस्याऍ न थीं जो कृष्ण के सम्मुख थीं। राम की समस्या बहुत कुछ उनके व्यक्तिगत जीवन से सबध रखती थी। इस सबध में शासक होने के नाते वे अपनी इच्छानुसार कुछ भी निर्णय कर सकते

थे। लोकापवाद का प्रचार करनेवाले रजक को बुला कर उसे मौत के घाट उतार सकते थे या इस प्रकार के मिथ्या प्रचारकों को दमन द्वारा अस्तित्व विहीन कर सकते थे। इस प्रकार की दमन नीति का फल होता—हाहाकार और उत्पीडन। राम ने यह मार्ग नही ग्रहण किया। उन्होने लोक-पीडन के मार्ग का तिरस्कार किया। प्रजा को दण्ड देना उन्हे इष्ट न था। लोकरजन की भावना ओर दण्ड नीति मे जमीन आसमान का अतर ह। शासक हो कर दमन न करना, जनता की इच्छा को प्रधानता देना भी तो लोक-सेवा ही है। 'वैदेही-वनवास' मे इसी प्रकार की लोक-सेवा का वर्णन है। जनता की इच्छा का आदर करते हुए लोक-रजन करना ही 'वैदेही-वनवास' का सदेश है।

राजनीति केवल धोखा-धडी पर ही आधारित नही है। कूट-नीति और छल-कपट को ही राजनीति नही कहा जा सकता। सच्ची राजनीति तो —

लोकाराधन राजनीति सर्वस्व है।
है परार्थ, परमार्थ, पथ भी अति गहन ॥
पर यदि ये कर्तव्य और सद्धर्म है।
सहन शक्ति तो क्यो न करे सकट सहन ॥

भारतीय राजनीति-शास्त्र के चार भेद है—साम, दाम, दड और भेद। यथावसर उपयुक्त रीति से इनका उपयोग करना ही भारतीय राजनीति की विशेषता है। वह राजा नरेश नही जो लोक-प्रिय नही और लोक-रक्षा पर ध्यान नही देता। 'वैदेही-वनवास' में राज-नीति के साम-नीति अश पर अधिक बल दिया गया है। वास्तव में शासन की यह सर्वोत्तम और सात्विक नीति है।

लोक-संग्रह, लोक-रजन और लोक रक्षा के लिए क्रियाशील

होना साधारण बात नही। इसके लिए बडे सयम और तपस्या की आवश्यकता होती है। अपनी चित्तवृत्तियो पर, अपने स्वार्थों पर कठोर अकुश रखकर ही इन क्षेत्रो मे सफलता प्राप्त हो सकती है। जो व्यक्ति लोकाराधन के पथ पर अग्रसर होता है उसे पग पग पर कठिनाइयो का सामना करना पडता है। चक्रवर्ती राम के लिए जीवन मे क्या कठिनाई थी। वे पूर्णत स्वेच्छाचारी हो सकते थे। परतु नही, उन्होने लोक-रजक पुरुषोत्तम के रूप मे समाज के सम्मुख आदर्श उपस्थित किया। अपनी हृदय-वल्लभा को वन भेज कर उन्होने लोकाराधन की साधना की। विश्व इसका साक्षी है कि प्रत्येक लोकाराधन के पथ के पथिक को व्यक्तिगत रूप से अनेक प्रकार की यातनाएँ सहनी पडी है। उन्हे इसके लिए सर्वस्व तक का त्याग करना पडा है। 'वैदेही-वनवास' राम और सीता के इसी प्रकार के त्याग की गाथा है। 'वैदेही-वनवास' तो लोकाराधन के लिए आत्म बलि तक की प्रेरणा प्रदान करता है'—

जाति मुक्ति के लिए आत्म बलि दी जाती है।
परम अमगल क्रिया पूर्ण कृति कहलाती है।
इस रहस्य को बुध पुगव जो समझ न पाते।
तो प्रलयकर कभी नही शकर कहलाते।

'वैदेही-वनवास' की लोक-रजन भावना न तो अति अहिसा-वाद और न अति हिसावाद पर आश्रित है। यह भावना आँख खोलकर मार्ग निश्चय करने का सकेत करती है। कवि मध्यम मार्ग का अनुसरण करने की ओर सकेत करता है। कवि कहता है कि दुष्टो से समाज की रक्षा करना भी अहिसा की स्थापना करना है। यदि दुष्टो को प्राण-दण्ड भी देना पड़े तो बुरा नही।

यदि समाज के बहु कल्याण के लिए लघु हानि हो तो उसे भी स्वीकार करना चाहिये। लेकिन दण्ड देते समय इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि आततायियो के साथ सज्जनो की हानि न हो, उन्हे कष्ट न हो —

रहेगी भव मे कैसे शान्ति।
क्रूरता किया करें जो क्रूर।
तो हुआ लोकाराधन कहाँ।
लोक कटक जो हुए न दूर।

*   *   *

केवल उसका ही (लवणासुर) वध हो।
कुछ ऐसा कौशल करना॥
लोहा दानव से लेना।
भू को न लहू से भरना।

विशिष्ट राजनीति भी यही है। दुष्टो का दलन और सज्जनो की प्रतिष्ठा की रक्षा ही राजा का कर्तव्य है और यह साधारण लोकाराधन नही।

'वैदेही-वनवास' मे 'प्रियप्रवास' के समान ही नारी-चरित्र का उच्चतम विकास हुआ है। वाल्मीकि-रामायण, उत्तररामचरित नाटक आदि काव्यो मे वैदेही का वह महान चित्र सम्मुख नही आता जो 'वैदेही-वनवास' के अमर कवि ने प्रस्तुत किया है। प्राचीन काव्यो में यदि वैदेही वन मे वियोगावस्था मे अपना जीवन व्यतीत करती है तो इसमें उनका कोई त्याग नही है और न वन-गमन का उन्हे श्रेय ही प्राप्त हो सकता। यही नही बेचारी वैदेही को यह पता भी न था कि उन्हे निर्वासित किया गया है। यदि निर्वासिता के रूप में वे जीवन-यापन करती है तो यह

उनकी घोर परवशता है। 'वैदेही-वनवास' की स्थिति भिन्न है। 'वैदेही-वनवास' के राम, सीता को चोरी-चोरी अज्ञात रूप से वन नहीं भेजते। वे सीता के सम्मुख वन-गमन का प्रस्ताव रखते है। सीता सद्गृहिणी और अर्द्धांगिनी के रूप मे अपने प्रियतम की उद्देश्य-सिद्धि के लिए सहर्ष उनकी आज्ञा स्वीकार करती हैं —

वही करूँगी जो कुछ मुझको करने की आज्ञा होगी।
त्याग करूँगी, इष्ट सिद्धि के लिए बना मन को योगी॥
सुख - वासना, स्वार्थ की चिंता, दोनो से मुँह मोड़ूँगी।
लोकाराधन या प्रभु आराधन निमित्त सब छोड़ूँगी।

वैदेही प्रभु-आराधन और लोकाराधन दोनो के लिए सब कुछ छोडने के लिए तत्पर है। यहाँ वास्तव में उनका महान त्याग हमारे सम्मुख प्रकट होता है। वैदेही यह भली भाँति जानती हैं कि लोकापवाद की वे ही निमित्त है। यदि वे अपने प्रिय की आज्ञा अस्वीकार कर देती है तो राम के सम्मुख विचित्र समस्या उठ खडी होगी। उनके लिए दमन नीति के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग न रह जायगा। राम यदि वैदेही के कारण दण्ड-नीति का अनुसरण करते है तो जन-मत की उपेक्षा तो होती ही है उनके लोक-रजन का उद्देश्य भी सिद्ध नहीं होता। अत एक भारतीय नारी के उच्चतम आदर्श की भाँति वे बडी दृढता के साथ अपने मन पर सयम स्थापित कर प्रियतम का प्रस्ताव स्वीकार करती हैं और उनकी समस्याओ को दूर कर देती है। वैदेही नारी-जाति को लोकरजन का सदेश ही नही दे रही है वरन् वे उसे यह भी शिक्षा दे रही है कि अपने प्रियतम की सद्वृत्तियो मे नारी को योग देकर उसके उद्देश्यो को सफल बनाना चाहिये।

भौतिक और अध्यात्मवाद का सघर्ष कोई नया नहीं।

समाज में यह सघर्ष युगो से चला आ रहा है और सभवत जब तक मनुष्य त्रिगुणात्मक है तब तक निरतर चलता रहेगा। प्रत्येक युग मे एक न एक वाद की प्रधानता रहती है। वतमान काल भौतिकवाद का है। मनुष्य इसी भौतिकता की कसौटी पर सब बातो को कसता है। एक सीमा तक भौतिकवाद भी सामाजिक विकास के लिए आवश्यक है, परतु यदि अति भौतिकवाद का प्रचार होता है तो सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य मान्यताएँ विनष्ट हो जाती है। भौतिकवाद के प्राधान्य से जनता का कल्याण नही हो सकता। भारत की विशेष देन तो अध्यात्मवाद है। भारत की सभ्यता और सस्कृति तो त्याग तथा तपस्या पर आश्रित है। समाज उच्चादर्शों की ओर इसी अध्यात्म-वाद के सहारे ही बढ सकता है। यदि अध्यात्मवाद रचनात्मक प्रवृत्तियो का विकास करता है तो भौतिकवाद विघटनात्मक तत्वो को बढावा देता है। लका मे जब भौतिकवाद का प्राबल्य हुआ तब उसका ध्वस हो गया —

यह भौतिकता की है बड़ी विडम्बना।
इससे होता प्राणि - पुज का है पतन॥
लका से जनपद होते विध्वस है।
मरु बन जाता है नन्दन सा दिव्य-वन॥

अध्यात्मवाद वह पारस है जो किसी भी भौतिकवादी लोहे को छू कर सोना बना देता है। यदि इस दृष्टिकोण से हम समाज की समस्याओ पर विचार करे तो हमारी अनेक समस्याएँ दूर हो जायँ। वर्तमान काल की सब से दुरूह समस्या, विवाह-विच्छेद के सबध में विचार करते समय हरिऔध जी ने अध्यात्मवाद को ही प्रमुखता प्रदान की है। यदि विवाह को हम इस दृष्टिकोण से देखे तो स्वार्थ के लिए, आत्म-सुख के लिए, जो खीचातानी

समाज में हो रही है वह समाप्त हो जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि भौतिकवादी दृष्टिकोण को ससार के लिए अत्यत विनाशकारी समझता है। कवि का कहना है कि यदि ससार मे सुख-शाति की स्थापना करनी है तो अध्यात्मवाद का ही सहारा लेना होगा। इस मार्ग से ही ससार का कल्याण होगा —

> आध्यात्मिकता का प्रचार कर्तव्य है।
> जिससे यथा-समय भव का हित हो सके ॥
> आप इसी पथ की पथिका हैं, विनय है -
> पाँव आपका कभी न इस पथ में थके ॥

लोकरजन और लोकाराधन की सफलता का आधार यही अध्यात्मवाद है। जब तक मनुष्य निस्पृह होकर तटस्थ भाव से लोकाराधन नही करेगा तब तक उसे सफलता नही प्राप्त हो सकती। लोकाराधन की सफलता, लोकरजन के उद्देश्य की पूर्ति अध्यात्मवाद के दृष्टिकोण पर ही आश्रित है। यह अध्यात्मवाद हमारी भारतीय सस्कृति और सभ्यता की महत्वपूर्ण आधार पीठिका है।



****

'वैदेही-वनवास' के नायक और नायिका

राम

रघुकुल-कमल-दिवाकर श्री राम मर्यादा का निर्वाह करने वाले पुरुषोत्तम है। वे सद्‌गुणो के रत्नाकर है, मृदु-भाषी हैं और कटुता पर भी मृदुता से विजय प्राप्त करते है —

मिथिला में जब भृगु कुल पुगव ने कटु बात सुनाई।
तब कोमल वचनावलि गरिमा किसने थी दिखलाई ॥

उनके पिता ने बहु विवाह कर बहु विवाह का समर्थन किया था, परतु वे एक पत्नीव्रत होकर जीवन निर्वाह करने वाले महान सम्राट हैं। उन्होने अपने समय में बहु विवाह को अवैध घोषित किया —

बहु विवाह को कह अवैध बन बधु-वर्ग हित कारक।
कौन एक पत्नीव्रत का है वसुधा मध्य-प्रचारक ॥

राम मर्यादा पुरुषोत्तम है, अतः उन्हे व्यवहार के सब आदर्श मनुष्यों के सामने उपस्थित करना है, इसी लिए अपने पिता की आज्ञा मानकर उन्होने राज्य की सर्वस्व विभूति का परित्याग

किया। वे अत्यत धीर है। रजक का प्रसग छिड़ने पर जब सब भाइयो ने प्रकारान्तर से दमन-नीति का अनुमोदन किया तब उन्होने बडी गभीरता के साथ उनकी बाते सुनी। उनकी उत्तेजना मे वे स्वय भी नही बह गये। बडे सयमित रूप से उन्होने यही कहा'—

दमन या दण्ड-नीति मुझको।
कभी भी रही नही प्यारी॥
न यद्यपि छोड सका उनको।
रहे जो इनके अधिकारी॥

राम दण्ड-नीति के अधिकारियो को छोडते भी नही, परंतु यह उनका व्यक्तिगत प्रश्न है, अत' वे कहते है —

करूँगा बडे से बड़ा त्याग।
आत्म निग्रह का कर उपयोग॥
हुए आवश्यक जन-मुख देख।
सहूँगा प्रिया असह्य वियोग॥

राम के लिए अपनी प्रजा भी उतनी ही प्यारी है जितनी प्रिया। वे कहते हैं कि आवश्यकता पडने पर जन-मुख देख कर ही मै सतोष कर लूँगा। वे अपनी पत्नी को लोकाराधन के लिए वन भेजने को तैयार है परतु वे दमन-नीति का सहारा नही लेना चाहते। वे साम-नीति के अनुगामी हैं —

इसी से साम नीति ही को।
बुधो से प्रथम स्थान मिला॥
यही है वह उद्यान जहाँ।
लोक आराधन सुमन खिला॥

राम के जीवन का चरमोद्देश्य लोकरजन है। वे लोक-रक्षा के पक्ष-पाती हैं। वे व्यर्थ के रक्त-पात मे विश्वास नही करते, परतु अति अहिसावादी भी नही है। वे दुष्टो का दमन आवश्यक समझते है। वे राज-नीति मे दुष्टो की उपेक्षा को अत्यत हानिकर समझते है। दीन-हीन और दुखियो के रक्षार्थ पातकियो को दण्ड देना वे अनिवार्य समझते है। आवश्यकता पडने पर दुष्ट को मृत्युदण्ड देने का भी वे समर्थन करने है।

राम का विचार है कि सद्धर्म और शान्ति की स्थापना तब तक नही हो सकती जब तक कि दुष्टो का निर्दलन नहीं होता। इसी सिद्धान्त के अनुसार उन्होने शत्रुघ्न जी को जाकर लवणासुर को दण्ड देने की आज्ञा दी थी। परतु साथ ही यह भी कहा था कि केवल उसी को ही दण्ड दिया जाय। उसके कारण किसी प्रकार का रक्तपात न हो और कोई निरीह व्यक्ति कष्ट न पाये। जहाँ तक व्यक्तिगत प्रश्न था राम ने रजक की दुष्टता सहन की, उसे दण्ड नही दिया और न उसे दण्ड देने का किसी प्रकार समर्थन किया, परतु जहाँ समाज का, समूह का प्रश्न हो वहाँ वे दुष्ट को दण्ड देना आदर्श समझते थे। वैयक्तिक हितो को हानि पहुँचने पर यदि कोई सत्पुरुष तिलमिला उठता है तो वह उच्च पद से स्खलित हो जाता है। ऐसे समय पर तो क्षमा ही श्रेयस्कर मार्ग है, किन्तु सामूहिक हानि के अवसर पर किसी सत्पुरुष का क्रोध करना आदर्श कार्य माना जायगा। इसका प्रधान कारण यह है कि वह व्यक्ति लोक मे व्यवस्था-स्थापन की दृष्टि से क्रोध करता है। इस कार्य में लोकरजन की भावना है। समाज मे कुछ के अहित द्वारा यदि अधिक लोगों का हित होता हो तो वह भी करने योग्य है। यह भी एक प्रकार का आदर्श है —

जहाँ लाभ-प्रद अश अधिक पाया जाता है।
थोड़ी क्षति का ध्यान वहाँ कब हो पाता है॥
जहाँ देश-हित-प्रश्न सामने आ जाता है।
लाखों शिर अर्पित हो कटता दिखलाता है॥

राम की राजनीति का, उनकी शासन-व्यवस्था का यह प्रमुख सिद्धान्त है। राम समाजवादी विचार-धारा के महापुरुष हैं। उनकी दृष्टि मे एक रजक का भी वही महत्व है जो "समाज का। अत वे रजक द्वारा लगाये गये लाछन को अनसुना नही कर सकते। उसे भी वे समाज की आवाज समझते हैं।

वैदेही

'वैदेही-वनवास' की वैदेही भारतीय हिन्दू नारी की प्रतीक है। वे एक आदर्श विदुषी हैं। प्रथम सर्ग मे हो उनमे, नारी के हृदय में रहने वाली असीम कोमलता का दर्शन होता है। वे यह चाहती हैं कि ससार मे कही भी अहितकर घटनाएँ न घटे और सारा विश्व सुख शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करे —

अच्छा होता भली-वृत्ति ही जो भव पाता।
मगल होता सदा अमगल मुख न दिखाता॥
सब का होता भला फले फूले सब होते।
हँसते मिलते लोग दिखाते कही न रोते॥

और

कितनी सुदर-सरस दिव्य रचना वह होती।
जिसमें मानस-हस सदा पाता सुख-मोती॥

वैदेही अत्यन्त पति-परायणा देवी हैं। वे उन भारतीय ललनाओ में हैं जो प्रियतम के दु ख में दु'खी और सुख में सुखी

होती है। पति के लिए वे अपने जीवन को भी न्यौछावर करने के लिए तैयार रहती है'—

गहन विपिनो में चौदह साल।
सदा छाया सम रह मम साथ॥
साँसतें सह खा फल दल मूल।
कभी पीकर के केवल पाथ॥
हमारे सुख का मुख अवलोक।
बना किसको वन सुर-उद्यान॥
कुसुम कटक, चदन, तप ताप।
प्रभजन मलय समीर समान॥

वैदेही अपनी सास की परिचर्या मे भी अपना समय व्यतीत करती थी और एक पुत्री के समान उनके दु ख-सुख मे साथ देती थी —

बिना बुलाये मेरा दुख सुन।
कौन दौड़ती आ जाती थी।
पास बैठ कर कितनी रातें।
जग कर कौन विता जाती थी॥

यही क्या, वैदेही इतनी उदार हृदया थी कि वे अपनी दासी तक का दु ख सहन नही कर सकती थी। उसकी भी वे अपनी बहन की तरह परिचर्या करती थी —

मेरा क्या दासी का दुख भी।
तुम देखने नही पाती थीं॥
भगिनी के समान ही उसकी।
सेवा मे भी लग जाती थी॥

वैदेही अवध के नरेश के भवनो की राज्यश्री थी। राज-भवन उन्हे पाकर फूले न समाते थे। उनके मुख पर सदा मद मुसकान खेला करती थी। उनको कभी किसी ने क्रोधित होते हुए नही देखा.—

जब देखा तब हँसते देखा।
क्रोध नही तुमको आता है।
कटु बातें कब मुख से निकली।
वचन सुधा-रस बरसाता है॥

वैदेही किसी को दुखी नही देख सकती थी। किसी को दुखी देखकर उनका हृदय रो उठता था.—

जैसी तुम में पुत्री वैसी।
किस जी में ममता जगती है॥
और को कलपता अवलोके।
कौन यों कलपने लगती है॥

जिन दिनो वैदेही वाल्मीकि के आश्रम मे थी, वे अनेक देवियो का पथ-प्रदर्शन करती रही, उन्हे सन्मार्ग दिखलाती रही। वहाँ की स्त्रियाँ उन पर गहरी श्रद्धा रखती थी और उनके विचारो का आदर करती थीं। अति भौतिकतावाद मे पगी विज्ञानवती को भी भगवती वैदेही से बातचीत करने से बडी शाति प्राप्त होती थी.—

मुसकरा कर विज्ञानवती ने यह कहा।
उठने पर कुछ तर्क और वितर्क जाऊँ कहाँ॥

भौतिकवाद की प्रतीक विज्ञानवती को अध्यात्म का महत्व बतलाते हुए वे भौतिकवाद का विरोध करती है। वे इस दृढ़ मत की है कि भौतिकवाद से जनता का कल्याण नही हो सकता।

वैदेही का विचार है कि ससार केवल अध्यात्म के द्वारा सुख शाति अर्जित कर सकता है:—

उदारता से भरी सदाशयता - रता।
सद्भावों से भौतिकता की वात्रिका।
पुण्यमयी पावनता भरिता सद्व्रता।
आध्यात्मिकता ही है भव-हित-साधिका॥

वैदेही तो लका के पतन का कारण भी भौतिकवाद को मानती है। वे नारियो को पुरुष को मोहित करने वाली तितली मात्र नही समझती। वे नारियो से कुछ और भी आशा करती हैं। उनके लिए रूप, बनाव-शृगार आदि का महत्व नही। लका की नारियो की यही दशा थी —

था बनाव-शृगार उन्हे भाता बहुत।
तन को सज उनका मन था रौरव बना॥
उछृखलता की थी वे अति - प्रेमिका।
उसी में चरम-सुख की थी प्रिय कल्पना॥

विज्ञानवती से जब वे वैवाहिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर विचार-विनिमय करती है तब उनके महती विदुषी रूप की अभिव्यक्ति होती है। वे कहती है —

भव - मगल - कामना तथा स्थिति - हेतु से।
नर नारी का नियति ने किया है सृजन॥
हैं अपूर्ण दोनों पर उनकी पूर्णता।
है प्रदान करता दोनों का सम्मिलन॥

पुरुष और नारी एक दूसरे के प्रपूरक हैं। दोनो के योग से पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होता है·—

मृदुल - उपादानों से वनिता है रचित ।
है उसके सब अग बडे कोमल बने ॥
इसी लिये है कोमल उसका हृदय भी ।
उसके कोमल वचन सुधा मे है सने ॥

इसके विपरीत'—

पुरुष अकोमल-उपादान से है बना ।
इसी लिये है उसे मिली दृढ चित्तता ॥

अत'—

किसी समय अवलोक पुरुष की परुषता ।
कोमलता से काम न जो लेवे प्रिया ॥
कहाँ बनी तो स्वाभाविकता सहचरी ।
काम-मृदुल-उर ने न मृदुलता से लिया ॥

वैदेही विवाह को एक अविछिन्न सबध मानती हैं। उनका कहना है कि यथावसर दोनो को एक दूसरे का प्रपूरक तो होना ही चाहिये, साथ ही.—

चूक उसी की है जो वल्लभता दिखा ।
हृदय वल्लभा का पद पा जाती नहीं ॥
प्राणनाथ तो प्राण - नाथ कैसे बनें ।
पति-प्राणा यदि पत्नी बन पाती नही ॥

महादेवी सीता के जीवन में भौतिक सुखो का कोई महत्व नही। प्रियतम के एक इशारे पर वे राजमहिषी के पद को छोड़कर जगल मे निवास करने चली जाती हैं। उन्हे भावी जीवन के कष्ट तनिक भी विचलित नही करते:—

वही करूँगी जो कुछ करने की मुझको आज्ञा होगी ।
'त्याग, करूँगी, इष्ट सिद्धि के लिए बना मन को योगी ॥

सुख - वासना स्वार्थ की चिता दोनो से मुँह मोड़ूँगी।
लोकाराधन या प्रभु - आराधन निमित्त सब छोड़ूँगी॥

वैदेही और राम के हृदय के तार कितने अभिन्न है इसका एक उदाहरण देखिये —

प्रियतम सुख - साधन - आराधन -
मे थी सारा दिवस बिताती।
उनके पुलके रही पुलकतीं।
उनके कुम्हलाये कुम्हलातीं॥

ऐसा प्रतीत होता है मानो वैदेही और राम के हृद-स्पदन एक साथ ही होते है। पति का सुख-दुख वैदेही का सुख दुख है। वे किसी प्रकार अपने पति के मार्ग में बाधा नही उत्पन्न करना चाहती। यदि राम उन्हे वन भेज कर लोकाराधन करना चाहते हैं, यदि वे उन्हे अपने से पृथक् रखकर लोकरजन की भावना सतुष्ट करना चाहते है तो सीता भी उनके वियोग मे जीवन-यापन कर पति के कार्य में सहयोग देने को प्रस्तुत है।

वैदेही का वियोग प्रगल्भा का वियोग नही है। उनमे आत्मसयम है और वे सदा मर्यादा का ध्यान रखती है। उनका विरह भी शान्त भाव का है। उनके हृदय में वियोग की वह्नि जल रही है, परन्तु उसकी ज्वालाएँ बाहर व्यक्त नहीं होने पातीं। कभी कभी ही उनके मुख से आह निकल जाती है। वे रोना चाहती है परतु रो नही पाती। वे विरह-वियोग से कातर होकर प्रकृति की सुन्दरता को कोसती नही है वरन् उसके गुणो से शिक्षा प्राप्त करने का यत्न करती है। उनके हृदय मे वियोगजन्य ईर्ष्या का भाव नहो है। पति की स्मृति मे तल्लीन होने पर वे समाधिस्थ-सी हो जाती है। उनका विरह अकर्मण्य बना देने वाला विरह नही

है। उनका विरह तो उन्हे प्रियतम के कार्य में योग देने वाला बना देता है। विरह की उत्कृष्टता उनकी वृत्ति को सेवा भाव में परिवर्तित कर देती है। वे ऋषि-आश्रम के कीट पतगो तक की सेवा में रत हो जाती हैं.—

> पशु पक्षा, क्या कीटों का भी प्रति दिवस।
> जनक - नन्दिनी-कर से होता था भला॥
> शान्ति-निकेतन के सब ओर इसी लिए।
> दिखलाती थी सर्व भूत - हित की कला॥

वैदेही, वनवास—काल में 'सर्व भूत हिते रत' की उक्ति चरितार्थ करती थी। वैदेही विदुषी है, सुशिक्षिता गृहिणी हैं और परम योग्य शिक्षिका माता है। आश्रम में अपने दोनो पुत्रो—लव-कुश को वे प्रति क्षण सुशिक्षा देती रहती है। प्रकृति के नाना तत्वो द्वारा उनकी शिक्षा की व्यवस्था होती है। प्रकृति एक विशाल पुस्तक है। उसके माध्यम से शिक्षा प्राप्त करनेवाला व्यक्ति जीवन मे महान सफलता प्राप्त कर सकता है। लव-कुश भी माता की अनुपम शिक्षा पाकर अद्वितीय हुए। काव्य के अन्त में हमे वैदेही के अलौकिक रूप का दर्शन होता है। पति के चरण का स्पर्श करते ही वे दिव्य ज्योति के रूप मे परिणत हो जाती है।

सप्तम खण्ड

(त्रिवेणी)

****

'हरिऔध'-शैली की त्रिवेणी—'पारिजात'

'वैदेही-वनवास' की रचना प्रारभ करने के पूर्व हरिऔध जी ने एक बहुत बडे काव्य-सग्रह का निर्माण किया था। इस सग्रह की रचना उन्होने जनवरी सन् १९३५ मे प्रारभ की थी। इस काव्य का नाम पहले तो उन्होंने 'स्वर्गीय सगीत' रखा था, परतु विविध विषय विभूषित होने के कारण इसका नाम बाद में 'पारिजात' कर दिया। 'पारिजात' नदन-वन का कल्पतरु है जिसके नीचे जाने से मनुष्य की सब वाछाएँ पूरी होती है, उसी प्रकार हरिऔध जी के 'पारिजात' में प्राय. सब विषयो का समावेश है और पाठक को सब प्रकार से यह काव्य तृप्त कर सकता है। तिथि-क्रम से 'वैदेही-वनवास' के पूर्व इस रचना का विश्लेषण होना चाहिये था, परतु शैली के कारण इस पर अन्त मे विचार करने का हमने निर्णय किया। हरिऔध जी ने 'पारिजात' की रचना १५ दिसम्बर १९३७ मे समाप्त की।

हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास,' 'बोल-चाल' और 'वैदेही-वनवास' इन तीनों काव्यो की भिन्न भिन्न शैलियाँ है। 'प्रियप्रवास' पूर्णत

सस्कृत वृत्तो में लिखा गया है। 'बोल-चाल' की भाषा हिन्दी के तद्भव शब्दो और मुहावरो पर आश्रित है और उसकी रचना फारसी के बह्रो मे हुई है। 'वैदेही-वनवास' की रचना मे सस्कृत और हिन्दी के तद्भव शब्दो का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण काव्य हिन्दी के मात्रिक छन्दो मे निर्मित हुआ है। 'पारिजात' मे हरिऔध जी की इन विभिन्न शैलियो की त्रिवेणी का दर्शन होता है। विभिन्न शैलियो के समन्वय के कारण ही इस काव्य पर हम अन्त में विचार कर रहे है।

'पारिजात' ग्रथ मे पन्द्रह सर्ग है। प्रथम सर्ग मे गेय गान शीर्षक के अन्तर्गत आधुनिक युग की दिव्य दश मूर्ति और भारत की महत्ता का वर्णन है। द्वितीय सर्ग मे कवि ने अकल्पनीय की कल्पना की है और विभु की विभुता पर प्रकाश डाला है। तृतीय से लेकर षष्ठ सर्गो मे दृश्य जगत का बडा विषद वर्णन है। तृतीय सर्ग में आकाश तथा आकाश से सबध रखने वाले अनेक विषयो का वर्णन है। चतुर्थ सर्ग मे हिमाचल, वन, सरिता आदि का वर्णन है। समुद्र तथा समुद्र के गुणो का पचम सर्ग मे विषद वर्णन है तथा षष्ठ सर्ग में वसुधरा का गुण-गान है। सप्तम और अष्टम सर्गों मे अन्तर्जगत् की अनेक भावनाओ का कवि ने बडी सूक्ष्मता से विवेचन किया है। नवम सर्ग मे सासारिकता का वर्णन है। दशम सर्ग में कवि ने स्वर्ग के सम्बन्ध की अनेक शास्त्रीय कल्पनाओ का विवेचन और वर्णन किया है। एकादश सर्ग मे कर्म, कर्म का मर्म और कर्म-योग की शिक्षा दी गयी है। त्रयोदश सर्ग मे कवि ने प्रलय के प्रपच और मृत्यु के आतक का वर्णन किया है। त्रयोदश सर्ग का शीर्षक 'कान्त कल्पना' है। 'कान्त कल्पना' के अन्तर्गत कवि ने अनेक विषयो की कल्पनाएँ की है जिनमे

आलोक, शारद सुषमा कमनीय कला आदि अनेक विषय हैं। सभवत यह सब से वृहत् सर्ग है। चतुर्दश सर्ग मे कवि ने सत्य के स्वरूप का चित्र अकित किया है। ग्रन्थ का अन्तिम पचदश सर्ग परमानन्द की अभिव्यक्ति करता है।

'पारिजात' के कुछ विषय तो कवि की अनुभूति, सूक्ष्म निरीक्षण और कमनीय कल्पनाओ पर आश्रित हैं और कुछ विषय ऐसे हैं जिनके सबध मे धार्मिक, दार्शनिक और शास्त्रीय ग्रथो का सहारा लिया गया है। अनुभूति-जन्य विषयो का तो कवि ने बडा ही हृदय-ग्राही वर्णन किया है, परतु शास्त्रीय अथवा पुस्तको पर आधारित विषयो मे भाव की अपेक्षा बौद्धिक क्षमता का अधिक प्रदर्शन हुआ है। इस दृष्टि से भी यह ग्रथ बडे महत्व का है। इस ग्रथ मे हरिऔध जी की उत्कृष्ट भावुकता और उच्चतम कला का भी समन्वय हुआ है।

हिन्दू सस्कृति अवतारवाद के सिद्धान्त को मानती है। कवि ने वर्तमान युग के दश अवतारो की कल्पना की है और उन्हे दिव्य-मूर्तियाँ कह कर सबोधित किया है। आधुनिक भारत के निर्माण मे और सास्कृतिक विकास मे कौन सी दिव्य-मूर्तियो का योग रहा है उनका अवलोकन करे—

जय जय जयति लोक-ललाम।

सकल मगल धाम।

भरत भू को देख अभिनव भाव से अभिभूत।
रामामोहन रूप धर श्रम निधन रत अविराम।
विविध नवल विचार-विचलित युवक-दल अवलोक।
रामकृष्ण स्वरूप में अवतरित बन विश्राम।

विपुल आकुल बाल-विधवा बहु विलाप विलोक ।
विदित ईश्वरचन्द्र वपु धर स्ववश-कृत विधि वाम ।
वेद विहित प्रथित सनातन-पथ मथित विचार ।
दयानन्द शरीर धर शासन-निरत वसु याम ।
पतन प्राय समाज-शोधन की बताई नीति ।
विहर रानाडे - हृदय मे विदित कर परिणाम ।
एक सत्ता मंत्र से दी धर्म को ध्रुव नीति ।
रामतीर्थ स्वरूप धर उर - हार कर हरिनाम ।
दलित वचित व्यथित महि में की अचिन्तित क्रान्ति ।
बालगगाधर तिलक बन कर अलौकिक काम ।
राजनीति-विधान की विगि-हीनता की हीन ।
गोखले गौरवित तन धर विरच सित मति श्याम ।
तिमिर पूरित भरत भू में ज्योति भर दी भूरि ।
मदन मोहन मूर्ति धर बनकर भुवन अभिराम ।
विविध वाधा मुक्ति-पथ की शमन की रह शान्त ।
मजु मोहन चद में रम कर विहित सग्राम ।
मातृ-महि हित-रत करे हर हृदय कुत्सित भाव ।
द्रवित उर 'हरिऔध' गुफित दिव्य जन गुण ग्राम ।

हरिऔध जी की तीनो प्रकार की शैलियो के एक एक उदाहरण देखिये:—

तत्सम शब्दो से बोझिल वर्णवृत्त —

माता है मृदु भाव की, मनुजता की है महा साधना ।
पाता है भव शान्ति की सरलता की सिद्धि-भूता सुधा ॥

आधार विभूति की, सुहृदता राका-निशा-चंद्रिका।
सद्भावामृत सिंचिता श्रुति-रता है भारती सभ्यता ॥

बोल-चाल की भाषा —

क्यों भरे रहते है इतने।
लाल - पीले क्यों होते हैं।
बाँधकर झड़ी आँसुओ की।
किस लिए बादल रोते है।
रग बिगडा जो औरो का।
घरों मे तो वे क्यों पैठे।
ताकते मिले राह किसकी।
पहाडों पर पहरों बैठे।

उपर्युक्त छद पूर्णत. सरल हिन्दी मे लिखे गये हैं और दो छदो मे ही अनेक मुहावरो का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार की भाषा के अनेक उदाहरण 'पारिजात' मे भरे पडे है। सस्कृत के तत्सम और हिन्दी के तद्भव शब्दो के योग से निर्मित शैली का एक उदाहरण देखिये —

खग-स्वरों में भर मजुल नाद।
सजाये अपना उज्वल गात।
अरुण अरुणाभा से हो लसित।
प्रति दिवस आये दिव्य प्रभात।

'पारिजात' मे मानव की मानसिक वृत्तियो का, उसकी भावनाओ का भी बडा सुन्दर चित्रण हुआ है। अन्तर्जगत के अतर्गत कवि ने मन, हृदय और इनसे प्रभावित होनेवाली इंद्रियो के कार्यों का बडा ही सूक्ष्म निरीक्षण किया है। कवि मानस की महत्ता के सबध मे कहता है —

जो कुसुमायुध कुसुम - सायकों से है विद्ध बनाता।
जिसका मोहन मत्र त्रिदेवों पर भी है चल पाता।
प्राणि पुज क्या, तृण तक में भी जो है रमा दिखाता।
अवनी तल में जनन सृष्टि का जो है जनक कहाता।
सुन्दरता है स्वय बलाएँ सब दिन जिसकी लेती।
छटा निछावर हो जिसकी छवि को है निज छवि देती।
नारि-पुरुप के प्रेम-सम्मिलन का जो है निर्माता।
वह ससार सूत्र सचालक मनसिज है कहलाता।

काव्य मे दृश्य जगत का बडा ही मनोहारी वर्णन है। प्रभात, संध्या, सरिता, गिरि, लताओ आदि के बडे ही मर्मस्पर्शी चित्र कवि ने अकित किये है। प्रभात का एक दृश्य देखिये —

प्रकृति-वधू ने असित वसन बदला सित पहना।
तन से दिया उतार तारकावलि का गहना।
उसका नव अनुराग नील नभतल पर छाया।
हुई रागमय दिशा निशा ने वदन छिपाया।
हुआ बाल-रवि उदय कनक निभ किरणें फूटी।
भरित तिमिर पर परम प्रभामय बन कर टूटी।
जगत जगमगा उठा, विभा वसुधा मे फैली।
खुली अलौकिक ज्योति पुज की मजुल थैली।

सरिता सागर से मिलने चली जा रही है। उसके मार्ग मे अनेक बखेडे पडते है, परन्तु वह उनकी परवाह नहा करती। वह तो अपने प्रियतम से मिलने जाने के लिए व्याकुल है। उसे मार्ग के शूल भी फूल प्रतीत होते है —

किसे खोजने निकल पड़ी हो।
जाती हो तुम कहाँ चली।

ढली रगतों में हो किसकी।
तुम्हें छल गया कौन छली।
क्यो दिन-रात अधीर बनी सी।
पड़ी धरा पर रहती हो।
दुस्सह आतप शीत वात सब-
दिनो किस लिए सहती हो।
कौन भीतरी पीडाएँ।
लहरें बन ऊपर आती है।
क्यो टकराती ही फिरती है।
क्यों कँपती दिखाती हैं।

* * *

होती है साँसतें पथ में।
जल बन जाता है खारा।
सरिते, इतना अधिक तुम्हें क्यों।
अक उदधि का क्यों प्यारा।
किन्तु देखता हूँ भव में है।
प्रेम-पथ ऐसा न्यारा।
जिसमें पवि प्रसून होता है।
विधि बनती है असि धारा।

कवि ने पृथ्वी की उत्पत्ति, खगोल, नीहारिकाओ आदि वैज्ञानिक विषयो का भी वैज्ञानिक रीति से विवेचन किया है। वसुधरा की उत्पत्ति का दृश्य देखिये —

प्रकृति-वधूटी केलि-निरत थी काल अक था कलित हुआ।
तिमिर कलेवर बदल रहा था, लोकालय था ललित हुआ।

ज्योतिर्मंडित पिंड अनेको नभ - मडल में फिरते थे।
सृजन वारि निधि मध्य बुद्बुदों के समूह-से तिरते थे।
लाख लाख कोसों मे फैले रग-विरंगे बहु गोले।
जाते थे छवि दिव्य तुला पर कल कौतुक-कर से तोले।
फिरते थे आलात - चक्र - से विस्फुलिंग छिटकाते थे।
कभी टूट कर हो सहस्रधा नाना लोक बनाते थे।
लीला-निलय सकल नभतल था नव-नव ज्योति निकेतन था।
नीहारिका अनन्त करो में दिव-पिंडो का केतन था।
काल अलौकिक कृति स्वरूपिणी भूतिमयी बहु बालाएँ।
डाल रही थी कला-कठ में उडु अवली की मालाएँ।
होती थी जिस काल यह क्रिया किसी कल्प में उसी समय।
प्रकृति-अक में दिखलाई दी वसुधा विपुल विभूति-निलय।
निधि के लघुतम एक लहर-सी नभ में उसकी सत्ता थी।
परम विशाल विश्व-वट तरु की वह अतीव लघु पत्ता थी।

नन्दन-वन का कल्पतरु पारिजात, जीवन की सब साधो को पूरा कराने वाला ही नही वरन् हृदय मे परमानन्द की उत्पत्ति करने वाला भी है। यह परमानन्द मनुष्य को त्रिविध तापो से मुक्त करा कर चिरशाति प्रदान करता है। हरिऔध जी का 'पारिजात' भी पाठको को आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विषयो का रसास्वादन कराते कराते परमानद की कोटि मे पहुँचा देता है। मनुष्य को परमानन्द की प्राप्ति तब हो सकती है जब वह सत्य के स्वरूप की अनुभूति प्राप्त कर ले। अत' हरिऔध जी ने सत्य के स्वरूप का दर्शन करा कर पाठक को परमानद का अनुभव कराया है —

भूमा में भव में विभूति तन में भू में मनोभाव मे ।
होते हैं जितने विकार मल या मालिन्य के सूत्र से ।
देती हैं उनको निवृत्त कर वे सद्भाव सद्बोध से ।
है सशोधन-शील दिव्य कृतियाँ सत्यात्मिका वृत्तियाँ ।

है रम्या गुरुतामयी सहृदया मान्या महत्ताङ्किता ।
नाना दिव्य विभूति-भाव भरिता कान्ता मनोज्ञा महा ।
सौम्या शान्ति-निकेतना सदयता की मूर्ति सभाविता ।
श्वेताभा सदना सिता सिततरा है सिद्धिदा सत्यता ।

महानन्द प्राप्ति के लिए किन साधनो की, किस चित्तवृत्ति की आवश्यकता होती है उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है कि भगवान की झलक जो प्रत्येक वस्तु मे देखता है वही परमानन्द का अनुभव करता है —

झाँकी है उसकी कहाँ न, झुक के औ' झाँक के देख लो ।
है होती रहती दिशा मुखरिता सत्कीर्ति आलाप से ।
है नाचा करती विभूति विभु की द्रष्टा-दृगों में सदा ।
है आनन्दनिमग्नभूत जन को आनन्द मग्ना मही ।

वह विद्या जो मनुष्य में सद् विवेक, ज्ञान, विज्ञान, सब जनो के उपकार की वृत्ति उत्पन्न करने मे सहायता दे वही परमानन्द प्रदान करने वाली होती है —

जो है मूर्ति विवेक की, प्रगति है जो ज्ञान-विज्ञान की ।
जो है सर्व जनोपकार-निरता प्रज्ञामयी मुक्तिदा ।
जो है प्रेम परायणा मनुजता सर्वस्व, सत्यप्रिया ।
है विद्या वह महानद-जननी शुद्धा परासङ्गका ।

शोभा धारण करने से लाभ। इन फूलों को देखो कैसे खिल रहे हैं, आहा! ये तो फूले नहीं समाते। चाँदनी मुसकुराती है, ये खिलते हैं, वह लोट पोट होती है, ये निछावर हुए जाते हैं, वह निखरती है, ये चटकीले बनते हैं, वह लिपटी जाती है, ये उमगते जाते हैं, यह सब इसी निर्जन स्थान में हो रहा है, इसी आधी रात के समय हो रहा है। क्यों? किस लाभ के लिए, क्या तुम बतला सकते हो? देखो वह निर्झर छीटे उडाता हुआ कैसी छटा दिखला रहा है, कैसा ऊधम मचा रहा है, कैसा कल कल कर रहा है × × × × ।'

वज्रनाभ के वज्रनगर का वन्दी-गृह काल के समान विकराल था। वदी-गृह का भयानक रूप देखिये —

एक तमोमयी रजनी में एक विशाल कारागार के फाटक पर तीन परम सुन्दरी युवनी स्त्रियाँ खडी हैं। फाटक के ऊपर का उज्ज्वल आलोक प्रभा विकीर्ण कर रहा है, और उन परम सुन्दरी युवतियो के सुकुमोल आनन पर निपतित हो रहा है। एक प्रहरी हाथ में नगी तलवार लिए फाटक पर घूम रहा है, परतु कुछ सशकित सा है। सब ओर सन्नाटा है, कहीं कोई शब्द नही सुना जाता, केवल रह रहकर प्रहरी की पग-चालना ध्वनि पास के सन्नाटे को तोड देती है। प्रहरी भय विह्वल दृष्टि से कोमल मुखारविद की ओर भी देखता कभी आँख नीची करके मद मद पग सचालन करने लगता। × × × कारागार के विशाल आँगन के चारो ओर ऊँचे ऊँचे पहाड़ थे, जो रजनी के घोर अधकार में विशालकाय राक्षस समान प्रतीत होते थे। आँगन के चारो ओर सहस्रों छोटी बडी कोठरियाँ थी। इनमें बडा

सन्नाटा था । इतना सन्नाटा था कि यह ज्ञात ही न होता था कि उसमे कोई है या नही ।'

यत हरिऔध जी के इस उपन्यास का रूप-रेखा पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुई है अत. उसके कथानक आदि के सबध मे कुछ अधिक नही कहा जा सकता ।

हरिऔध जी के आलोच्य ग्रथो के अतिरिक्त कुछ और भी उनके ग्रथ हैं जो समय समय पर प्रकाशित होने वाली कविताओ के सग्रह मात्र है । उन काव्य-सग्रहो की न तो आलोचना की गयी है और न उनके सबध में विचार करने की विशेष आवश्यकता है । ये काव्य मुक्तक रचनाओं के सग्रह मात्र हैं । हरिऔध जी के निम्नलिखित कविता-सग्रह विशेष रूप से उल्लेख योग्य है:—पद्य प्रसून, पद्य प्रमोद, फूल पत्ते, कल्पलता, हरिऔध सतसई और दिव्य दोहावली आदि ।



परिशिष्ट

(लोकमत)

***** **

हरिऔध-साहित्य की लोक-प्रियता

हरिऔध जी की काव्य-कीर्ति-चन्द्रिका हिन्दी साहित्य के मनीषियो को तो प्रसन्न करनेवाली थी ही, उसने अन्य भाषा के लोगो को भी अपनी ओर आकर्षित किया। इस स्थान पर हम हरिऔध जी के साहित्य के प्रति लोकमत की चर्चा करेंगे।

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी हरिऔध जी की हिन्दी-सेवा से बड़े ही प्रभावित थे। उन्होंने लिखा है—'हरिऔध जी ने हिन्दी साहित्य की जो महती सेवा की है वह सब पर विदित है। उनके साहित्य ने नागरी के भण्डार को अमूल्य रत्नों से युक्त किया है।'

राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी महोदय हरिऔध जी पर अपार श्रद्धा रखते हैं। उनके साहित्य को भी वे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं —

'श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' हिन्दी साहित्य ससार के उन उज्ज्वल रत्नो मे हैं, जिनके कारण आज हिन्दी

साहित्य गौरवान्वित है। आपने अपने जीवन की अमूल्य घड़ियाँ हिन्दी-साहित्य की सेवा मे बितायी है और उसी की पूजा में निरत रहे है। हिन्दी और हिन्दी-भाषा-भाषी आपकी सेवाओ के लिए आपके सदा कृतज्ञ रहेगे।

'हिन्दी साहित्य से कुछ भी सबध रखने वाला ऐसा कौन आदमी होगा जो श्री हरिऔध जी की कृतियो से कुछ भी परिचित न हो। आपने हिन्दी साहित्य की जो अमूल्य सेवा की है वह किसी से छिपी नही है।'

हरिऔध जी की कवित्व शक्ति और उनके कवि जीवन के सबध मे महामहोपाध्याय डाक्टर सर गङ्गानाथ झा महोदय लिखते हैं—

श्रीमानयोध्यासिंहोऽसौ काव्यमर्मज्ञकोविदाम्।
मनासि रञ्जयन्नास्ते देशभाषाविभूषणम्॥
आस्तां चिरान्महाभाग शिक्षयन् कविताकलां।
अन्तेवासिमहासङ्घ विश्वविद्यालये शुभे॥

* *

' 'काव्य'—'रसात्मक वाक्य' है, या 'अदोष शब्दार्थ' है, या 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' है इसमें सदेह है,—पर 'कवि' श्री 'हरिऔध' जी है इसमे सन्देह नही।'

हिन्दी साहित्य के महारथी आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी श्री हरिऔध जी को स्नेह की दृष्टि से देखते थे। उनकी साहित्यिक सेवाओ के प्रति उनके हृदय मे भी बडी श्रद्धा थी —

अयोध्यासिंहशर्माणमुपाध्यायकुलोद्भवम्।
साहित्यज्ञं कविश्रेष्टं प्रणमामि पुन पुन।

हरिऔध जी की काव्य-कला का, उनकी प्रतिभा का, आचार्य रामचद्र जी शुक्ल भी बडा आदर करते थे। वे लिखते हैं.—

'आज कल हिन्दी के जिन लब्धप्रतिष्ठ पुराने कवियो को हम काव्य के आधुनिक मार्ग पर पाते है उनमें से कई एक पुरानी परिपाटी पर अत्यन्त रसमयी रचना कर चुके है। ऐसे कवियो मे आधुनिक काव्य-क्षेत्र के महारथी हरिऔध जी प्रमुख हैं। लोग खडी बोली के कई रूपो की झलक दिखानेवाले उनके उन प्रौढ़ सरस मधुसिक्त काव्यो से तो परिचित थे ही, जिन्होने खडी बोली काव्य के गौरवपूर्ण भविष्य को स्थिर किया है, रसकलस' के द्वारा उनकी ब्रज भाषा की माधुरी भी लोगो को सुलभ हो गयी।

हरिऔध जी शब्दो के कितने बडे धनी है, यह उनके 'प्रियप्रवास' आदि काव्यो का अनुशीलन करने वाले जानते ही हैं। खडी बोली में जब उनकी कोमल कान्त पदावली इतनी मिठास घोल देती है, तब स्वभावत कोमल और मधुर ब्रज भाषा के बीच उसकी छटा का क्या कहना! 'रसकलस' मे हरिऔध जी ने काव्य की प्रतिष्ठित परम्परा को चरम उत्कर्ष पर पहुँचा कर छोड दिया है।'

प्राकृत भाषा के आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य महोदय हरिऔध जी के 'ठेठ हिन्दी का ठाट' नामक पुस्तक की भाषा देखकर मोहित हो गये थे। बँगला में वे स्वय इस प्रकार की पुस्तक लिखना चाहते थे परन्तु उनका विचार कार्य रूप में परिणत न हो सका.—

'पडित अयोध्यासिह उपाध्याय ने हिन्दी साहित्य के नाना अगो की रचना एव पुष्टि की है। मैं उन सभी रचनाओं से परिचित नही, पर उनकी एक पुस्तक—'ठेठ हिन्दी का ठाट' मैंने

अच्छी तरह पढी है । यह एक पुस्तक ही हिन्दी भाषा पर उनके अद्भुत अधिकार का ज्वलन्त प्रमाण है । इतनी सरलता के साथ, इतने सुकुमार भावो का प्रकाशन मैंने अन्यत्र नही देखा । इस पुस्तक को पढकर मैने बॅगला में एक वसी प्रकार की पुस्तक लिखना चाहा था। वह विचार कार्य रूप में उपस्थित नहीं किया जा सका । पर उक्त पुस्तक पढने के बाद मेरा यह दृढ़ विश्वास हो गया कि हिन्दी भाषा बॅगला की अपेक्षा भाव प्रकाश करने में कही अधिक समर्थ है । 'ठेठ हिन्दी का ठाट' हिन्दी भाषा की समृद्धि का जबरदस्त प्रमाण है ।

भाषा विज्ञान एव भारत के अद्वितीय विद्वान श्रीमान् सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के हृदय पर भी हरिओध जी के 'ठेठ हिन्दी का ठाट' ने अमिट छाप छोडी है । वे उसे आधुनिक आर्य भाषा का एक अभूतपूर्व ग्रथ मानते हैं —

'उपाध्याय जी पहले तो राष्ट्र भाषा हिन्दी के एक अद्वितीय लेखक है, दूसरे आपने ठेठ हिन्दी की शक्ति को जिस कदर प्रभावित किया है, वह आधुनिक आर्य भाषाओ के इतिहास में अपूर्व है । हिन्दी अपने प्राकृत रूप में कितनी प्रकाश शक्ति और सौंदर्य रखती है, वह आपकी पुस्तको से हिन्दी प्रेमी जनता को मालूम पडा । आप ऐसे धुरधर पडित जो श्री काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में हिन्दी भाषा और साहित्य के पद पर नियुक्त हैं, यह हिन्दी के लिए बहुत ही हर्ष की बात है । मैंने उपाध्याय जी की पुस्तको से बहुत लाभ उठाया है, इस लिए विशेष रूप से मैं उनका कृतज्ञ हूँ ।'

डाक्टर अमरनाथ झा महोदय हरिऔध जी की साहित्यिक सेवाओ के सबध में लिखते हैं –

'पडित अयोध्यासिह जी उपाध्याय आज कल के हिन्दी कवियों में विशेष आदरणीय हैं। आपने साहित्य की जो सेवा की है, कविता से जो शिक्षा और आह्लाद प्रदान किया है, अध्यापन से विद्यार्थिया का जो उपकार किया है, इससे हिन्दी भाषा-भाषी आपके सदैव ऋणी रहेंगे। आपकी सरलता और सरसता मुग्ध कर देती है। खडी बोली और ब्रज भाषा दोनो ही के आप आचार्य हैं। आपकी कविता में माधुर्य है, भाव गाभीर्य है और है कल्पना की विलक्षणता। आपके पद्यो से बच्चो का जी बहलता है, तो युवक उपदेश ग्रहण करते हैं। आपके ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में चिरस्मरणीय रहेंगे। हम तो इनको नित्य मनोरम पाते हैं।'

राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टडन की निम्नलिखित पक्तियॉ हरिऔध जी के स्वभाव और चरित्र पर प्रकाश डालती हैं —

'कविवर पडित अयोध्यासिह जी उपाध्याय के सबध में कुछ लिखते मुझे सकोच होता है, क्योकि उनके ऊपर मेरी अपार श्रद्धा है। वह हिन्दी भाषा के रत्न हैं, और उन लेखको में हैं जिन्होने हिन्दी के हम समस्त सेवको का सिर ऊँचा किया है। भाषा पर उनकी शक्ति का तो मुझे पहिले ही परिचय मिल चुका था। किन्तु उनका 'प्रियप्रवास' जब छपा और मैंने पहले उसे पढ़ा तो उस समय मेरे हृदय पर उसका अद्भुत प्रभाव पडा। मुझे स्मरण है कि उसको पढकर अपने कुछ मित्रो से मैंने कहा था कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद मेरी जानकारी मे हिन्दी भाषा में यह सबसे ऊँची कृति हुई है।

पडित जी अब वयोवृद्ध हैं, फिर भी हिन्दी के हित का जहॉ काम हो और उनकी मॉग हो, वहॉ पहुँचने को सहर्ष तैयार रहते

हैं और हिन्दी सेवको को उत्साहित करते रहते हैं। उनको देख कर मेरा हृदय श्रद्धा से उमड आता है। और हृदय यही कहता है कि हमारी हिन्दी के यह कर्णधार जितने ही अधिक दिन ससार में रहेंगे, हिन्दी भाषियो का उतना ही सोभाग्य होगा।'

पडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' जी हरिऔध जी का सस्तवन करते हुए कहते है —

'खडी बोली के उस काल के कवियो में पडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की काव्य-साधना विशेष महत्व की ठहरती है। सहृदयता और कवित्व के विचार से भी ये अग्रगण्य है। इनके समस्त पद औरो की तुलना में अधिक मधुर है, जो इनकी कवित्व शक्ति के ही परिचायक हो जाते है। उनकी यह एक सबसे बडी विशेषता है कि ये हिन्दी के सार्वभौम कवि है और खडी बोली, उर्दू के मुहावरे, व्रज भाषा कठिन, सरल, सब प्रकार की रचना कर सकते है। उनके समय स्थिति और जीवन पर विचार करने पर उनमे कवित्व का कहा पता भी नहीं मिलता। पर ये निस्सन्देह महाकवि है।'

—❀—

शुद्धि पत्र

पृष्ठ सख्या	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	४	एक पुत्री थी	दो पुत्री थी
९	५	आनदी देवी	आनदी और मुकुदी देवी
१६	१३	सारस्वत और चद्रिका	सारस्वत चद्रिका
८५	७	क्विन्स	क्वीन्स
१११	२३	गिर गया	गिर गयी
१२५	१	कुन्द	मुकुन्द
१४२	१८	विष्णु	विष्णु के
१४५	२२	गोपियो की	गोपियो के
१६६	१५	चुमती	चूमती
१६८	१०	पुग	युग
२०४	२५	रविन्द्र	रवीन्द्र
२४४	२	राजनितिक	राजनीतिक
२६५	४	द्वार	द्वारा
२७१	८	समाज-उत्पादक	समाज-उत्सादक
२७९	३	भीत्ति	भित्ति
२८०	१०	सर्ग के	सर्ग मे
२९२	४	उनके कीर्ति	उनकी कीर्ति
२९३	१५	भाषा के	भाषा को
३०९	११	स्वजाती	स्वजाति
३११	६	बध्व	बध्य

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१२	१७	प्रआस	प्रवास
३१३	७	इनका	उनका
३१६	२	साह्यिष्णुता	सहिष्णुता
३१७	११	तिमर	तिमिर
३३३	२०	जल्दीबाजी	जल्दबाजी
३४९	२३	ऊद्धव	उद्धव
३५०	५	लता-बेली	लता बेलि
४६८	२३	[illegible]	झलक
४७१	२२	प्रियतम	प्रियतमा
४७३	१६	मनके	मन में
४७४	७	कथा	व्यथा
४८४	६	उद्दरण	उद्धरण
४९७	६	डालयाँ	डालियाँ
५०२	५	छदो	छदो का
५०३	१	हरिऔध जी	हरिऔध जी ने
५३६	२२	त्रयोदश	द्वादश